विवेकानन्द साहित्य

जन्मशती संस्करण

दशम खंड

केन्द्रीय सरकार तथा उत्तर प्रदेश, बिहार एवं मध्य प्रदेश सरकारों की उदारतापूर्ण सहायता से यह कष्टसाध्य एवं महँगा प्रयास सफल हो पाया; इन सरकारों ने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए विभिन्न परिमाणों में आर्थिक सहायता दी; अतः इसके लिए हम सभी सरकारों के प्रति आभारी हैं।

—प्रकाशक

अद्वैत आश्रम
५ डिही एण्टाली रोड
कलकत्ता १४

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ

व्याख्यान, प्रवचन एवं कक्षालाप-९

(विविध विषय)

स्वामी विवेकानन्द

मेरा जीवन तथा ध्येय

(२७ जनवरी, १९०० ई० को पॅसाडेना के शेक्सपियर क्लब में दिया हुआ भाषण)

देवियो और सज्जनो ! आज प्रातःकाल का विषय वेदान्त दर्शन था, किन्तु रोचक होते हुए भी यह विषय बहुत विशाल और कुछ रूखा सा है।

अभी अभी तुम्हारे अध्यक्ष महोदय एवं अन्य देवियों और सज्जनों ने मुझसे अनुरोध किया है कि मैं अपने कार्य के बारे में उनसे कुछ निवेदन करूँ। यह तुम लोगों में से कुछ को भले ही रुचिकर जान पड़े, किन्तु मेरे लिए वैसा नहीं है। सच पूछो तो मैं स्वयं समझ नहीं पाता कि उसका वर्णन किस प्रकार करूँ, क्योंकि अपने जीवन में इस विषय पर बोलने का यह मेरा पहला ही अवसर है।

अपने स्वल्प ढंग से, जो कुछ भी मैं करता रहा हूँ, उसको समझाने के लिए मैं तुमको कल्पना द्वारा भारत ले चलूँगा। विषय के सभी ब्योरों और सूक्ष्म विवरणों में जाने का समय नहीं है, और न एक विदेशी जाति की सभी जटिलताओं को इस अल्प समय में समझ पाना तुम्हारे लिए सम्भव है। इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि मैं कम से कम भारत की एक लघु रूपरेखा तुम्हारे सम्मुख प्रस्तुत करने का प्रयास करूँगा।

भारत खँडहरों में ढेर हुई पड़ी एक विशाल इमारत के सदृश है। पहले देखने पर आशा की कोई किरण नहीं मिलती। वह एक विगत और भग्नावशिष्ट राष्ट्र है। पर थोड़ा और रुको, रुककर देखो, जान पड़ेगा कि इनके परे कुछ और भी है। सत्य यह है कि वह तत्त्व, वह आदर्श, मनुष्य जिसकी बाह्य व्यंजना मात्र है, जब तक कुण्ठित अथवा नष्ट-भ्रष्ट नहीं हो जाता, तब तक मनुष्य भी निर्जीव नहीं होता, तब तक उसके लिए आशा भी अस्त नहीं होती। यदि तुम्हारे कोट को कोई बीसों बार चुरा ले, तो क्या उससे तुम्हारा अस्तित्व भी शेष हो जायगा ? तुम नवीन कोट बनवा लोगे—कोट तुम्हारा अनिवार्य अंग नहीं। सारांश यह कि यदि किसी धनी व्यक्ति की चोरी हो जाय, तो उसकी जीवनी शक्ति का अंत नहीं हो जाता, उसे मृत्यु नहीं कहा जा सकता। मनुष्य तो जीता ही रहेगा।

इस सिद्धान्त के आधार पर खड़े होकर आओ, हम अवलोकन करें और देखें—अब भारत राजनीतिक शक्ति नहीं, आज वह दासता में बँधी हुई एक जाति है।

अपने ही प्रशासन में भारतीयों की कोई आवाज़ नहीं, उनका कोई स्थान नहीं—वे हैं केवल तीस करोड़ ग़ुलाम—और कुछ नहीं! भारतवासी की औसत आय डेढ़ रुपया प्रतिमास है। अधिकांश जन-समुदाय की जीवन-चर्या उपवासों की कहानी है, और ज़रा सी आय कम होने पर लाखों काल-कवलित हो जाते हैं। छोटे से अकाल का अर्थ है मृत्यु। इसलिए, जब मेरी दृष्टि उस ओर जाती है, तो मुझे दिखायी पड़ता है नाश, असाध्य नाश।

पर हमें यह भी विदित है कि हिन्दू जाति ने कभी धन को श्रेय नहीं माना। धन उन्हें खूब प्राप्त हुआ,—दूसरे राष्ट्रों से कहीं अधिक धन उन्हें मिला, पर हिन्दू जाति ने धन को कभी श्रेय नहीं माना। युगों तक भारत शक्तिशाली बना रहा, पर तो भी शक्ति उसका श्रेय नहीं बनी, कभी उसने अपनी शक्ति का उपयोग अपने देश के बाहर किसी पर विजय प्राप्त करने में नहीं किया। वह अपनी सीमाओं से सन्तुष्ट रहा, इसलिए कभी भी उसने किसीसे युद्ध नहीं किया, उसने कभी भी साम्राज्यवादी गौरव को महत्त्व नहीं दिया। धन और शक्ति इस जाति के आदर्श कभी न बन सके।

तो फिर? उसका मार्ग उचित था अथवा अनुचित—यह प्रश्न प्रस्तुत नहीं है, वरन् बात यह है कि यही एक ऐसा राष्ट्र है, मानव-वंशों में एक ऐसी जाति है, जिसने श्रद्धापूर्वक सदैव यही विश्वास किया कि यह जीवन वास्तविक नहीं। सत्य तो ईश्वर है, और इसलिए दुःख और सुख में उसीको पकड़े रहें। अपने अधःपतन के बीच भी उसने धर्म को प्रथम स्थान दिया है। हिन्दू का खाना धार्मिक, उसका पीना धार्मिक, उसकी नींद धार्मिक, उसकी चाल-ढाल धार्मिक, उसके विवाहादि धार्मिक, यहाँ तक कि उसकी चोरी करने की प्रेरणा भी धार्मिक होती है।

क्या तुमने अन्यत्र भी ऐसा देश देखा है? यदि वहाँ एक डाकुओं के गिरोह की ज़रूरत होगी, तो उसका नेता एक धार्मिक तत्त्व गढ़कर उसका प्रचार करेगा, उसकी कुछ खोखली सी आध्यात्मिक पृष्ठभूमि रचेगा और फिर उद्घोष करेगा कि परमात्मा तक पहुँचने का यही सबसे सुस्पष्ट और शीघ्रगामी मार्ग है। तभी लोग उसके अनुचर बनेंगे—अन्यथा नहीं। इसका एक ही कारण है और वह यह है कि इस जाति की सजीवता, इस देश का ध्येय धर्म है, और क्योंकि धर्म पर अभी आघात नहीं हुआ, अतः यह जाति जीवित है।

रोम की ओर देखो। रोम का ध्येय था साम्राज्य-लिप्सा—शक्ति-विस्तार। और ज्यों ही उस पर आघात हुआ नहीं कि रोम छिन्न-भिन्न हो गया, विलीन हो गया। यूनान की प्रेरणा थी बुद्धि। ज्यों ही उस पर आघात हुआ नहीं कि यूनान की इतिश्री हो गयी। और वर्तमान युग में स्पेन इत्यादि वर्तमान देशों का भी यही

हाल हुआ है। हर एक राष्ट्र का विश्व के लिए एक ध्येय होता है, और जब तक वह ध्येय आक्रान्त नहीं होता, तब तक वह राष्ट्र जीवित रहता है—चाहे जो संकट क्यों न आये। पर ज्यों ही वह ध्येय नष्ट हुआ कि राष्ट्र भी ढह जाता है।

भारत की वह सजीवता अभी भी आक्रान्त नहीं हुई है। उन्होंने उसका त्याग नहीं किया है, वह आज भी बलशाली है—अंधविश्वासों के बावजूद भी। वहाँ भयानक अंधविश्वास हैं, उनमें से कुछ अत्यन्त जघन्य एवं घृणास्पद—चिन्ता न करो उनकी। पर राष्ट्रीय जीवन-धारा—जाति का ध्येय अभी भी जीवित है।

भारतीय राष्ट्र कभी बलशाली, दूसरों को पराजित करनेवाला राष्ट्र नहीं बनेगा—कभी नहीं। वह कभी भी राजनीतिक शक्ति नहीं बन सकेगा; ऐसी शक्ति बनना उसका व्यवसाय ही नहीं—राष्ट्रों की संगीत-संगति में भारत इस प्रकार का स्वर कभी दे ही नहीं सकेगा। पर आखिर भारत का स्वर होगा क्या? वह स्वर होगा ईश्वर, केवल ईश्वर का। भारत उससे कठोर मृत्यु की तरह चिपटा हुआ है। इसीलिए वहाँ अभी आशा है।

अतः इस विश्लेषण के उपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि ये तमाम विभीषिकाएँ, ये सारे दैन्य-दारिद्रय और दुःख विशेष महत्त्व के नहीं—भारत-पुरुष अभी भी जीवित है, और इसलिए आशा है।

वहाँ सारे देश में तुमको धार्मिक क्रियाशीलता का बाहुल्य दिखायी पड़ेगा। मुझे ऐसा एक भी वर्ष स्मरण नहीं, जब कि भारत में अनेक नवीन संप्रदाय उत्पन्न न हुए हों। जितनी ही उद्दाम धारा होगी, उतने ही उसमें भँवर और चक्र उत्पन्न होंगे—यह स्वाभाविक है। इन सम्प्रदायों को क्षय का सूचक नहीं समझा जा सकता, वे जीवन के चिह्न हैं। होने दो इन संप्रदायों की संख्या में वृद्धि—इतनी वृद्धि कि हममें से प्रत्येक व्यक्ति ही एक सम्प्रदाय हो जाय, हर एक व्यक्ति। इस विषय को लेकर कलह करने की आवश्यकता ही क्या है?

अब तुम अपने देश को ही लो। (किसी आलोचना की दृष्टि से नहीं)। यहाँ के सामाजिक क़ानून, यहाँ की राजनीतिक संस्थाएँ, यहाँ की हर एक चीज़ का निर्माण इसी दृष्टि से हुआ है कि मानव की लौकिक यात्रा सरलतापूर्वक सम्पन्न हो जाय। जब तक वह जीवित है, तब तक खूब सुखपूर्वक जीवन-यापन करे। अपने राजमार्गों की ओर देखो, कितने स्वच्छ हैं वे सब! तुम्हारे सौन्दर्यशाली नगर! और इसके अतिरिक्त वे तमाम साधन, जिनसे धन को निरन्तर द्विगुणित किया जाता है। जीवन के सुखोपभोग करने के कितने ही रास्ते! पर यदि तुम्हारे देश में कोई व्यक्ति इस वृक्ष के नीचे बैठ जाय और कहने लगे कि मैं तो यहीं पर आसन मारकर ध्यान लगाऊँगा, काम नहीं करूँगा, तो उसे कारागृह जाना होगा। देखा

तुमने? उसके लिए जीवन में कोई अवसर नहीं। मनुष्य तभी इस समाज में रह सकता है, जब कि वह समाज की पाँत में एकरस होकर काम किया करे। प्रस्तुत जीवन में आनंदोपभोग की इस घुड़दौड़ में हर एक आदमी को शामिल होना पड़ता है, अन्यथा वह मर जाता है।

अब हम ज़रा भारत की ओर चलें। वहाँ यदि कोई व्यक्ति कहे कि मैं उस पर्वत की चोटी पर जाकर बैठूँगा और अपने शेष जीवन भर अपनी नाक की नोक को देखते रहना चाहता हूँ, तो हर आदमी यही कहता है, 'जाओ, शुभमस्तु!' उसे कुछ कहने की जरूरत नहीं। किसीने उसे कपड़ा ला दिया और वह संतुष्ट हो गया। पर यदि कोई व्यक्ति आकर कहे कि 'देखो, मैं इस जिन्दगी के कुछ ऐशो-आराम लूटना चाहता हूँ', तो शायद उसके लिए सब द्वार बन्द ही मिलेंगे।

मेरा कहना है कि दोनों देशों की धारणाएँ भ्रमात्मक हैं। मुझे कोई कारण नहीं दिखता कि कोई व्यक्ति यहाँ आसन लगाकर त्राटक बाँधे तब तक क्यों न बैठा रहे, जब तक कि उसकी इच्छा हो। क्यों वह भी वही करता रहे, जो अधिकांश जन-समुदाय किया करता है? मुझे तो कोई उचित कारण नहीं दिखायी देता।

उसी प्रकार मैं यह समझ नहीं पाता कि भारत में क्यों मानव इस जीवन की सामग्रियाँ न पाये, धनोपार्जन न करे? लेकिन, तुम जानते हो, वहाँ से करोड़ों को इसके विरुद्ध दृष्टिकोण को स्वीकार करने के लिए आतंकित कर विवश किया जाता है। वहाँ के ऋषियों की यह निरंकुशता है! यह निरंकुशता है महात्माओं की, यह निरंकुशता है अध्यात्मवादियों की, यह निरंकुशता है बुद्धिवादियों की, यह निरंकुशता है ज्ञानियों की। और ज्ञानियों की निरंकुशता, याद रखो, अज्ञानियों की निरंकुशता से कहीं अधिक प्रबल होती है। जब पंडित और ज्ञानवान अपने मतों को औरों पर लादना प्रारम्भ कर देते हैं, तो वे बाधाओं और बन्धनों को रचने के ऐसे लाखों उपाय सोच लेते हैं, जिनको तोड़ने की शक्ति अज्ञानियों में नहीं होती।

मैं अब यह कहना चाहता हूँ कि इसे एकदम रोक दिया जाय। लाखों-करोड़ों का होम करके एक बड़ा आध्यात्मिक दिग्गज पैदा किया जाने का कोई अर्थ नहीं है। यदि हम ऐसा समाज निर्माण करें, जिसमें एक ऐसा आध्यात्मिक दिग्गज भी हो और सारे अन्य लोग भी सुखी हों, तो वह ठीक है। पर अगर करोड़ों को पीसकर एक ऐसा दिग्गज बनाया गया, तो यह अन्याय है। अधिक उचित तो यह होगा कि सारे संसार के परित्राण के लिए एक व्यक्ति कष्ट झेले।

किसी राष्ट्र में यदि तुमको कुछ कार्य करना है, तो उसी राष्ट्र की विधियों को अपनाना होगा। हर आदमी को उसीकी भाषा में बतलाना होगा। अगर तुमको अमेरिका या इंग्लैण्ड में धर्म का उपदेश देना है, तो तुमको राजनीतिक विधियों के

माध्यम से काम करना होगा—संस्थाएँ बनानी होंगी, समितियाँ गढ़नी होंगी, वोट देने की व्यवस्था करनी होगी, बैलेट के डिब्बे बनाने होंगे, सभापति चुनना होगा—इत्यादि—क्योंकि पाश्चात्य जातियों की यही विधि और यही भाषा है। पर यहाँ भारत में यदि तुमको राजनीति की ही बात कहनी है, तो धर्म की भाषा को माध्यम बनाना होगा। तुमको इस प्रकार कुछ कहना होगा—'जो आदमी प्रतिदिन सवेरे अपना घर साफ़ करता है, उसे इतना पुण्य प्राप्त होता है, उसे मरने पर स्वर्ग मिलता है, वह भगवान् में लीन हो जाता है।' जब तक तुम इस प्रकार उनसे न कहो, वे तुम्हारी बात समझेंगे ही नहीं। यह प्रश्न केवल भाषा का है। बात जो की जाती है, वह तो एक ही है। हर जाति के साथ यही बात है। परन्तु प्रत्येक जाति के हृदय को स्पर्श करने के लिए तुमको उसीकी भाषा में बोलना पड़ेगा। और यह ठीक भी है। हमें इसमें बुरा न मानना चाहिए।

जिस संप्रदाय का मैं हूँ, उसे संन्यासी की संज्ञा दी जाती है। इस शब्द का अर्थ है—'विरक्त'—जिसने संसार छोड़ दिया हो, यह संप्रदाय बहुत बहुत प्राचीन है। गौतम बुद्ध जो ईसा के ५६० वर्ष पूर्व आविर्भूत हुए, वे भी इसी संप्रदाय में थे। वे इसके सुधारक मात्र थे। इतना प्राचीन है वह! संसार के प्राचीनतम ग्रंथ वेद में भी इसका उल्लेख है। प्राचीन भारत का यह नियम था कि प्रत्येक पुरुष और स्त्री अपने जीवन की संध्या के निकट सामाजिक जीवन को त्यागकर केवल अपने मोक्ष और परमात्मा के चिन्तन में संलग्न रहे। यह सब उस महान् घटना का स्वागत करने की तैयारी है, जिसे मृत्यु कहते हैं। इसलिए उस प्राचीन युग में वृद्धजन संन्यासी हो जाया करते थे। बाद में युवकों ने भी संसार त्यागना आरम्भ किया। युवकों में शक्ति-बाहुल्य रहता है, इसलिए वे एक वृक्ष के नीचे बैठकर सदा-सर्वदा अपनी मृत्यु के चिंतन में ही ध्यान लगाये न रह सके, वे यहाँ-वहाँ जाकर उपदेश देने और नये नये सम्प्रदायों का निर्माण करने लगे। इसी प्रकार युवा बुद्ध ने वह महान् सुधार आरम्भ किया। यदि वे जरा-जर्जरित होते, तो वे उस नासाग्र पर दृष्टि रखते और शांतिपूर्वक मर जाते।

यह सम्प्रदाय कोई धर्म संघ—चर्च—नहीं है और न इसके अनुयायी पुरोहित होते हैं। पुरोहितों और संन्यासियों में मौलिक भेद है। भारत के अन्य व्यवसायों की भाँति पुरोहिती भी सामाजिक जीवन का एक पैतृक व्यवसाय है। पुरोहित का पुत्र उसी प्रकार पुरोहित बन जाता है, जिस प्रकार बढ़ई का पुत्र बढ़ई अथवा लोहार का बेटा लोहार। पुरोहित को विवाह-सूत्र में भी बँधना पड़ता है। हिन्दू का मत है कि पत्नी के बिना पुरुष अधूरा है। अविवाहित पुरुष को धार्मिक कृत्य करने का अधिकार नहीं।

संन्यासियों के पास सम्पत्ति नहीं होती, वे विवाह नहीं करते। उनके ऊपर कोई समाज-व्यवस्था नहीं। एकमात्र बन्धन जो उन पर व्यापता है, वह है गुरु और शिष्य का आपसी सम्बन्ध---और कुछ नहीं। और यह भारत की अपनी निजी विशेषता है। गुरु कोई ऐसा व्यक्ति नहीं, जो बस कहीं से आकर मुझे शिक्षा दे देता है और उसके बदले में मैं उसे कुछ धन देता हूँ और बात खत्म हो जाती है। भारत में यह गुरु-शिष्य-सम्बन्ध वैसी ही प्रथा है, जैसे पुत्र का गोद लेना। गुरु पिता से भी बढ़कर है और मैं सचमुच गुरु का पुत्र हूँ—हर तरह से उनका पुत्र। पिता से भी बढ़कर मैं उनकी आज्ञा का अनुचर हूँ, उनसे बढ़कर वे मेरे सम्मान्य हैं—और वह इसलिए कि जहाँ मेरे पिता ने मुझे केवल यह शरीर मात्र दिया, मेरे गुरु ने मुझे मेरी मुक्ति का मार्ग प्रदर्शित किया और इसलिए वे पिता से बढ़कर हैं। मेरा अपने गुरु के प्रति यह सम्मान जीवन-व्यापी होता है, मेरा प्रेम चिरजीवी होता है। बस एकमात्र यही सम्बन्ध है, जो बच रहता है। मैं इसी प्रकार अपने शिष्यों को ग्रहण करता हूँ। कभी कभी तो गुरु एकदम नवयुवक होता है और शिष्य कहीं अधिक बूढ़ा। पर चिन्ता नहीं, बूढ़ा पुत्र बनता है और मुझे 'पिता' शब्द से सम्बोधन करता है और मुझे भी उसे पुत्र अथवा पुत्री कहकर पुकारना पड़ता है।

एक समय की बात है कि मुझे एक वृद्ध शिक्षक मिले---वे बिल्कुल विचित्र थे। उन महाशय को बौद्धिक पाण्डित्य में कुछ चाव न था, क्वचित् ही वे पुस्तकें देखते या उनका मनन करते। पर जब वे कम उम्र के ही थे, तभी से उनके मन में सत्य का सीधा साक्षात्कार कर लेने की बड़ी उग्र आकांक्षा समा गयी। पहले-पहल उन्होंने अपने ही धर्म पर प्रयोग किया। फिर उनके मन में आया कि नहीं, और भी धर्मों के सत्य को पाया जाय। इस उद्देश्य से एक के बाद एक धर्मों का वे अनुष्ठान करते चले। उस समय तक तो जो कुछ उनसे कहा जाता, वे ध्यानपूर्वक करते और तब तक उस सम्प्रदायविशेष में रहते, जब तक कि उस सम्प्रदाय के विशिष्ट आदर्श का साक्षात्कार न कर लेते। फिर कुछ वर्षों के बाद दूसरे सम्प्रदाय की साधना में लग जाते। जब वे सारे सम्प्रदायों का अनुभव कर चुके, तब वे इस निष्कर्ष तक पहुँचे कि ये समस्त ठीक हैं। किसीमें भी वे दोष न देख सके, हर सम्प्रदाय एक ऐसा मार्ग है, जिससे लोग एक निश्चित केन्द्र पर ही पहुँचते हैं। और तब उन्होंने घोषणा की, 'यह कितने गौरव की बात है कि यहाँ इतने अधिक मार्ग हैं, क्योंकि यदि केवल एक ही मार्ग होता, तो शायद वह केवल एक ही व्यक्ति के अनुकूल होता। इतने अधिक मार्ग होने से हर एक व्यक्ति को 'सत्य' तक पहुँच सकने का अधिक से अधिक अवसर सुलभ है। यदि मैं एक भाषा के माध्यम से नहीं सीख सकता, तो मुझे दूसरी भाषा आजमानी चाहिए।' और इस तरह उन्होंने प्रत्येक धर्म को आशीष दिया।

मैं जिन विचारों का सन्देश देना चाहता हूँ, वे सब उनके विचारों को प्रतिध्वनित करने की मेरी अपनी चेष्टा है। इसमें मेरा अपना निजी कोई भी मौलिक विचार नहीं; हाँ, जो कुछ असत्य अथवा बुरा है, वह अवश्य मेरा ही है। पर हर ऐसा शब्द, जिसे मैं तुम्हारे सामने कहता हूँ और जो सत्य एवं शुभ है, केवल उन्हींकी वाणी को झंकार देने का प्रयत्न मात्र है। प्रोफ़ेसर मैक्समूलर द्वारा लिखित उनके जीवन-चरित्र को तुम पढ़ो।[1]

बस उन्हींके चरणों में मुझे ये विचार प्राप्त हुए। मेरे साथ और भी अनेक नवयुवक थे। मैं केवल बालक ही था। मेरी उम्र रही होगी सोलह वर्ष की, कुछ और तो मुझसे भी छोटे थे और कुछ बड़े भी थे—लगभग एक दर्जन रहे होंगे, हम सब। और हम सबने बैठकर यह निश्चय किया कि हमें इस आदर्श का प्रचार करना है। और चल पड़े हम लोग—न केवल उस आदर्श का प्रसार करने के लिए, बल्कि उसे और भी व्यावहारिक रूप देने के लिए। तात्पर्य यह कि हमें दिखलाना था हिन्दुओं की आध्यात्मिकता, बौद्धों की जीवदया, ईसाइयों की क्रियाशीलता, एवं मुस्लिमों का बन्धुत्व,—और ये सब अपने व्यावहारिक जीवन के माध्यम द्वारा। हमने निश्चय किया, 'हम एक सार्वभौम धर्म का निर्माण करेंगे—अभी और यहीं ही। हम रुकेंगे नहीं।'

हमारे गुरु एक वृद्धजन थे, जो एक सिक्का भी कभी हाथ से नहीं छूते थे। बस जो कुछ थोड़ा सा भोजन दिया जाता था, वे उसे ही ले लेते थे, और कुछ गज कपड़ा—अधिक कुछ नहीं। उन्हें और कुछ स्वीकार करने के लिए कोई प्रेरित ही न कर पाता था। इन तमाम अनोखे विचारों से युक्त होने पर भी वे बड़े अनुशासन-कठोर थे, क्योंकि इसीने उन्हें मुक्त किया था। भारत का संन्यासी आज राजा का मित्र है, उसके साथ भोजन करता है, तो कल वह भिखारी के साथ है और सड़क पर सो जाता है। उसे प्रत्येक व्यक्ति से सम्पर्क स्थापित करना है, उसे सदैव चलते ही रहना है। कहते हैं—'लुढ़कते पत्थर पर काई कहाँ ?' अपने जीवन के गत चौदह वर्षों में कभी भी मैं एक स्थान पर एक साथ तीन माह से अधिक रुका नहीं, सदा भ्रमण ही करता रहा। हम सबके सब यही करते हैं।

इन मुट्ठी भर युवकों ने उन विचारों को और उनसे निकलनेवाले सभी व्यावहारिक निष्कर्षों को अपनाया। सार्वभौमिक धर्म, दीनों से सहानुभूति और

---

१. अंग्रेज़ी भाषा में लिखित 'रामकृष्ण : हिज लाइफ़ एण्ड सेइंग्स' जो पहले १८९८ में लन्दन से प्रकाशित हुई और जिसका पुनर्मुद्रण १९५१ में अद्वैत आश्रम ने किया।

ऐसी ही बातें, जो सिद्धान्ततः बड़ी अच्छी हैं, पर जिन्हें चरितार्थ करना आवश्यक था। उसीका बीड़ा इन्होंने उठाया।

तब वह दुःख का दिन आया, जब हमारे वृद्ध गुरुदेव ने महासमाधि ली। हमसे जितना बना, हमने उनकी सेवा-शुश्रूषा की। हमारे कोई मित्र न थे। सुनता भी कौन, हम कुछ विचित्र सी विचारधारा के छोकरों की बात? कोई नहीं। कम से कम भारत में तो छोकरों की कोई वक़त नहीं। ज़रा सोचो—बारह लड़के लोगों को विशाल महान् सिद्धान्त सुनायें, और कहें कि वे इन विचारों को जीवन में चरितार्थ करने के लिए कृतसंकल्प हैं! हाँ, सभी ने हँसी की, हँसी करते करते वे गम्भीर हो गये—हमारे पीछे पड़ गये—उत्पीड़न करने लगे। बालकों के माता-पिता हमें क्रोध से धिक्कारने लगे, और ज्यों ज्यों लोगों ने हमारी खिल्ली उड़ायी, त्यों त्यों हम और भी दृढ़ होते गये।

तब इसके बाद एक भयंकर समय आया, मेरे लिए और मेरे अन्य बालक मित्रों के लिए भी। पर मुझ पर तो और भी भीषण दुर्भाग्य छा गया था! एक ओर थे मेरी माता और भ्रातागण। मेरे पिता जी का अवसान हो गया और हम लोग असहाय, निर्धन रह गये, इतने निर्धन कि हमेशा फ़ाक़ाकशी की नौबत आ गयी। कुटुम्ब की एकमात्र आशा मैं था, जो थोड़ा कमाकर कुछ सहायता पहुँचा सकता। मैं दो दुनियाओं की सन्धि पर खड़ा था। एक ओर था मेरी माता और भाइयों के भूखों मरने का दृश्य, और दूसरी ओर थे इन महान् पुरुष के विचार, जिनसे—मेरा खयाल था—भारत का ही नहीं, सारे विश्व का कल्याण हो सकता है और इसलिए जिनका प्रचार करना, जिन्हें कार्यान्वित करना अनिवार्य था। इस तरह मेरे मन में महीनों यह संघर्ष चलता रहा। कभी तो मैं छः छः, सात सात दिन और रात निरन्तर प्रार्थना करता रहता। कैसी वेदना थी वह! मानो मैं जीवित ही नरक में था। कुटुम्ब के नैसर्गिक बन्धन और मोह मुझे अपनी ओर खींच रहे थे—मेरा बाल्य हृदय भला कैसे अपने इतने सगों का दर्द देखते रहता? फिर दूसरी ओर कोई सहानुभूति करनेवाला भी नहीं था! बालक की कल्पनाओं से सहानुभूति करता भी कौन, ऐसी कल्पनाएँ जिनसे औरों को तकलीफ़ ही होती? मुझसे भला किसकी सहानुभूति होती?—किसीकी नहीं—सिवा एक के।

उस एक की सहानुभूति ने मुझे आशीष दिया, मुझमें आशा जगायी। वह स्त्री थी। हमारे गुरुदेव—ये महासंन्यासी—बाल्यावस्था में ही विवाहित हो गये थे। युवा होने पर जब उनकी धर्मप्रवणता अपनी चरम सीमा पर थी, वे आये एक दिन अपनी पत्नी को देखने। बाल्यावस्था में विवाह हो जाने के उपरान्त युवावस्था तक उन्हें परस्पर मेल-मिलाप करने का अवसर क्वचित् ही मिला था। पर जब वे बड़े

कहीं घुड़की। किस्सा यह कि सब अनाप-शनाप ही हमें दिया गया। यहाँ एक टुकड़ा मिला, तो वहाँ दूसरा। आख़िर हमें एक घर भी मिल गया—टूटा-फूटा, खँडहर, जिसमें रहते थे फुफकारते काले नाग। पर हमें उसे लेना ही पड़ा—सबसे सस्ता जो था न! हम उसमें गये और जाकर वहाँ रहे।

इस तरह कुछ वर्ष काटे, सारे भारत का भ्रमण किया और यही कोशिश की कि हमारे विचार और आदर्श को एक निश्चित स्वरूप प्राप्त हो जाय। दस वर्ष बीत गये—प्रकाश की किरण न दिखी। और भी दस वर्ष बीते! हजारों बार निराशा आयी। पर इन सबके बीच हरदम आशा की एक किरण बनी रही, और वह था हम लोगों का उत्कट पारस्परिक सहयोग, हमारा आपसी प्रेम। आज मेरे साथ लगभग सौ साथी हैं—स्त्री और पुरुष। वे ऐसे हैं कि यदि मैं एक बार शैतान भी बन जाऊँ, तो भी वे ढाढ़स बँधाते हुए कहेंगे, 'अरे अभी हम हैं! हम तुम्हें कभी भी न छोड़ेंगे!' और सचमुच यह बड़ा सौभाग्य है। सुख में, दुःख में, अकाल में, दर्द में, क़ब्र में, स्वर्ग में, नरक में जो मेरा साथ न छोड़े, सचमुच वही मेरा मित्र है। ऐसी मैत्री क्या हँसी-मज़ाक़ है? ऐसी मैत्री से तो मानव को मोक्ष तक मिल सकता है। यदि इस प्रकार हम प्रेम कर सकें, तो उससे मोक्ष प्राप्त होता है। यदि ऐसी भक्ति आ जाय, तो वही सारी ध्यान-धारणाओं का सार है। तुमको किसी देवता का पूजन करने की ज़रूरत नहीं, यदि इस दुनिया में तुममें वह भक्ति है, वह श्रद्धा है, वह शक्ति है, वह प्रेम है। और उन मुसीबत के दिनों में वही बात हम सबमें थी, और उसीके बल पर हिमालय से कन्याकुमारी तथा सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक हमने भ्रमण किया।

इन युवकों का समूह भ्रमण करता रहा। शनैः शनैः लोगों का ध्यान हमारी ओर खिंचा; ९० प्रतिशत उसमें विरोधी थे, बहुत ही अल्पांश सहायक था। हम लोगों की एक सबसे बड़ी कमी थी और वह यह कि हम सब युवा थे, निर्धन थे और युवकों की सारी अनम्रता हममें मौजूद थी। जिसको जीवन में ख़ुद अपनी राह बनाकर चलना पड़ता है, वह थोड़ा अविनीत हो ही जाता है; उसे कोमल, नम्र और मिष्टभाषी बनने का अधिक अवकाश कहाँ? 'मेरे सज्जनो, मेरी देवियो' इत्यादि सम्बोधनों का उसे अवसर कहाँ? जीवन में तुमने सदैव यह देखा होगा। वह तो एक अनगढ़ हीरा है, उसमें चिकनी पालिश नहीं। वह मामूली सी डिबिया में एक रत्न है।

और हम लोग ऐसे थे। 'समझौता नहीं करेंगे', यही हमारा मूलमन्त्र था। 'यह आदर्श है और इसे चरितार्थ करना ही होगा। यदि हमें राजा भी मिले, तो भी हम उससे अपनी बात कहे बिना न रहेंगे, भले ही हमें प्राणदण्ड क्यों न दिया

जाय ! और यदि कृषक मिला, तो उससे भी यही कहेंगे।' अतः हमारा विरोध होना स्वाभाविक था।

पर ध्यान रखो, जीवन का यही अनुभव है। यदि सचमुच तुम पर-हित के लिए कटिवद्ध हो, तो सारा ब्रह्माण्ड भले ही तुम्हारा विरोध करे, तुम्हारा बाल भी बाँका न होगा। यदि तुम निःस्वार्थ और हृदय के सच्चे हो, तो तुम्हारे अन्तर में निहित परमात्मा की शक्ति के समक्ष, ये सारी विघ्न-बाधाएँ क्षार क्षार हो जायँगी। वे युवक बस ऐसे ही थे। प्रकृति की गोद से पवित्रता और ताज़गी लिये हुए शिशुओं के समान थे। हमारे गुरुदेव ने कहा, "मैं प्रभु की वेदी पर उन्हीं फूलों को चढ़ाना चाहता हूँ, जिनकी सुगन्ध अभी तक किसीने नहीं ली, जिन्हें अपनी अँगुलियों से किसीने स्पर्श नहीं किया।" उन महात्मा के ये शब्द हमें जीवन देते रहे। उन्होंने कलकत्ता की गलियों से समेटे हुए इन बालकों के जीवन की सारी भावी रूप-रेखा देख ली थी। जब वे कहते, "देखना इस लड़के को, उस लड़के को—आगे चलकर क्या होगा वह," तब लोग उन पर हँसते थे। पर उनकी आस्था और विश्वास अडिग था। कहते, "यह तो मुझसे माँ (जगन्माता) ने कहा है। मैं निर्बल हूँ सही, पर जब वह ऐसा कहती है—उससे भूल हो नहीं सकती—तो अवश्य ऐसा ही होगा।"

इस तरह चलता रहा। दस साल बीत गये, पर प्रकाश न मिला। इधर स्वास्थ्य दिन पर दिन क्षीण होता चला। शरीर पर इनका असर हुए बिना नहीं रह सकता : कभी रात के नौ बजे एक बार खा लिया, तो कभी सवेरे आठ बजे ही एक बार खाकर रह गये, तो दूसरी बार दो रोज़ के बाद खाया—तीसरी बार तीन रोज के बाद—और हर बार नितान्त रूखा-सूखा, शुष्क, नीरस भोजन ! अधिकांश समय पैदल ही चलते, बर्फ़ीली चोटियों पर चढ़ते, कभी कभी तो दस दस मील पहाड़ पर चढ़ते ही जाते—केवल इसलिए कि एक बार का भोजन मिल जाय। बतलाओ भला, भिखारी को कौन अपना अच्छा भोजन देता है ? फिर सूखी रोटी ही भारत में उनका भोजन है और कई बार तो वे सूखी रोटियाँ बीस बीस, तीस तीस दिन के लिए इकट्ठी करके रख ली जाती हैं और जब वे ईंट की तरह कड़ी हो जाती हैं, तब उनसे षड्रस व्यंजन का उपभोग सम्पन्न होता है ! एक बार का भोजन पाने के लिए मुझे द्वार द्वार भीख माँगते फिरना पड़ता था। और फिर रोटी ऐसी कड़ी कि खाते खाते मुँह से लहू बहने लगता था। सच कहूँ, वैसी रोटी से तुम अपने दाँत तोड़ सकते हो। मैं तो रोटी को एक पात्र में रख देता और उसमें नदी का पानी उड़ेल देता था। इस तरह महीनों गुज़ारने पड़े, निश्चय ही इन सबका प्रभाव स्वास्थ्य पर पड़ रहा था।

फिर मैंने सोचा कि भारत को तो अब देख लिया—चलो अब किसी और देश को आज़माया जाय। उसी समय तुम्हारी धर्म-महासभा होनेवाली थी और वहाँ भारत से किसीको भेजना था। मैं तो एक ख़ानाबदोश सा था, पर मैंने कहा, "यदि मुझे भेजा जाय, तो मैं जाऊँगा। मेरा कुछ बिगड़ता तो है नहीं, और अगर बिगड़े भी, तो मुझे परवाह नहीं।" पैसा जुटा सकना बड़ा कठिन था। पर बड़ी खटपट के बाद रुपया इकट्ठा हुआ और वह भी मेरे किराये मात्र का। और बस, मैं यहाँ आ गया—दो एक महीने पहले ही। क्या करता—न किसीसे जान, न पहचान। बस सड़कों पर यहाँ-वहाँ भटकने लगा।

अन्त में धर्म-महासभा का उद्घाटन हुआ और मुझे बड़े सदय मित्र मिले, जिन्होंने मेरी ख़ूब सहायता की। मैंने थोड़ा परिश्रम किया, धन जमा किया और दो पत्र निकाले। इसके बाद मैं इंग्लैण्ड गया और वहाँ भी काम किया। साथ ही साथ अमेरिका में भी भारत के हित का कार्य साधता रहा।

भारत विषयक मेरी योजना का जो विकास और केन्द्रीकरण हुआ है, वह इस प्रकार है : मैं कह चुका हूँ कि संन्यासी लोग वहाँ किस प्रकार जीवन यापन करते हैं, किस प्रकार द्वार द्वार भीख माँगने जाते हैं और बिना किसी शुल्क के धर्म को उन तक पहुँचाते है। बहुत हुआ तो बदले में एक रोटी का टुकड़ा ले लिया। यही कारण है कि भारत का अदने से अदना व्यक्ति भी धर्म की ऐसी उच्च प्रेरणाएँ अपने साथ रखता है। यह सब इन्हीं संन्यासियों के कार्य का फल है। तुम उससे प्रश्न करो, "अंग्रेज़ लोग कौन हैं?"—उसे पता नहीं। शायद उत्तर मिल जाय, "वे उन राक्षसों की सन्तान हैं, जिनका वर्णन उन ग्रन्थों में है। है न यही?" "तुम्हारा शासक कौन है?" "हमें पता नही।" "शासन क्या है?" "हमें पता नहीं।" पर तत्त्वज्ञान वे जानते हैं। जो उनकी असली कमज़ोरी है, वह है इस पार्थिव जीवन सम्बन्धी व्यावहारिक बौद्धिक शिक्षा का अभाव। ये कोटि कोटि मानव इस संसार से परे के जीवन के लिए सदा प्रस्तुत रहते हैं—और यही क्या उनके लिए पर्याप्त नहीं? नहीं, कदापि नहीं। उन्हें कहीं अच्छे रोटी के टुकड़े की ज़रूरत है, उनकी देह को कहीं अच्छे कपड़े के टुकड़े की आवश्यकता है। विकट समस्या यही है कि यह अच्छा रोटी का टुकड़ा और अच्छा कपड़ा इन गये-बीते कोटि कोटि मानवों को प्राप्त हो कहाँ से?

पहले मैं तुमसे कह दूँ कि उन लोगों के लिए बड़ी आशा है, क्योंकि वे संसार में सबसे अधिक नम्र व्यक्ति हैं। पर कायर अथवा भीरु नहीं। जब उन्हें लड़ना होता है, तो दैत्यों की भाँति लड़ते हैं। अंग्रेज़ों के सर्वोत्तम सैनिक भारत के किसानों से ही भर्ती किये गये हैं। मृत्यु का उनके सामने कोई महत्त्व नहीं। उनका मत

है—"बीसों बार तो मेरी मौत हो चुकी और सैकड़ों बार अभी मौत होनी है। इससे क्या?" पीछे हटना उन्हें नहीं आता। भावुकता के वे क़ायल नहीं, पर योद्धा वे उच्चतम कोटि के हैं।

स्वभाव से खेती उन्हें प्यारी है। तुम उन्हें लूट लो, उनको क़त्ल कर दो, उन पर कर लगा दो, तुम उनके साथ कुछ भी करो, पर जब तक तुम उन्हें अपने धर्म-पालन की स्वतन्त्रता देते हो, तब तक वे बड़े नम्र बने रहेंगे, बड़े ही शान्त और चुप। वे कभी औरों के धर्म से नहीं भिड़ते। 'हमारे देवताओं की पूजा करने की हमें स्वतन्त्रता दो, फिर चाहे हमसे और सब कुछ छीन लो'—यही उनका रुख़ है। अँग्रेज़ों ने जब उस मर्मस्थल को छुआ, तो प्रारम्भ हो गया उपद्रव! सन् ५७ की ग़दर का यही सच्चा कारण था—वे धार्मिक दमन सह न सके। मुस्लिम सरकारें बस इसीलिए उड़ा दी गयीं कि उन्होंने भारत के धर्म को छूने की चेष्टा की।

यह अगर छोड़ दो, तो वे बड़े शान्तिप्रिय, अवाचाल, नम्र और सर्वोपरि, दुर्व्यसनों से दूर होते हैं। उनमें मादक-पेय का अभाव उन्हें किसी भी देश की साधारण जनता से बहुत ऊँचा उठा देता है। भारत के दरिद्रों के जीवन की उत्तमता की तुलना तुम अपने देश की बस्तियों के जीवन से नही कर सकते। बस्ती का अर्थ निस्सन्देह दरिद्रता है, पर भारत में दरिद्रता के मानी पाप, गन्दगी, व्यभिचार और दुर्व्यसन तो कभी नहीं होते। अन्य देशों में व्यवस्था ही ऐसी है कि केवल व्यभिचारी और आलसी लोग ही दरिद्र बने रहें। यहाँ दरिद्रता का कारण ही नहीं, जब तक कि मनुष्य निपट मूढ़ अथवा मक्कार न हो, ऐसा मूढ़ जिसे नागरिक जीवन के ऐश्वर्य का मोह हो। ऐसे लोग गाँव में कभी न जायँगे। उनका कहना है, 'हम तो जीवन के मनोरंजनों, रँगरेलियों के बीच रहते हैं, भोजन हमें दिया ही जाना चाहिए।' पर हमारे देश की बात ऐसी नहीं। वहाँ के दरिद्र सवेरे से दिन डूबे तक पसीना बहाते है और अन्त में कोई अन्य व्यक्ति आकर उनके हाथ से उनकी रोटी छीन ले जाता है—उनके बच्चे भूखे तड़पते रहते हैं। भारत में करोड़ों टन गेहूँ पैदा किया जाता है, पर शायद ही एक दाना ग़रीब के मुँह में जाता हो! वे तो ऐसे निकृष्ट अन्न पर पलते हैं, जिसे तुम अपनी चिड़ियों को भी न खिलाओ।

सचमुच ऐसा कोई कारण नहीं कि इतने अच्छे, इतने पवित्र लोगों को ऐसी मुसीबतें झेलनी पड़ें—ये बेचारे ग़रीब! हम बहुत सुनते है इन कोटि कोटि दीन-दुःखियों की दुःखभरी कहानियाँ, वहाँ की पतिता स्त्रियों के दर्द-भरे क़िस्से। पर कोई तो आये उनका दुःख दूर करने, उनका दर्द बँटाने! बस मुख से कहते

भर हैं, 'तुम्हारा दुःख, तुम्हारा दर्द तभी दूर हो सकता है, जब तुम वह न रहो जो कि आज हो। हिन्दुओं को मदद देना व्यर्थ है।' ऐसा कहनेवाले जातियों के इतिहास को नहीं जानते। भारत उस दिन बचेगा ही कहाँ, जिस दिन उसकी प्राणदायिनी शक्तियों का अन्त हो जायगा—जिस दिन वहाँ के निवासी अपना धर्म बदल देंगे, जिस दिन वे अपनी संस्थाओं का रूपान्तर कर देंगे! उस दिन तो वह जाति ही विलीन हो जायगी, तब तुम सहायता करोगे किसकी?

एक बात और भी हम सबको सीख लेनी है—और वह यह कि हम सचमुच में किसीको सहायता नहीं दे सकते। हम एक दूसरे के लिए भला क्या कर सकते हैं? तुम अपने जीवन में बढ़ते जाते हो और मैं अपने जीवन में। अधिक से अधिक यह सम्भव है कि मैं तुमको थोड़ा सा सहारा देकर आगे बढ़ा दूँ, जिससे अन्ततोगत्वा तुम भी अपनी मंज़िल पर पहुँच जाओ—इस पूरी जानकारी के साथ कि सारी दुनिया का गंतव्य एक ही है—राहें अलग अलग। यह वृद्धि क्रमिक होती है। ऐसी कोई राष्ट्रीय सभ्यता नहीं, जिसे पूर्ण कहा जा सके। सभ्यता को थोड़ा सा सहारा दे दो, और वह अपने गंतव्य तक पहुँच जायगी। उसे बदलने का प्रयास न करो। छीन लो किसी देश से उसकी संस्थाएँ, उसके रीति-रिवाज़, उसके चाल-चलन, फिर बच ही क्या रहेगा भला? इन्हीं तन्तुओं से तो राष्ट्र बँधा रहता है।

पर तभी विदेशी पण्डित महोदय आते हैं और कहते है, "देखो, इन हज़ारों वर्षों की संस्थाओं और रीतियों को तुम तिलांजलि दो और गले लगाओ हमारे इस नये मूढ़ता के टीन-पाट (tin pot) को और मौज करो।" यह सब मूर्खता है!

हमें आपस में मदद तो करनी होगी, पर एक क़दम इसके भी आगे जाना होगा। मदद करने में सबसे अधिक जरूरी यह है कि हम स्वार्थ के परे हो जायँ। 'मैं तुम्हें तभी सहायता दूँगा, जब तुम मेरे कहने के अनुसार बर्ताव करोगे, अन्यथा नहीं।' क्या यह सहायता है?

और इसलिए यदि हिन्दू तुम्हें आध्यात्मिक सहायता पहुँचाना चाहता है, तो वह पूर्ण निरपेक्ष, सम्पूर्ण निःस्वार्थ बनकर ही अग्रसर होगा। मैंने दिया और बस, बात वहीं खत्म हो गयी—मुझसे दूर चली गयी। मेरा दिमाग़, मेरी शक्ति, मेरा सर्वस्व जो कुछ भी देना था, मैंने दे दिया—इसलिए दे दिया कि देना था, और बस। मैंने देखा है, जो दुनिया के आधे लोगों को लूटकर अपना घर भरते हैं, वे 'बुतपरस्त के धर्मपरिवर्तन' के लिए बीस हज़ार डॉलरों का दान देते हैं! किसलिए? बुतपरस्त के सुधार के लिए अथवा अपनी ही आत्मा के उत्कर्ष के लिए? ज़रा सोचो तो सही!

और पापों के प्रतिशोध का देवता अपना काम कर रहा है। हम अपनी ही आँखों में धूल झोंकना चाहते हैं। पर हमारे हृदय में वह परम सत्य—परमात्मा विद्यमान है। वह कभी नहीं भूलता। उसे हम धोखा नहीं दे सकते। उसकी आँखों में धूल नहीं डाली जा सकती। जहाँ कहीं सच्ची दानशीलता की प्रेरणा मौजूद है, उसका असर तो होगा ही—चाहे वह हज़ार वर्षों के बाद ही क्यों न हो। भले ही रुकावट डालो, पर वह जाग उठेगा, और उल्कापात की तरह ज़ोर से उमड़ पड़ेगा। हर ऐसी प्रेरणा, जिसका उद्देश्य स्वार्थपूर्ण है, स्वार्थ-प्रेरित है, अपने लक्ष्य पर कभी न पहुँच सकेगी—भले ही तुम सारे अख़बारों को उसकी चमकीली तारीफ़ों से रँग डालो, भले ही विराट् जनसमूहों को तुम उसका जयजय-कार करने के लिए खड़ा कर दो।

मैं इस पर गर्व नहीं कर रहा हूँ। पर देखो, मैं कह रहा था उन बालकों की कहानी। आज भारत में ऐसा गाँव नहीं, ऐसा पुरुष नहीं, ऐसी नारी नहीं, जिसे उनके कार्य का पता न हो, जिसका आशीर्वाद उन पर न बरसता हो। देश में ऐसा अकाल नहीं, जिसकी दाढ़ में घुसकर ये बालक रक्षा का काम न करें, अधिक से अधिक लोगों को न बचायें। और वही लोगों के हृदय को बेधता है। दुनिया उसे जान जाती है। इसीलिए जब कभी सम्भव हो, सहायता करो, पर अपने उद्देश्य का ध्यान रखो। अगर वह स्वार्थ है, तो न औरों को उससे लाभ होगा न तुमको ही। यदि वह स्वार्थ-शून्य है, तो जिसको दी जा रही है, उसके लिए कल्याणप्रद होगी, और तुम्हारे ऊपर भी अमोघ आशीर्वादों की वर्षा करेगी। यह बात उतनी ही निश्चित है, जितना कि तुम्हारा जीवित होना। प्रभु को धोखा नहीं दिया जा सकता; कर्म के नियम को धोखे में नहीं डाला जा सकता।

अतः मेरी योजना है, भारत के इस जनता-समूह तक पहुँचने की। मान लो, इन तमाम ग़रीबों के लिए तुमने पाठशालाएँ खोल भी दीं, तो भी उनको शिक्षित करना सम्भव न होगा। कैसे होगा? चार बरस का बालक तुम्हारी पाठशाला में जाने की अपेक्षा अपने हल-बखर की ओर जाना अधिक पसन्द करेगा। वह तुम्हारी पाठशाला न जा सकेगा। यह असम्भव है। आत्मरक्षा निसर्ग की पहली जन्मजात-प्रवृत्ति है। पर यदि पहाड़ मुहम्मद के पास नहीं जाता, तो मुहम्मद पहाड़ के पास पहुँच सकता है। मैं कहता हूँ कि शिक्षा स्वयं दरवाज़े दरवाज़े क्यों न जाय? यदि खेतिहर का लड़का शिक्षा तक नहीं पहुँच पाता, तो उससे हल के पास, या कारख़ाने में अथवा जहाँ भी हो, वहीं क्यों न भेंट की जाय? जाओ उसीके साथ—उसकी परछाईं के समान। ये जो हज़ारों और लाखों की संख्या में संन्यासी हैं, जो जनता को आध्यात्मिक भूमिका पर शिक्षा प्रदान कर रहे हैं,

वे क्यों न बौद्धिक भूमिका पर भी शिक्षा प्रदान करें ? क्यों न वे जनता से कुछ इतिहास तथा अन्यान्य विषय की बातें करें? हमारे कान ही हमारे सबसे प्रभावशाली शिक्षक है। हमारे जीवन के सर्वोत्तम सिद्धान्त वे ही हैं, जो हमने कानों से अपनी माताओं से सुने थे। पुस्तकें तो बाद में आयीं। पुस्तकीय ज्ञान की भला क्या बिसात? कानों के ज़रिये ही हमें सर्जनात्मक सिद्धान्तों की उपलब्धि होती है। फिर, ज्यों ज्यों उनकी दिलचस्पी बढ़ने लगेगी, वे तुम्हारी पुस्तकों के भी पास आने लगेंगे। पर पहले उसी तरह चलने दो––मेरा यही विचार है।

मैं यह बता देना चाहता हूँ कि मै इन संन्यासी सम्प्रदायों में बहुत अधिक विश्वासी नही। उनमें महान् गुण हैं, और उनमें दोष भी महान् हैं। संन्यासियों और गृहस्थों के बीच पूर्ण सन्तुलन अपेक्षित है। लेकिन भारत की सारी शक्ति संन्यासी सम्प्रदायों ने हथिया ली है। हम उच्चतम शक्ति का प्रतिनिधित्व करते है। संन्यासी राजकुमार से भी बढ़कर है। भारत का ऐसा कोई सम्राट् नहीं, जो गैरिक वस्त्रधारी संन्यासी के समक्ष आसन ग्रहण करे––वह अपना आसन छोड़कर खड़ा ही रहता है। इतनी अधिक शक्ति, फिर वह कितने ही अच्छे लोगों के हाथ में क्यों न हो, अच्छी नहीं––यद्यपि मैं मानता हूँ कि लोगों की सुरक्षा इन संन्यासी सम्प्रदायों के द्वारा पर्याप्त मात्रा में हुई है। ये संन्यासी पुरोहित-प्रपंच और ज्ञान के बीच में खड़े हुए हैं। सुधार और ज्ञान के ये केन्द्र है। इनका वही स्थान है, जो यहूदियों में पैग़म्बरों का था। पैग़म्बर सदा पुरोहितों के विरुद्ध प्रचार करते रहे, कुसंस्कारों को निकाल भगाने की प्रेरणा देते रहे। बस, यही हाल भारत में हुआ। जो भी हो, पर इतनी शक्ति वहाँ ठीक नही, इससे भी अच्छी रीतियों का अनुसन्धान किया जाना चाहिए। पर कार्य उसी मार्ग से किया जा सकता है, जिसमें बाधाएँ सबसे कम हों। भारत की सारी राष्ट्रीय आत्मा संन्यास पर ही केन्द्रित है। तुम भारत में जाओ और गृहस्थ के रूप में कोई धर्म-सन्देश कहो। हिन्दू मुँह फेरकर चले जायँगे। पर यदि तुमने संसार त्याग दिया है, तब तो वे कहेंगे, "हाँ, यह ठीक है, उन्होंने संसार तज दिया है। वे सच्चे हैं; वे वही करना चाहते हैं, जो कहते है।" मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि यह एक प्रचण्ड शक्ति का सूचक है। और हमें जो करना है, वह यह कि हम इसका रूपान्तर कर दें––उसे दूसरा आकार दे दें। परिव्राजक संन्यासियों के हाथों में सन्निहित यह अपरिमित शक्ति रूपान्तरित हो जानी चाहिए, जिससे जनसमूह उद्‌बुद्ध हो, उन्नत हो।

इस तरह काग़ज़ों पर तो हमने अच्छी योजना तैयार कर ली, पर साथ ही मैंने उसे आदर्शवाद के क्षेत्र से ग्रहण किया था। तब तक मेरी योजना शिथिल

और आदर्श के रूप में थी। पर समय की गति के साथ वह स्थिर और सुस्पष्ट होती गयी। उसको सक्रिय बनाते समय मुझे उसके दोष आदि दिखायी पड़ने लगे।

भौतिक भूमिका पर उसे क्रियान्वित करते हुए मैंने क्या खोज की? पहले, हमें ऐसे केन्द्रों की जरूरत है, जहाँ सन्यासियों को ऐसी शिक्षा की रीतियों से अवगत कराने की व्यवस्था हो सके। उदाहरणार्थ, मैं अपने एक मनुष्य को केवल लेकर बाहर भेज देता हूँ—पर उसके पहले उसके बारे में सिखा देना भी तो आवश्यक है। तुम देखोगे कि भारत का हर आदमी बिलकुल निरक्षर है, इसलिए शिक्षा देने के लिए विशाल केन्द्रों की जरूरत है। और इन सबका तात्पर्य क्या हुआ?—धन! आदर्श की भूमिका पर से तुम दैनिक कार्य-प्रणाली पर उतर आते हो। मैंने तुम्हारे देश में चार वर्ष श्रम किया और इंग्लैण्ड में दो वर्ष। और मैं कृतज्ञ हूँ कि कुछ मित्रों ने मुझे सहारा देकर बचा लिया। आज की मण्डली में उनमें से एक उपस्थित है। कुछ अमेरिकी और अंग्रेजी मित्र मेरे साथ भारत भी गये और हमारा कार्य बड़े ही प्रारंभिक रूप में आरम्भ हुआ। कुछ अंग्रेज आये और सम्प्रदाय में सम्मिलित हुए। एक बेचारे ने तो बड़ा परिश्रम किया और भारत में उसका देहान्त हो गया। वहाँ अभी एक अंग्रेज सज्जन और देवी हैं, जिन्होंने अवकाश ग्रहण किया है। उनके पास कुछ साधन है। उन्होंने हिमालय में एक केन्द्र का सूत्रपात किया है और वे बालकों को शिक्षा देते हैं। मैंने उनके जिम्मे अपना एक पत्र—'प्रबुद्ध भारत' दे दिया है, जिसकी एक प्रति मेज पर रखी हुई है। वहाँ पर वे लोग जनता को शिक्षा देते तथा उनमें बीच कार्य करते हैं। मेरा एक केन्द्र कलकत्ता में है। स्वभावतः राजधानी से ही सारे आन्दोलन प्रारम्भ होते हैं, क्योंकि राजधानी ही तो राष्ट्र का हृदय है। सारा रक्त पहले हृदय में ही आता है और वहाँ से सब जगह वितरित होता है। अतः सारा धन, सारी विचारधाराएँ, सारी शिक्षा, सारी आध्यात्मिकता पहले राजधानी से ही पहुँचेगी और फिर वहाँ से सर्वत्र प्रसारित होगी।

मुझे यह बताते हर्ष होता है कि हमने प्रारम्भ रूप में प्रारम्भ कर दिया है। ठीक इसी तरह मैं नारियों के लिए भी आयोजना करना चाहता हूँ। मेरा सिद्धान्त है कि प्रत्येक अपनी सहायता आप करता है। मेरी सहायता तो दूर की सहायता है। भारतीय स्त्रियाँ हैं, अंग्रेज स्त्रियाँ हैं और मुझे आशा है, अमेरिकी स्त्रियाँ भी इस कार्य को हाथ में लेने के लिए आगे आयेंगी। ज्यों ही आरम्भ करेंगी मैं अपना हाथ अलग कर लूँगा। नारी पर पुरुष क्यों शासन करे? और, पुरुष पर नारी क्यों शासन करे? प्रत्येक स्वतंत्र है। यदि कोई बन्धन है, तो वह है प्रेम का। स्त्रियाँ स्वयं अपने भाग्य का विधान कर लेंगी—पुरुष तो कुछ उनके लिए कर सकते

हैं, उससे कहीं उत्तम रूप से। यह समस्या नारी के प्रति अनौचित्य, वह केवल इसलिए कि पुरुषों ने स्त्रियों के भाग्य-विधान का दायित्व ले लिया। और मैं ऐसी गलती के साथ प्रारम्भ नहीं करना चाहता, क्योंकि यही गलती फिर समय के साथ बड़ी होती जायगी—इतनी बड़ी कि अन्ततोगत्वा उसके अनुपात को सँभाल सकना असम्भव हो जायगा। अतः यदि स्त्रियों के कार्य में पुरुषों को लगाने की भूल मैंने की, तो स्त्रियाँ कभी भी उससे मुक्त न हो सकेंगी—वह एक रस्म ही बन जायगी। पर मुझे एक बार अवसर मिला है। मैंने तुमको अपने गुरुदेव की धर्मपत्नी की बात बतायी है। हमारी उन पर अटूट श्रद्धा है। वे कभी भी हम पर शासन नहीं करतीं। अतः यह मार्ग पूर्णतः सुरक्षित है।

कार्य के इस अंश को अभी सम्पन्न होना है।

अवतार

ईसा ईश्वर थे--सगुण ईश्वर, मानव के रूप में। उन्होंने अपने आपको विविध रूपों में अनेक वार प्रकट किया और इन रूपों की ही तुम उपासना कर सकते हो। ईश्वर को उसके निरुपाधिक रूप में पूजा नहीं जाता। ऐसे ईश्वर की पूजा अर्थहीन होगी। हमें इसलिए ईसा को, ईश्वर के मानवीय अवतार को पूजना चाहिए। तुम ईश्वर के अवतार की अपेक्षा उच्चतर अन्य किसीकी उपासना नही कर सकते। ईसा से भिन्न ईश्वर की पूजा तुम जितना शीघ्र छोड दो, उतना ही अच्छा। जिस येहोवा की तुमने सृष्टि की, उससे सुन्दर ईसा की तुलना करो। जब जब तुम ईसा से परे परमेश्वर बनाने का प्रयत्न करते हो, तब तब तुम समस्त वस्तु को नष्ट कर डालते हो। केवल ईश्वर ही ईश्वर की पूजा कर सकता है। यह मनुष्य के हाथ की बात नहीं। और उस ईश्वर के सर्वसाधारण रूपों से परे उसकी पूजा का कोई भी मानवीय प्रयत्न खतरे से खाली नही होगा। यदि तुम मुक्ति चाहते हो, तो ईसा के निकट रहो; तुम जिस किसी ईश्वर की कल्पना करते हो, वह उससे ऊँचा है। यदि तुम सोचते हो कि ईसा मनुष्य थे, उनकी पूजा मत करो; परन्तु जैसे ही तुम्हें यह ज्ञान हो जाय कि वह ईश्वर थे, उनकी पूजा करो। जो यह कहते है कि वे मनुष्य थे और उसके बाद उनकी पूजा करते हैं, वे पाखंडी हैं; तुम्हारे लिए कोई मध्यम मार्ग नहीं है; तुम्हें उसकी पूरी शक्ति लेनी चाहिए। 'जिसने पुत्र को देखा, उसने पिता को देखा'; और पुत्र को देखे विना पिता के दर्शन असंभव हैं। यह केवल शब्दाडंबर है, फेनिल दर्शन है और सपने हैं और निरी कपोल-कल्पना है। परन्तु यदि तुम आध्यात्मिक जीवन के ऊपर अधिकार चाहते हो, तो ईसा के रूप में अभिव्यक्त ईश्वर के सन्निकट रहो।

दार्शनिक दृष्टि से बुद्ध या ईसा जैसा कोई मनुष्य नहीं था; हमने उनके रूप में ईश्वर को देखा। क़ुरान में, मुहम्मद वार वार कहते हैं कि ईसा को सूली पर नहीं चढ़ाया गया, वह केवल उसका रूपक है, ईसा को कोई भी क्रूसित नहीं कर सकता।

दार्शनिक धर्म की निम्नतम भूमिका द्वैतवाद है, और उच्चतम त्रयात्मक है। प्रकृति और जीवात्मा में ईश्वर वसा हुआ है, और इसीको हम ईश्वर, प्रकृति और आत्मा की त्रयी के रूप में देखते है। साथ ही तुम्हें इस बात की भी झलक

कहते हो, उसने आत्मा त्याग दी (गिव अप दि गोस्ट)। हिंदू विश्वास करते हैं कि मनुष्य एक आत्मा है, जिसके शरीर भी होता है। पश्चिम के लोग विश्वास करते हैं कि वह एक शरीर है, जिसके आत्मा होती है।

जो कुछ विषमता है, उसे मृत्यु आत्मसात् कर लेती है। आत्मा एकात्मक तत्त्व है; वह किसी अन्य वस्तु से बनी हुई नहीं है। और इसलिए वह मर नहीं सकती। अपने स्वभाव से ही आत्मा अमर है। शरीर, मन और आत्मा नियमों के चक्र पर घूम रहे हैं—कोई बच नहीं सकता। हम उसी तरह से इन नियमों से अलग नहीं हो सकते। उनसे ऊपर नही उठ सकते, जैसे ग्रह-नक्षत्र या सूर्य—यह सब एक नियमों का विश्व है। कर्म का नियम यह है कि प्रत्येक कार्य का आज नहीं तो कल, देर-सबेर परिणाम होता ही है। वह मिस्र का बीज जो कि एक मृत 'ममी' के हाथ से लिया गया और ५,००० वर्षो बाद बोने से फिर अंकुरित हुआ, वैसे ही मानवीय कर्मो का अनन्त प्रभाव होता है। कर्म कर्म को उत्पन्न किये बिना मर नहीं सकता। अब, यदि कर्म अस्तित्व के इस धरातल पर ही अभीष्ट फल उत्पन्न कर सकते है, तो इसका अर्थ यह है कि हम सबको कार्य-कारण परंपरा के वृत्त को पूरा करना ही होगा। यही पुनर्जन्म का सिद्धान्त है। हम नियमों के दास हैं, आचरण के दास है, तृष्णा, क्षुधा-तृषा जैसी हजारों चीजों के दास है। जीवन से भागकर ही हम दासता से मुक्ति की ओर भाग सकेंगे। केवल ईश्वर ही मुक्त है। ईश्वर और मुक्ति एक और अभिन्न है।

जीवन और मृत्यु के नियम–२

प्रकृति में सभी व्यापार नियमानुसार होते है। कोई अपवाद नही है। मन और वाह्य प्रकृति की प्रत्येक वस्तु नियम से नियंत्रित और शासित है।

आन्तरिक और वाह्य प्रकृति, मन और जड़-द्रव्य, देश-काल में हैं और कार्य-कारण के नियम से बँधे हैं।

मन की स्वतंत्रता एक भ्रम है। जब मन कर्म-नियम से बँधा है, तो वह मुक्त कैसे हो सकता है?

कर्म का नियम कार्य-कारण का नियम है।

हमें मुक्त होना चाहिए। हम मुक्त हैं; उसे जानना हमारा काम है। हमें सारी दासता छोड़ देनी चाहिए, सब प्रकार के सारे बंधन छोड़ देने चाहिए। हमें न केवल इस पृथ्वी से और पृथ्वी की हर वस्तु और हर जीव से अपना बंधन छोड़ना चाहिए, वरन् स्वर्ग और सुख की कल्पनाएँ भी छोड़ देनी चाहिए।

हम पृथ्वी से बँधे हैं वासना से, और ईश्वर, स्वर्ग और देवदूतों से भी बँधे है। दास तो दास ही रहता है, चाहे वह मनुष्य का हो, ईश्वर या देवदूतों का हो।

स्वर्ग की कल्पना नष्ट होनी चाहिए। मरण के बाद ऐसे स्वर्ग की कल्पना, जहाँ अच्छे लोग अनन्त सुख का जीवन व्यतीत करते हैं, एक खोखला स्वप्न है, उसमें किंचित् भी तत्त्व या अर्थ नहीं है। जहाँ भी सुख है, वहाँ दुःख कभी न कभी आता ही है। जहाँ जहाँ भोग है, वहाँ पीड़ा भी है। यह बिल्कुल निश्चित है कि प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया भी किसी न किसी प्रकार होती ही है।

स्वतंत्रता की कल्पना ही मुक्ति की सच्ची कल्पना है—हर वस्तु से स्वतंत्रता, संवेदनाओं से स्वतंत्रता, चाहे वे सुख की हों या दुःख की, शुभ से और अशुभ से भी।

बल्कि इससे भी अधिक। हमें मृत्यु से मुक्त होना चाहिए। और मृत्यु से मुक्त होने के लिए हमें जीवन से मुक्त होना चाहिए। जीवन केवल मृत्यु का सपना है। जहाँ जीवन है, वहाँ मृत्यु है; इसलिए मृत्यु से मुक्त होना हो तो जीवन से दूर होना चाहिए।

हम सदा मुक्त है, यदि हम केवल इस पर विश्वास भर करें, केवल पर्याप्त श्रद्धा। तुम आत्मा हो, मुक्त और शाश्वत, चिर मुक्त, चिर पवित्र। अभीष्ट श्रद्धा रखो और क्षण भर में तुम मुक्त हो जाओगे।

हर वस्तु देश, काल, कार्य-कारण से बँधी है। आत्मा सब देश, सब काल, सब कार्य-कारणों से परे है। जो बँधी है, वह प्रकृति है, आत्मा नहीं।

इसलिए अपनी मुक्ति घोषित करो और जो हो, वह बनो—सदा मुक्त, सदा पवित्र।

देश, काल, कार्य-कारण को हम माया कहते हैं।

पुनर्जन्म

(मेम्फ़िस में १९ जनवरी, १८९४ ई० को दिया हुआ भाषण। 'अपील-एवलांश' में प्रकाशित)

पगड़ी एवं पीत वस्त्रधारी संन्यासी स्वामी विव कानन्द[1] ने थर्ड स्ट्रीट में स्थित 'ला सैलेट अकादमी' में पर्याप्त संख्या में एकत्र गुणग्राही श्रोताओं के सम्मुख पुनः भाषण दिया।

विषय था 'आत्मा का जन्मान्तर अथवा पुनर्जन्म'। सम्भवतः 'विव कानन्द' और विषयों की अपेक्षा इस विषय पर बोलते हुए अधिक ज़ोरदार प्रतीत हुए, ऐसा कहा जा सकता है। पूर्वीय जातियों में पुनर्जन्म एक बड़ा व्यापक रूप से मान्य विश्वास है और वे देश-विदेश सभी जगह इसका प्रतिपादन करने के लिए सतत प्रस्तुत रहते हैं। जैसा कि कानन्द (विवेकानन्द) ने कहा :

"तुम लोगों में से बहुत से लोग यह नहीं जानते कि यह समस्त प्राचीन धर्मों का एक प्राचीनतम धार्मिक सिद्धान्त है। यह फ़ैरीसियों (यहूदी कर्मकाण्डियों), यहूदियों और ईसाई धर्म-संघ के प्राचीन आचार्यों को विदित था और अरब-निवासियों का यह सामान्य विश्वास था। यह अब भी हिन्दुओं और बौद्धों में अवशिष्ट है।

"विज्ञान, जो शक्तियों का चिन्तन मात्र है, के युग के आगमन के पूर्व तक यही दशा रही। अब तुम इस सिद्धान्त को नैतिकता के लिए विनाशकारी मानते हो। इस तर्क तथा उसके तार्किक एवं दार्शनिक रूपों का पूर्ण सर्वेक्षण करने के लिए हमें समस्त पृष्ठभूमि को देखना होगा। हम सभी लोग इस विश्व के एक नैतिकतापूर्ण शासक में विश्वास करते है, फिर भी प्रकृति हमारे सामने न्याय के बजाय अन्याय प्रकट करती है। एक मनुष्य अच्छी से अच्छी परिस्थितियों में जन्म लेता है। आजीवन उसे अनुकूल परिस्थितियाँ उपलब्ध रहती हैं। वे

---

१. उन दिनों अमेरिकन समाचारपत्रों में विवेकानन्द का नाम विभिन्न रूपों में लिखा जाता था और विवरण अधिकांशतः विषय की नवीनता के कारण अशुद्ध होते थे। स०

सव उसके लिए सुख और श्रेयस् प्रदान करनेवाली होती हैं। दूसरा जन्म लेता है और प्रत्येक पग पर उसका जीवन उसके पड़ोसी से भिन्न होता है। वह भ्रष्ट जीवन विताता हुआ समाज-वहिष्कृत होकर मरता है। सुख के वितरण में इतनी निष्पक्षता (पक्षपात?) क्यों है?

"पुनर्जन्म का सिद्धान्त तुम्हारे सामान्य विश्वासों के असंगत स्वर का समाधान करता है। अनैतिक बनाने के वजाय यह मत हमें न्याय का भाव प्रदान करता है। तुममें से कुछ कहते हैं:'यह ईश्वर की इच्छा है'। यह कोई उत्तर नहीं हुआ। यह अवैज्ञानिक है। प्रत्येक बात का कोई कारण होता है। समस्त कारण और सम्पूर्ण कार्य-कारण-सिद्धान्त ईश्वर पर छोड़कर हम उसे एक अनैतिक प्राणी वना देते हैं। किन्तु भौतिकवाद उतना ही असंगत है, जितना कि दूसरा। जहाँ तक हम समझते हैं, प्रत्यक्ष-बोध (कार्य-कारण?) सभी वस्तुओं में सन्निहित है। अतएव, इन कारणों से आत्मा के जन्मान्तर का सिद्धान्त आवश्यक है। यहाँ हम सभी जन्म लेते है। क्या यह प्रथम सृष्टि है? क्या सृष्टि शून्य से उत्पन्न होनेवाली वस्तु है? पूर्ण रूप से विश्लेषण करने पर यह वाक्य निरर्थक सिद्ध होता है। यह सव सृष्टि नही, अपितु अभिव्यक्ति है।

"कोई चीज़ उस कारण का कार्य नहीं हो सकती है, जिसका अस्तित्व ही न हो। यदि मैं अपनी अँगुली आग पर रखता हूँ, तो साथ साथ जलने की क्रिया होती है और मैं जानता हूँ कि जलने का कारण है, मेरा अपनी अँगुली को आग के सम्पर्क में रखना। जहाँ तक प्रकृति की वात है, कभी ऐसा समय नहीं था, जव कि प्रकृति का अस्तित्व न रहा हो, क्योंकि कारण का अस्तित्व सदैव था। परन्तु तर्क के लिए मान लो कि एक ऐसा समय था, जव अस्तित्व नहीं था। तब यह सब पदार्थ-समूह कहाँ था? किसी नयी वस्तु की सृष्टि के लिए विश्व में उतनी ही अधिक और शक्ति को जोड़ना होगा। यह असम्भव है। पुरानी वस्तुओं की पुनर्रचना हो सकती है, किन्तु विश्व में किसी चीज़ को जोड़ा नहीं जा सकता।

"पुनर्जन्म के सिद्धान्त के समर्थन में कोई गणितीय व्याख्या नहीं की जा सकती। तर्कशास्त्र के अनुसार कल्पना एवं परिकल्पना के ऊपर विश्वास नहीं करना चाहिए। परन्तु मेरा मत है कि जीवन के तथ्य की व्याख्या के लिए मानवीय मस्तिष्क द्वारा इससे वढ़कर कोई दूसरी परिकल्पना कभी नही प्रस्तुत की गयी।

"मिनियापोलिस नगर से रवाना होनेवाली एक गाड़ी पर मेरे साथ एक विचित्र घटना हुई। गाड़ी पर एक ग्वाला था। वह नीली नाक की नस्ल का प्रेसविटेरियन और ग्राम्य प्रकार का व्यक्ति था। उसने आकर मुझसे पूछा कि मैं कहाँ का रहनेवाला हूँ। मैंने भारत वताया। 'आप कौन हैं?' उसने कहा।

मैंने उत्तर दिया 'हिन्दू'। तब उसने कहा, 'तुम अवश्य ही नरक में जाओगे।' मैंने उसे इस सिद्धान्त के बारे में बताया और मेरी व्याख्या के बाद उसने कहा कि मेरा इसमें सदैव विश्वास रहा है, क्योंकि उसने बताया कि एक दिन जब वह एक लकड़ी के कुंदे को चीर रहा था, उसकी बहन उसके कपड़े पहनकर आयी और बोली कि वह पहले पुरुष थी। इसी कारण वह आत्मा के जन्मान्तर में विश्वास रखता था। इस सिद्धान्त का समग्र आधार है: यदि किसी आदमी के कार्य अच्छे हैं तो, वह अवश्य ही उच्च कोटि का जन्म लेगा और यही बात विपरीत क्रम से भी होगी।

"इस सिद्धान्त में एक दूसरी सुन्दरता भी है—वह हमें नैतिक प्रेरणा प्रदान करता है। जो हुआ सो हुआ। वह कहता है, 'आह, और अच्छे ढंग से कार्य किया जाता!' अपनी अँगुली आग में न डालो। प्रत्येक क्षण एक नया अवसर है।"

विव कानन्द इसी प्रकार कुछ समय तक बोलते रहे और बार बार लोगो ने करतल-ध्वनि की।

स्वामी विव कानन्द 'ला सैलेट अकादमी' में 'भारत के रीति-रिवाज़' पर आज शाम को ४ बजे पुनः भाषण देंगे।

आत्मा और प्रकृति

धर्म का अर्थ है, आत्मा को आत्मा के रूप में उपलब्ध करना, न कि जड़-द्रव्य के रूप में।

धर्म एक विकास है। हर एक को उसका अनुभव स्वयं करना चाहिए। ईसाई विश्वास करते हैं कि ईसा ने मनुष्यों के परित्राण के लिए प्राण दिये। तुम्हारे लिए यह एक सिद्धान्त में विश्वास करना है। और इस विश्वास से ही तुम्हारी मुक्ति होती है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार कोई भी सिद्धान्त मान सकता है या किसी भी सिद्धान्त को नहीं मान सकता है। ईसा किसी समय-विशेष में थे या नहीं, इससे तुम्हारे लिए क्या अन्तर पड़ता है? तुमको इससे क्या लेना-देना है कि मूसा ने जलती हुई झाड़ी में ईश्वर के दर्शन किये? मूसा ने जलती झाड़ी में ईश्वर-दर्शन किये, उसका अर्थ यह तो नहीं हो जाता कि तुमने दर्शन किये। यदि इसका अर्थ यही हो, तो मूसा ने खाया इतना काफ़ी है कि तुमको खाना बन्द कर देना चाहिए। पहली बात उतना ही अर्थ रखती है, जितना दूसरी। प्राचीन महान् आध्यात्मिक व्यक्तियों के जीवन से हमें कोई लाभ नहीं होता, सिवा इसके कि हम उन्हींकी तरह कार्य करने के लिए प्रेरित हों, धर्म का अनुभव स्वयं करें। ईसा या मूसा या और किसीने जो कुछ किया, उससे हमें कोई मदद नहीं मिलती, केवल आगे बढ़ने की प्रेरणा मिलती है।

प्रत्येक का अपना एक विशेष स्वभाव होता है। उसी तरह वह चलता है और उसी तरह उसे स्वतंत्रता का मार्ग मिलता है। तुम्हारे गुरु को तुम्हें यह बतलाने में समर्थ होना चाहिए कि प्रकृति में कौन सा विशेष मार्ग तुम्हारे लिए उचित है और उसी पर तुम्हें ले जाना चाहिए। तुम्हारा चेहरा देखकर ही गुरु को यह जान लेना चाहिए कि तुम किस पथ के हो और उसी पर तुम्हें अग्रसर कर देना चाहिए। तुम्हें दूसरे के मार्ग पर कभी नहीं जाना चाहिए, चूंकि वह उसका पथ है, तुम्हारा नहीं। जब वह मार्ग मिल जाता है, तो तुम्हें हाथ बाँधे रहने के अतिरिक्त कुछ करना नही रह जाता, वह ज्वार तुम्हें मुक्ति तक ले जायगा। इसलिए जब तुम्हें वह मिले, उससे विचलित न हो। तुम्हारा मार्ग तुम्हारे लिए सर्वोत्तम है, परन्तु इससे यह सिद्ध नही होता कि औरों के लिए भी वह सर्वोत्तम है।

सच्चे अध्यात्मवादी आत्मा को आत्मा की तरह देखते हैं। उसे जड़-द्रव्य नहीं मानते। आत्मा से ही प्रकृति परिचालित होती है, वही प्रकृति के मध्य सत्य है। इसलिए कर्म प्रकृति में है, आत्मा में नहीं। आत्मा सदा समरस, अपरिवर्तित, अनन्त रहती है। आत्मा और जड़-द्रव्य वस्तुतः एक ही हैं; परन्तु आत्मा आत्मतया कभी जड़-द्रव्य नही बनती; और न जड़-द्रव्य कभी आत्मा बनता है।

आत्मा कभी क्रिया नही करती। वह क्यों करे? वह केवल है, और उतना ही काफ़ी है। वह शुद्ध और परम अस्तित्व है, और क्रिया की उसे आवश्यकता नहीं।

तुम नियम से आवद्ध नहीं हो। वह तुम्हारी प्रकृति में है। मन प्रकृति में है और नियम से बँधा है। सारी प्रकृति नियम से बँधी है, अपनी ही क्रिया के नियम से; और यह नियम कभी भंग नहीं किया जा सकता। यदि तुम प्रकृति का नियम भंग कर सको, तो एक क्षण में सारी प्रकृति नष्ट हो जाय। फिर प्रकृति ही न रहे। जो मुक्ति पाता है, प्रकृति का नियम तोड़ता है। उसके लिए प्रकृति पीछे हट जाती है और प्रकृति की शक्ति उस पर नहीं रहती। प्रत्येक व्यक्ति नियम को भंग करेगा, केवल एक बार और सदा के लिए; और इस प्रकार उसका प्रकृति के साथ संघर्ष समाप्त हो जायगा।

सरकारें, समाज आदि सापेक्ष बुराइयाँ हैं। सभी समाज दोषयुक्त सिद्धान्तों पर आधारित हैं। ज्यों ही तुम अपने को एक संगठन में विन्यस्त करते हो, तुम उस संगठन के बाहर के हर व्यक्ति से घृणा करने लगते हो। किसी भी संगठन में सम्मिलित होने का अर्थ है, अपने आप पर बंधन लगाना, अपनी स्वतंत्रता को सीमित करना। सर्वोत्तम शुभ उच्चतम स्वतंत्रता है। हमारा उद्देश्य होना चाहिए, इस स्वतंत्रता की ओर व्यक्ति को बढ़ने की अनुमति देना। जितना अधिक शुभ होगा, उतने ही कम कृत्रिम नियम होंगे। ऐसे नियम नियम ही नहीं। यदि कोई नियम होता, तो वह तोड़ा नहीं जा सकता। सचाई यह है कि ये तथा-कथित नियम तोड़े जाते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि ये नियम नहीं है। नियम वही है, जो तोड़ा न जा सके।

जब कभी तुम एक विचार का दमन करते हो, वह केवल दमन के द्वारा संचित सारी शक्ति के साथ अवसर मिलते ही क्षण भर में पुनः उछल आने के लिए ही कमानी की कुंडली की तरह दबकर दृष्टि से ओझल हो जाता है; और इस प्रकार से कुछ ही क्षणों में वह इतना सब कर डालता है, जिसे करने में वैसे उसे बड़ा समय लगता!

सुख के प्रत्येक तोले के साथ सेर भर दुःख भी आता है। वस्तुतः वही शक्ति है, जो एक समय सुख बनकर व्यक्त होती है, और दूसरे समय पर दुःख बनकर।

ज्यों ही संवेदनाओं की एक सरणि समाप्त हुई, त्यों ही दूसरी शुरू हो जाती है। परन्तु कुछ अधिक विकसित व्यक्तियों में, एक-दो नहीं, एक साथ सैकड़ों विभिन्न विचार एक ही समय सक्रिय रूप से काम कर सकते हैं।

मन अपने ही ढंग की प्रक्रिया है। मन की क्रिया का अर्थ है सर्जन। विचार के पीछे चलते हैं शब्द, और शब्द के पीछे रूप। मन आत्मा को प्रतिबिंबित कर सके, इसके लिए मानसिक और भौतिक दोनों ही प्रकार की सर्जना का समाप्त हो जाना अनिवार्य है।

सृष्टि-रचनावाद का सिद्धान्त

यह कल्पना कि प्रकृति के सारे व्यवस्थित विन्यासों में विश्व के स्रष्टा की कोई पूर्व-योजना (या परिकल्पना) दिखायी देती है, शिशुशाला के बच्चों को परमेश्वर के सौन्दर्य, शक्ति और महिमा को दिखाने के लिए अच्छा पाठ है, जिसके द्वारा वे धर्म के क्षेत्र में ईश्वर की दर्शनसम्मत धारणा तक क्रमशः बढ़ सकें। परन्तु इससे अधिक इसका कोई महत्त्व नहीं, और यह एकदम तर्कहीन जान पड़ती है। यदि ईश्वर को सर्वशक्तिमान माना जाय, तो दार्शनिक विचार के नाते इसकी कोई भित्ति या आधार नहीं।

यदि प्रकृति विश्व के निर्माण में परमेश्वर की शक्ति का प्रमाण है, तो इस कार्य में पूर्व-योजना मानना भी उस ईश्वर की कमजोरी सिद्ध करना है। यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान है, तो उसे पूर्व-योजना की क्या आवश्यकता? कोई भी कार्य करने के लिए उसे रूपरेखा क्यों चाहिए? उसे तो सिर्फ़ इच्छा भर करनी है, और वह पूरी हो जा सकती है। कोई प्रश्न, कोई रूपरेखा, कोई योजना प्रकृति में ईश्वर की नहीं चाहिए।

यह भौतिक जगत् मनुष्य की सीमित चेतना का परिणाम है। जब मनुष्य अपने देवत्व को जान लेता है, तो सब जड़-द्रव्य, सब प्रकृति, जैसा कि हम उसे जानते है, समाप्त हो जाते है।

इस भौतिक जगत् का, जैसा कि हम उसे जानते हैं, सर्वसाक्षिन् की चेतना में कोई स्थान नहीं, किसी भी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह आवश्यक नहीं। यदि ऐसा कोई पूर्वोद्देश्य होता, तो परमेश्वर विश्व से सीमित हो जाता। यह कहना कि प्रकृति उसीकी अनुमति से अस्तित्ववान है, यह अर्थ नही रखता कि उस परमेश्वर के लिए मनुष्य को पूर्ण बनाने के लिए या अन्य किसी कारण से यह प्रकृति आवश्यक है।

यह सृष्टि मनुष्य की आवश्यकता के लिए है, ईश्वर की नही। इस विश्व की योजना में ईश्वर की कोई पूर्व-योजना नहीं। यदि वह सर्वशक्तिमान है, तो वह हो ही कैसे सकती है? कोई भी काम करने के लिए उसे कोई पूर्व-योजना, परिकल्पना, या कारण-विशेष की क्या आवश्यकता है? यह कहना कि ऐसी योजना है, उसे सीमित करना है और उसे अपने सर्वशक्तिमान स्वरूप से वंचित करना है।

उदाहरण के लिए, यदि तुम किसी बड़ी चौड़ी नदी के पास आओ, इतनी चौड़ी कि बिना पुल बनाये तुम उसे पार ही न कर सको, तो यह तथ्य कि तुमको पुल बनाना पड़ेगा और उसके बिना तुम नदी के पार नहीं जा सकते, तुम्हारी सीमा, तुम्हारी कमज़ोरी दिखायेगा, यद्यपि पुल बनाने की योग्यता तुम्हारी शक्ति भी व्यक्त करेगी। यदि तुम सीमित न होते या सहज उड़ सकते या उस पार कूद सकते, तो तुमको पुल बनाने की ज़रूरत नहीं होती; और सिर्फ़ अपनी शक्ति दिखाने के लिए पुल बनाना भी पुनः एक प्रकार की कमज़ोरी होती, चूँकि उससे और कोई गुण नहीं, केवल तुम्हारा अहंकार प्रकट होता।

अद्वैत और द्वैत मूलतः एक ही हैं। अन्तर केवल अभिव्यंजना का है। जैसे द्वैतवादी परम पिता और परम पुत्र को दो मानते हैं; अद्वैतवादी दोनों को एक ही समझते हैं। द्वैत प्रकृति में, रूप में है और अद्वैत शुद्ध अध्यात्म उसके साररूप में है।

त्याग और वैराग्य का भाव सभी धर्मों में है और वह परमेश्वर तक पहुँचने का एक साधन माना गया है।

तुलनात्मक धर्म-विज्ञान

(जनवरी २१, १८९४ ई० का मेम्फ़िस में दिया हुआ व्याख्यान: 'अपील-एवलांश' की रिपोर्ट के आधार पर)

तरुण यहूदी संघ के (यंग मैन्स हिब्रू एसोसिएशन) हॉल में स्वामी विवेकानन्द ने कल रात 'तुलनात्मक धर्म-विज्ञान' पर एक भाषण दिया। यह व्याख्यानमाला का सर्वोत्कृष्ट भाषण था और निस्सन्देह उससे नगर के लोगों में इस विद्वान् के प्रति व्यापक प्रशंसा-भाव जाग्रत हुआ।

अब तक विवेकानन्द किसी न किसी दानार्थी विषय (या संस्था) के निमित्त व्याख्यान देते रहे हैं और यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनके द्वारा उनको आर्थिक सहायता प्राप्त हुई है। लेकिन कल रात, उन्होंने अपने ही निमित्त भाषण दिया। यह भाषण विवेकानन्द के श्री हू ल० ब्रिंकले नामक एक घनिष्ठ मित्र और बहुत अच्छे प्रशंसक ने आयोजित किया था और उन्होंने ही सारा खर्च वहन किया। इस सुविख्यात पूर्वी व्यक्ति को सुनने, इस नगर में अन्तिम बार दो सौ के क़रीब लोग कल रात उस हॉल में आये थे।

अपने व्याख्यान के विषय के सम्बन्ध में पहला प्रश्न जो वक्ता ने प्रतिस्थापित किया, वह था: 'जैसा विभिन्न मतवादों की मान्यता है, धर्मों में क्या वैसा कोई अन्तर है?'

उन्होंने कहा कि अब कोई अन्तर नहीं हैं, और वे सब धर्मो द्वारा की हुई प्रगति का सिंहावलोकन करके उनकी प्रस्तुत स्थिति पर पुनः आ गये। उन्होंने दिखाया कि परमेश्वर की कल्पना के विषय में आदिवासी मनुष्य में भी ऐसा मत-भेद अवश्य रहा होगा। परन्तु ज्यों ज्यों संसार की नैतिक और बौद्धिक प्रगति क्रमशः होती गयी, भेद अधिकाधिक अस्पष्ट होते गये। यहाँ तक कि अन्त में वह पूरी तरह मिट गये, और अब एक ही सर्वव्यापी सिद्धान्त बच रहा—और वह है परम अस्तित्व का।

वक्ता ने कहा, "कोई जंगली आदमी भी ऐसा नहीं मिलता, जो किसी न किसी प्रकार के ईश्वर में विश्वास न करता हो।"

"आधुनिक विज्ञान यह नही कहता कि वह इसे ज्ञान का प्रकटन मानता है या नहीं। वन्य जातियों में प्रेम अधिक नहीं होता। वे त्रास में रहते हैं। उनकी

अन्धविश्वासभरी कल्पना में कोई ऐसी आसुरी शक्ति या दुष्टात्मा का चित्र रहता है, जिसके सामने वे डर और आतंक से काँपते रहते हैं। जो चीज़ उस आदिवासी को प्रिय है, वही उस दुष्ट शक्ति को भी प्रसन्न करेगी, ऐसा वह मानता है। जो कुछ उसे तृप्त करता है, वही उस आत्मा के कोप को भी शान्त करता होगा। इसी उद्देश्य से वह अपने साथी वनवासी के विरुद्ध भी काम करता है।"

इसके वाद वक्ता ने ऐतिहासिक तथ्यों को प्रस्तुत कर यह बताया कि यह वनवासी अपने पितरों की पूजा के बाद हाथी की पूजा करने लगा और बाद में झंझा-तूफ़ान और गर्जन के देवता पूजने लगा। तव संसार का धर्म वहुदेवतावाद था। "सूर्योदय का सौन्दर्य, सूर्यास्त की गरिमा, तारों से जड़ी रात के रहस्यमय रूप और घननाद और विद्युत् की विचित्रता ने इस आदिम मनुष्य को इतना अधिक प्रभावित किया कि वह उसे समझ नहीं सका, और उसने एक अन्य उच्चतर और शक्तिमान व्यक्ति की कल्पना की, जो उसकी आँखों के सामने एकत्र होनेवाली अनन्तताओं को संचालित करता है," विवेकानन्द ने कहा।

वाद में एक और युग आया—एकेश्वरवाद का युग। सभी देवता मानो एक में समाकर खो गये और उसे ईश्वरों का ईश्वर, इस विश्व का स्वामी माना गया। वाद में वक्ता ने इस काल तक आर्य जाति का इतिहास वताया, जहाँ उन्होंने कहा था: "हम परमेश्वर में जीते और चलते है। वही गति है।" इसके वाद एक और युग आया, जिसे दर्शन शास्त्र में 'सर्वेश्वरवाद का युग' कहा जाता है। इस जाति ने वहुदेवतावाद और एकेश्वरवाद को नहीं माना, और इस कल्पना को भी नही माना कि ईश्वर ही विश्व है, और कहा कि 'मेरी आत्मा की आत्मा ही वास्तविक सत् है। मेरी प्रकृति ही मेरा अस्तित्व है और वह मुझ पर अभिव्यक्त होगी।"

विवेकानन्द ने वाद में वौद्ध-धर्म की चर्चा की। उन्होंने कहा कि वौद्ध न तो ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार ही करते हैं, न अस्वीकार। इस विषय में जव बुद्ध से राय माँगी गयी, तो उन्होंने केवल यही कहा: "तुम दुःख देखते हो। तो उसे कम करने का यत्न करो।" वौद्ध के लिए दुःख सदा उपस्थित है, और समाज उसके अस्तित्व की मर्यादा निश्चित करता है। वक्ता ने कहा कि मुसलमान यहूदियों के प्राचीन व्यवस्थान और ईसाइयों के नव व्यवस्थान को मानते हैं। वे ईसाइयों को पसंद नहीं करते, क्योंकि वे नास्तिक हैं, और व्यक्ति-पूजा की शिक्षा देते हैं। मुहम्मद सदा अपने अनुयायियों से कहते थे कि मेरी एक तस्वीर भी अपने पास न रखो।

"दूसरा प्रश्न जो उठता है," उन्होंने कहा, "ये सब धर्म सच हैं, या कुछ धर्म सच हैं, कुछ झूठे हैं? पर सब धर्म एक ही निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि अस्तित्व निरुपाधिक या परम और अनंत है। एकता धर्म का उद्देश्य है। इस दृश्य जगत् का नानात्व जो सब ओर दिखायी देता है, इसी एकता की अनन्त विविधता है। धर्म के विश्लेषण से पता चलता है कि मनुष्य मिथ्या से सत्य की ओर नहीं जाता, परन्तु निम्नतर सत्य से उच्चतर सत्य की ओर जाता है।

"एक आदमी बहुत से आदमियों के पास एक कोट लेकर आता है। कुछ कहते हैं कि यह कोट उनके नहीं आता। अच्छा तुम चले जाओ; तुम कोट नहीं पहन सकते। किसी भी ईसाई पादरी से पूछो कि उसके सिद्धान्त और मतों से न मिलने-जुलनेवाले अन्य पन्थों को क्या हो गया है कि वे तुम्हारे सिद्धान्त और मतों के विरुद्ध हैं, तो वह उत्तर देगा: "ओह, वे ईसाई नहीं है।" परन्तु हमारे यहाँ इससे श्रेष्ठ शिक्षा दी जाती है। हमारा अपना स्वभाव, प्रेम और विज्ञान—हमें अधिक श्रेष्ठ शिक्षा देते हैं। नदी में उठनेवाली लहरियों को हटा दो, पानी रुककर सड़ने लगेगा। मतभेदों को नष्ट कर डालो और विचार मर जायँगे। गति आवश्यक है। विचार मन की गति है, और जब वे रुक जाते हैं, तो मृत्यु शुरू हो जाती है।

"यदि किसी पानी के गिलास की तली में हवा का एक साधारण कण भी रख दो, तो वह ऊपर के अनन्त वातावरण से मिलने के लिए कितना संघर्ष करता है। आत्मा की भी वही दशा है। वह भी छटपटा रही है अपना शुद्धस्वरूप प्राप्त करने के लिए और अपने भौतिक शरीर से मुक्त होने के लिए। वह अपना अनन्त विस्तार पुनः प्राप्त करना चाहती है। सब जगह यही होता है। ईसाइयों, बौद्धों, मुसलमानों, अज्ञेयवादियों या पुरोहितों में आत्मा निरंतर छटपटाती रहती है। एक नदी पर्वत के चक्रिल उत्संगों से होकर हज़ारों मील बहती है, तब जाकर समुद्र को मिलती है और एक आदमी वहाँ खड़ा होकर कहता है कि 'ओ नदी, तुम वापस जाओ और नये सिरे से शुरू करो, कोई और अधिक सीधा रास्ता अपनाओ!" ऐसा आदमी मूर्ख है। तुम वह नदी हो, जो ज़ायन (zion) की ऊँचाइयों से बहती आ रही है। मैं हिमालय की ऊँची चोटियों से बहता आ रहा हूँ। मैं तुमसे नहीं कहता, वापस जाओ और मेरी ही तरह नीचे आओ। तुम ग़लत हो। पर यह ग़लत से अधिक मूर्खता होगी। अपने विश्वासों से चिपटे रहो। सत्य कभी नहीं नष्ट होता, पुस्तकें चाहे नष्ट हो जायँ, राष्ट्र चकनाचूर हो जायँ, लेकिन सत्य सुरक्षित रहता है, जिसे कुछ लोग पुनः उठाते है और समाज को देते हैं, और वह परमेश्वर का महान् अविच्छिन्न साक्षात्कार सिद्ध होता है।

धार्मिक एकता-सम्मेलन

(२४ सितम्बर, १८९३ ई० के 'शिकागो संडे हेराल्ड' में प्रकाशित एक भाषण की रिपोर्ट)

स्वामी विवेकानन्द ने कहा, "इस सभा में जो कुछ कहा गया है, उस सबका सामान्य निष्कर्ष यह है कि मानवीय बंधुता सबसे अधिक अभीष्ट लक्ष्य है। एक ही ईश्वर की संतान होने के नाते यह बंधुता एक स्वाभाविक स्थिति है। इसके सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा चुका है। अब, कुछ ऐसे भी सम्प्रदाय हैं, जो ईश्वर के अस्तित्व को—सगुण परमात्मा को—स्वीकार नहीं करते। यदि हम उन सम्प्रदायों की अवहेलना नहीं करना चाहते। उस दशा में हमारी बंधुता सार्वभौम न होगी। तो हमें अपने मंच को इतना विशाल बनाना होगा कि समस्त मानवता उसके अन्तर्गत समा सके। यहाँ कहा गया है कि हमें अपने भाइयों के साथ अच्छा व्यवहार करना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक बुरे अथवा अधम कार्य की प्रतिक्रिया उसके कर्ता पर होती है। इसमें मुझे बनियागीरी की गंध मिलती है—पहले हम, बाद में हमारे भाई। मेरा विचार है कि चाहे हम ईश्वर के सार्वभौम पिता-भाव में विश्वास करें या न करें, हमें अपने बन्धुओं से प्रेम करना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक धर्म और मत मानव को दिव्य मानता है और तुम्हें इसलिए उसे न सताना चाहिए कि तुम कहीं उसके भीतर के दिव्यत्व को चोट न पहुँचाओ।

कक्षालाप के संक्षिप्त विवरण

संगीत पर

ध्रुपद और ख़याल आदि में एक विज्ञान है। किन्तु कीर्तन अर्थात् माथुर और विरह तथा ऐसी अन्य रचनाओं में ही सच्चा संगीत है—क्योंकि वहाँ भाव है। भाव ही आत्मा है, प्रत्येक वस्तु का रहस्य है। सामान्य लोगों के गीतों में कहीं अधिक संगीत है और उनका संग्रह होना अपेक्षित है। यदि ध्रुपद आदि के विज्ञान का कीर्तन के संगीत में प्रयोग किया जाय, तो इससे पूर्ण संगीत की निष्पत्ति होगी।

आहार पर

तुम दूसरों को मनुष्य बनने का उपदेश देते हो, पर उन्हें अच्छा भोजन नहीं दे सकते। मैं पिछले चार वर्षों से इस समस्या पर विचार कर रहा हूँ। क्या गेहूँ से पिटे हुए चावल (चिउड़ा) जैसी कोई चीज़ बनायी जा सकती है? मैं इस पर प्रयोग करना चाहता हूँ। तब हम प्रतिदिन एक भिन्न प्रकार का भोजन प्राप्त कर सकते हैं। पीने के जल के सम्बन्ध में मैंने एक छन्नी की खोज की जो हमारे देश के उपयुक्त हो सके। मुझे एक कड़ाही जैसा चीनी मिट्टी का बरतन मिला, जिससे पानी निकाला गया और सभी कीटाणु चीनी मिट्टी की कड़ाही में रह गये। किन्तु क्रमशः छन्नी स्वयं सभी प्रकार के कीटाणुओं का जमघट बन जायगी। सभी प्रकार की छन्नियों में यह खतरा रहता है। निरन्तर खोज करने के बाद एक उपाय विदित हुआ, जिससे पानी का अभिस्रावण किया गया और उसमें आक्सीजन लायी गयी। इसके बाद जल इतना शुद्ध हो गया कि इसके प्रयोग के फलस्वरूप स्वास्थ्य में सुधार सुनिश्चित है।

ईसा का पुनरागमन कब होगा?

मैं ऐसी बातों पर विशेष ध्यान नहीं देता। मुझे तो सिद्धान्तों का विवेचन करना है। मुझे तो केवल इसी बात की शिक्षा देनी है कि ईश्वर बार बार आता है, वह भारत में कृष्ण, राम और बुद्ध के रूप में आया और वह पुनः आयेगा।

यह प्रायः दिखाया जा सकता है कि प्रत्येक पाँच सौ वर्ष के पश्चात् दुनिया नीचे जाती है और एक महान् आध्यात्मिक लहर आती है और उस लहर के शिखर पर एक ईसा होता है।

समस्त संसार में एक बड़ा परिवर्तन होनेवाला है और यह एक चक्र है। लोग अनुभव करते हैं कि जीवन पकड़ से बाहर होता जा रहा है। वे किधर जायँगे? नीचे या ऊपर? निस्सन्देह, ऊपर। नीचे कैसे? खाई में कूद पड़ो। उसे अपने शरीर से, जीवन से पाट दो। जब तक तुम जीवित हो, दुनिया को नीचे क्यों जाने दो?

मनुष्य और ईसा में अन्तर

अभिव्यक्त प्राणियों में बहुत अन्तर होता है। अभिव्यक्त प्राणी के रूप में तुम ईसा कभी नही हो सकते। मिट्टी से एक मिट्टी का हाथी बना लो, उसी मिट्टी से एक मिट्टी का चूहा बना लो। उन्हें पानी में डाल दो—वे एक बन जाते है। मिट्टी के रूप में वे निरन्तर एक हैं, गढ़ी हुई वस्तुओं के रूप में वे निरन्तर भिन्न हैं। ब्रह्म ईश्वर तथा मनुष्य दोनों का उपादान है। पूर्ण सर्वव्यापी सत्ता के रूप में हम सब एक है, परन्तु वैयक्तिक प्राणियों के रूप में ईश्वर अनन्त स्वामी है और हम शाश्वत सेवक है।

तुम्हारे पास तीन चीजे है: (१) शरीर (२) मन (३) आत्मा। आत्मा इंद्रियातीत है। मन जन्म और मृत्यु का पात्र है और वही दशा शरीर की है। तुम वही आत्मा हो, पर बहुधा तुम सोचते हो कि तुम शरीर हो। जब मनुष्य कहता है, "मैं यहाँ हूँ", वह शरीर की बात सोचता है। फिर एक दूसरा क्षण आता है, जब तुम उच्चतम भूमिका में होते हो, तब तुम यह नहीं कहते, "मैं यहाँ हूँ।" किन्तु जब तुम्हें कोई गाली देता है अथवा शाप देता है और तुम रोष प्रकट नहीं करते, तब तुम आत्मा हो। "जब मैं सोचता हूँ कि मैं मन हूँ, मैं उस अनन्त अग्नि की एक स्फुलिंग हूँ, जो तुम हो। जब मैं यह अनुभव करता हूँ कि मैं आत्मा हूँ, तुम और मैं एक हूँ"—यह एक प्रभु के भक्त का कथन है। क्या मन आत्मा से बढ़कर है?

ईश्वर तर्क नही करता, यदि तुम्हें ज्ञान हो, तो तर्क ही क्यों करो? यह एक दुर्बलता का चिह्न है कि हम कुछ तथ्यों को प्राप्त करने के लिए कीड़ों की भाँति रेंगते हैं, सिद्धान्तों की स्थापना करते हैं, और अंत में सारी रचना ढह जाती है। आत्मा मन और प्रत्येक वस्तु में प्रतिबिम्बित होती है। आत्मा का प्रकाश ही मन को संवेदनशील बनाता है। प्रत्येक वस्तु आत्मा की अभिव्यक्ति है, मन असंख्य दर्पण हैं। जिसे तुम प्रेम, भय, घृणा, पाप और पुण्य कहते हो, वे सब आत्मा के

प्रतिविम्ब हैं, केवल जव प्रतिविम्व प्रदान करनेवाला बुरा है, तव प्रतिविम्व भी बुरा होगा।

क्या ईसा और बुद्ध एक हैं ?

यह मेरी अपनी कल्पना है कि वही बुद्ध ईसा हुए। बुद्ध ने भविष्यवाणी की थी, "मैं पाँच सौ वर्षो में पुनः आऊँगा और पाँच सौ वर्षो वाद ईसा आये। समस्त मानव प्रकृति की यह दो ज्योतियाँ हैं। दो मनुष्य हुए हैं---बुद्ध और ईसा। यह दो विराट् थे, महान् दिग्गज व्यक्तित्व, दो ईश्वर। समस्त संसार को वे आपस में वाँटे हुए है। संसार में जहाँ कहीं किंचित् भी ज्ञान है, लोग या तो बुद्ध अथवा ईसा के सामने सिर झुकाते हैं। उनके सदृश और अधिक व्यक्तियों का उत्पन्न होना कठिन है, पर मुझे आशा है कि वे आयेंगे। पाँच सौ वर्ष वाद मुहम्मद आये, पाँच सौ वर्ष वाद प्रोटेस्टेण्ट लहर लेकर लूथर आये और अव पाँच सौ वर्ष फिर हो गये। कुछ हज़ार वर्षो में ईसा और बुद्ध जैसे व्यक्तियों का जन्म लेना एक वड़ी वात है। क्या ऐसे दो पर्याप्त नहीं हैं ? ईसा और बुद्ध ईश्वर थे, दूसरे सव पैग़म्बर थे। इन दोनों के जीवन का अध्ययन करो और उनमें प्रकट शान्ति की अभिव्यक्ति को देखो---शान्त और अविरोधी, अकिंचन एवं निःस्व भिक्षु, जेव में एक पाई भी न रखनेवाले, आजीवन तिरस्कृत, नास्तिक और मूर्ख कहे जानेवाले---और सोचो, मानव जाति पर उन्होंने कितना महान् आध्यात्मिक प्रभाव डाला है।

पाप से मोक्ष

अज्ञान से मुक्त होकर ही हम पाप से मुक्त हो सकते है। अज्ञान उसका कारण है, जिसका फल पाप है।

दिव्य माता के पास प्रत्यागमन

जव धाय वच्चे को वगीचे में ले जाती है और उसे खिलाती है, माँ उसे भीतर आने के लिए कहला सकती है। वच्चा खेल में मग्न है और कहता है, "मैं नहीं आऊँगा, खाने की मेरी इच्छा नहीं है।" थोड़ी ही देर में वच्चा अपने खेल से थक जाता है और कहता है, "मैं माँ के पास जाऊँगा।" धाय कहती है, "यह लो नयी गुड़िया।" पर वच्चा कहता है, "अव मुझे गुड़ियों की तनिक भी इच्छा नहीं है। मैं माँ के पास जाऊँगा।" जव तक वह चला नहीं जाता, रोता रहता है। हम सभी वच्चे हैं। ईश्वर माँ है। हम लोग धन, सम्पत्ति और इन सभी चीज़ों की खोज में डूबे हुए हैं; किन्तु एक समय ऐसा आयेगा, जव हम जाग उठेंगे; और

जब यह प्रकृति हमें और खिलौने देने का प्रयत्न करेगी तब हम कहेंगे, "नहीं, मैंने बहुत पाया, अब मैं ईश्वर के पास जाऊँगा।"

ईश्वर से भिन्न व्यक्तित्व नहीं

यदि हम ईश्वर से अभिन्न है और सदैव एक हैं, तो क्या हमारा कोई व्यक्तित्व नहीं है? हाँ, है; वह ईश्वर है। हमारा व्यक्तित्व परमात्मा है। तुम्हारा यह इस समय का व्यक्तित्व वास्तविक व्यक्तित्व नहीं है। तुम सच्चे व्यक्तित्व की ओर अग्रसर हो रहे हो। व्यक्तित्व का अर्थ है अविभाज्यता। जिस दशा में हम हैं, उस दशा को तुम व्यक्तित्व (अविभाज्यता) कैसे कह सकते हो? एक घंटे भर तुम एक ढंग से सोचते हो, दूसरे घंटे में दूसरे ढंग से और दो घंटे पश्चात् अन्य ढंग से। व्यक्तित्व तो वह है, जो बदलता नहीं है। यदि वर्तमान दशा शाश्वत काल तक बनी रहे, तो यह बड़ी भयावह स्थिति होगी। तब तो चोर सदैव चोर ही बना रहेगा और नीच नीच ही। यदि शिशु मरेगा, तो वह शिशु ही बना रहेगा। वास्तविक व्यक्तित्व तो वह है, जो कभी परिवर्तित नहीं होता है और न कभी परिवर्तित होगा ही और वह हमारे अन्तर में निवास करनेवाला ईश्वर है।

भाषा

भाषा का रहस्य है सरलता। भाषा सम्बन्धी मेरा आदर्श मेरे गुरुदेव की भाषा है, जो थी तो नितांत बोल-चाल की भाषा, साथ ही महत्तम अभिव्यंजक भी। भाषा को अभीष्ट विचार को संप्रेषित करने में समर्थ होना चाहिए।

बंगला भाषा को इतने थोड़े समय में पूर्णता पर पहुँचा देने का प्रयास उसे शुष्क और लोचहीन बना देगा। वास्तव में इसमें क्रियापदों का अभाव सा है। माइकेल मधुसूदन दत्त ने अपनी कविता में इस दोष को दूर करने का प्रयत्न किया है। बंगाल के सबसे बड़े कवि कवि कंकण थे। संस्कृत में सर्वोत्कृष्ट गद्य पतंजलि का महाभाष्य है। उसकी भाषा जीवनप्रद है। हितोपदेश की भाषा भी बुरी नहीं, पर कादम्बरी की भाषा ह्रास का उदाहरण है।

बंगला भाषा का आदर्श संस्कृत न होकर पाली भाषा होना चाहिए, क्योंकि पाली बंगला से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। पर बंगला में पारिभाषिक शब्दों को बनाने अथवा उनका अनुवाद करने में संस्कृत शब्दों का व्यवहार उचित है। नये शब्दों के गढ़ने का भी प्रयत्न होना चाहिए। इसके लिए, यदि संस्कृत के कोष से पारिभाषिक शब्दों का संग्रह किया जाय, तो उससे बंगला भाषा के निर्माण में बड़ी सहायता मिलेगी।

कला (१)

यूनानी कला का रहस्य है प्रकृति के सूक्ष्मतम ब्योरों तक का अनुकरण करना, पर भारतीय कला का रहस्य है आदर्श की अभिव्यक्ति करना। यूनानी चित्रकार की समस्त शक्ति कदाचित् मांस के एक टुकड़े को चित्रित करने में ही व्यय हो जाती है, और वह उसमें इतना सफल होता है कि यदि कुत्ता उसे देख ले, तो उसे सचमुच का मांस समझकर खाने दौड़ आये। किंतु, इस प्रकार प्रकृति के अनुकरण में क्या गौरव है? कुत्ते के सामने यथार्थ मांस का एक टुकड़ा ही क्यों न डाल दिया जाय?

दूसरी ओर, आदर्श को---अतीन्द्रिय अवस्था को---अभिव्यक्त करने की भारतीय प्रवृत्ति भद्दे और कुरूप विम्बों के चित्रण में विकृत हो गयी है। वास्तविक कला की उपमा लिली से दी जा सकती है, जो कि पृथ्वी से उत्पन्न होती है, उसीसे अपना खाद्य पदार्थ ग्रहण करती है, उसके संस्पर्श में रहती है, किन्तु फिर भी उससे ऊपर ही उठी रहती है। इसी प्रकार कला का भी प्रकृति से सम्पर्क होना चाहिए---क्योंकि यह सम्पर्क न रहने पर कला का अवःपतन हो जाता है---पर साथ ही कला का प्रकृति से ऊँचा उठा रहना भी आवश्यक है।

कला सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है। प्रत्येक वस्तु कलापूर्ण होनी चाहिए।

वास्तु और साधारण इमारत में अन्तर यह है कि प्रथम एक भाव व्यक्त करता है, जब कि दूसरी आर्थिक सिद्धांतों पर निर्मित एक इमारत मात्र है। जड़ पदार्थ का महत्त्व भावों को व्यक्त कर सकने की उसकी क्षमता पर ही निर्भर है।

हमारे भगवान् श्री रामकृष्ण देव में कला-शक्ति का वड़ा उच्च विकास हुआ था, और वे कहा करते थे कि बिना इस शक्ति के कोई भी व्यक्ति यथार्थ आध्यात्मिक नहीं हो सकता।

कला (२)

कला में ध्यान प्रधान वस्तु पर केन्द्रित होना चाहिए। नाटक सब कलाओं में कठिनतम है। उसमें दो चीज़ों को सन्तुष्ट करना पड़ता है---पहले, कान; दूसरे, आँखें। दृश्य का चित्रण करने में, यदि एक ही चीज़ का अंकन हो जाय, तो काफ़ी है; परन्तु अनेक विषयों का चित्रांकन करके भी केन्द्रीय रस अक्षुण्ण रख पाना बहुत कठिन है। दूसरी मुश्किल चीज़ है मंच-व्यवस्था; यानी विविध वस्तुओं को इस तरह विन्यस्त करना कि केन्द्रीय रस अक्षुण्ण बना रहे।

रचनानुवाद : गद्य – ४

प्राच्य और पाश्चात्य

वर्तमान भारत का बाहरी चित्र

सलिल-विपुला उच्छ्वासमयी नदियाँ, नदी-तट पर नन्दन वन को लजानेवाले उपवन, उनके मध्य में अपूर्व कारीगरी युक्त रत्नखचित गगनस्पर्शी संगमर्मर के प्रासाद; और उनके पास ही सामने तथा पीछे गिरी हुई टूटी-फूटी झोपड़ियों का समूह; इतस्ततः जीर्णदेह छिन्नवस्त्र युगयुगान्तरीण नैराश्य-व्यंजक वदनवाले नर-नारी तथा बालक-बालिकाएँ; कहीं कही उसी प्रकार की कृश गायें, भैंसे और बैल, चारों ओर कूड़े का ढेर—यही है हमारा वर्तमान भारत !

अट्टालिकाओं से सटी हुई जीर्ण कुटियाँ, देवालयों के अहाते में कूड़े का ढेर, रेशमी वस्त्र पहने हुए धनियों के बग़ल में कौपीनधारी, प्रचुर अन्न से तृप्त व्यक्तियों के चारों ओर क्षुधाक्लान्त ज्योतिहीन चक्षुवाले कातर दृष्टि लगाये हुए लोग—यही है हमारी जन्मभूमि !

पाश्चात्य की दृष्टि में प्राच्य

हैज़े का भीषण आक्रमण, महामारी का उत्पात, मलेरिया का अस्थिमज्जा-चर्वण, अनशन, अधिक से अधिक आधा पेट भोजन, बीच बीच में महाकालस्वरूप दुर्भिक्ष का महोत्सव, रोगशोक का कुरुक्षेत्र, आशा-उद्यम-आनन्द एव उत्साह के कंकाल से परिप्लुत महाश्मशान और उसके मध्य में ध्यानमग्न मोक्षपरायण योगी—यूरोपीय पर्यटक यही देखते हैं।

तीस कोटि मानवाकार जीव—बहु शताब्दियों से स्वजाति-विजाति, स्वधर्मी-विधर्मी के दबाव से निपीड़ितप्राण, दाससुलभ परिश्रमसहिष्णु, दासवत् उद्यमहीन, आशाहीन, अतीतहीन, भविष्यत्‌विहीन, वर्तमान में किसी तरह केवल 'जीवित' रहने के इच्छुक, दासोचित ईर्ष्यापरायण, स्वजनोन्नति-असहिष्णु, हताशवत् श्रद्धाहीन, विश्वासहीन, शृगालवत् नीच-प्रतारणा-कुशल, स्वार्थपरता से परिपूर्ण, बलवानों के पद चूमनेवाले, अपने से दुर्बल के लिए यमस्वरूप, बलहीनों तथा आशाहीनों के समस्त क्षुद्र भीषण कुसंस्कारों से पूर्ण, नैतिक मेरुदण्डहीन, सड़े मांस

कहीं दूसरी जगह जाकर क्यों नहीं चरते ? ऐसा तो कर ही नहीं सकोगे, साहस कहाँ है ? इस बूढ़े शिव का अन्न खायेंगे, नमकहरामी करेंगे, और ईसा की जय मनायेंगे। धिक्कार है ऐसे लोगों को, जो यूरोपियनों के सामने जाकर गिड़गिड़ाते हैं कि हम अति नीच हैं, हम बहुत क्षुद्र हैं, हमारा सब कुछ खराब है। पर हाँ, यह बात तुम्हारे लिए ठीक हो सकती है—तुम लोग अवश्य सत्यवादी हो; पर तुम 'अपने' भीतर सारे देश को क्यों जोड़ लेते हो ? ऐ भगवन्, यह किस देश की सभ्यता है ?

प्राच्य का उद्देश्य मुक्ति और पाश्चात्य का धर्म

पहले यह समझना होगा कि ऐसा कोई गुण नहीं है, जिस पर किसी जाति-विशेष का एकाधिकार हो; तब जिस प्रकार एक व्यक्ति में किसी किसी गुण की प्रधानता होती है, वैसा ही जाति के सम्बन्ध में भी होता है।

हमारे देश में मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा प्रधान है, पाश्चात्य देश में धर्म की प्रधानता है। हम मुक्ति चाहते हैं, वे धर्म चाहते हैं। यहाँ 'धर्म' शब्द का व्यवहार मीमांसकों के अर्थ में हुआ है। धर्म क्या है ? धर्म वही है जो इस लोक और परलोक में सुख-भोग की प्रवृत्ति दे। धर्म क्रियामूलक होता है। वह मनुष्य को रात-दिन सुख के पीछे दौड़ाता है तथा सुख के लिए काम कराता है।

मोक्ष किसे कहते हैं ? मोक्ष वह है जो यह सिखाता है कि इस लोक का सुख भी ग़ुलामी है तथा परलोक का सुख भी वही है। इस प्रकृति के नियम के बाहर न तो यह लोक है और न परलोक ही। यह तो ऐसा ही हुआ, जैसे लोहे की जंज़ीर के स्थान पर सोने की जंज़ीर हो। फिर दूसरी बात यह है कि सुख प्रकृति के नियमानुसार नाशवान है, वह अन्त तक नहीं ठहरेगा। अतएव मुक्ति की ही चेष्टा करनी चाहिए तथा मनुष्य को प्रकृति के बन्धन के परे जाना चाहिए, दासत्व में रहने से काम नहीं चलेगा। यह मोक्ष-मार्ग केवल भारत में है, अन्यत्र नहीं। इसलिए जो तुमने सुना है कि मुक्त पुरुष भारत में ही हैं, अन्यत्र नहीं, वह ठीक ही है। परन्तु साथ ही साथ यह भी ठीक है कि आगे चलकर कभी दूसरे देशों में भी ऐसे लोग होंगे और हमारे लिए यह आनन्द का विषय है।

'धर्म' के लोप के कारण भारत की अवनति

भारत में एक समय ऐसा था, जब कि यहाँ धर्म और मोक्ष का सामञ्जस्य था। उस समय यहाँ मोक्षाकांक्षी व्यास, शुक तथा सनकादि के साथ साथ धर्म के उपासक युधिष्ठिर, अर्जुन, दुर्योधन, भीष्म और कर्ण भी वर्तमान थे। बुद्धदेव के बाद धर्म की बिल्कुल उपेक्षा हुई तथा केवल मोक्षमार्ग ही प्रधान बन गया।

इसीलिए अग्निपुराण में रूपक की भाषा में कहा गया है कि जब गयासुर (बुद्ध)[1] ने सभी को मोक्ष-मार्ग दिखलाकर जगत् का ध्वंस करने का उपक्रम किया था, तब देवताओं ने आकर छल किया तथा उसे सदा के लिए शान्त कर दिया। सच बात तो यह है कि देश की दुर्गति, जिसकी चर्चा हम यत्र-तत्र सुनते रहते हैं, उसका कारण इसी धर्म का अभाव है। यदि देश के सभी लोग मोक्ष-धर्म का अनुशीलन करने लगें, तब तो बहुत ही अच्छा हो, परन्तु वह तो होता नहीं, भोग न होने से त्याग नहीं होता, पहले भोग करो, तब त्याग होगा। नहीं तो देश के सब लोग साधु हो गये, न इधर के रहे, और न उधर के। जिस समय बौद्ध राज्य में एक एक मठ में एक एक लाख साधु हो गये थे, उस समय देश ठीक नाश होने की ओर अग्रसर हुआ था। बौद्ध, ईसाई, मुसलमान, जैन सभी का यह एक भ्रम है कि सभी के लिए एक क़ानून और एक नियम है। यह बिल्कुल गलत है; जाति और व्यक्ति के प्रकृति-भेद से शिक्षा-व्यवहार के नियम सभी अलग अलग है; बलपूर्वक उन्हें एक करने से क्या होगा? बौद्ध कहते हैं, मोक्ष के सदृश और क्या है; सब दुनिया मुक्ति-प्राप्ति की चेष्टा करे, तो क्या कभी ऐसा हो सकता है? तुम गृहस्थ हो, तुम्हारे लिए वे सब बातें बहुत आवश्यक नहीं हैं, तुम अपने धर्म का आचरण करो, हिन्दू शास्त्र यही कहते हैं। एक हाथ भी नहीं लाँघ सकते, लंका कैसे पार करोगे। क्या यह ठीक है? दो मनुष्यों का तो पेट भर नहीं सकते, दो आदमियों के साथ राय मिलाकर एक साधारण हितकर काम नहीं कर सकते, पर मोक्ष लेने दौड़ पड़े हो! हिन्दू शास्त्र कहते हैं कि धर्म की अपेक्षा मोक्ष अवश्य ही बहुत बड़ा है, किन्तु पहले धर्म करना होगा। बौद्धों ने इसी स्थान पर भ्रम में पड़कर अनेक उत्पात खड़े कर दिये। अहिंसा ठीक है, निश्चय ही बड़ी बात है; कहने में बात तो अच्छी है, पर शास्त्र कहते हैं, तुम गृहस्थ हो, तुम्हारे गाल पर यदि कोई एक थप्पड़ मारे, और यदि उसका जवाब तुम दस थप्पड़ों से न दो, तो तुम पाप करते हो।

---

१. गयासुर और बुद्धदेव के अभिन्नत्व के सम्बन्ध में स्वामी जी का विचार बाद में परिवर्तित हो गया था। उन्होंने देहत्याग के थोड़े दिन पूर्व वाराणसी से अपने एक शिष्य को जो पत्र (९ फ़रवरी, १९०२) लिख भेजा था, उसमें एक स्थान पर यह लिखा था:—

'अग्निपुराण में गयासुर का जो उल्लेख है, उसमें (जैसा डॉक्टर राजेन्द्रलाल मित्र का मत है) बुद्धदेव की ओर लक्ष्य नहीं किया गया है। वह पूर्व से प्रचलित सिर्फ़ एक क़िस्सा मात्र है। बुद्ध गयाशीर्ष पर्वत पर वास करने गये थे, इससे यह प्रमाणित होता है कि वह स्थान उनके पहले से ही था।'

आततायिनमायान्तम्[1] इत्यादि, हत्या करने के लिए यदि कोई आये, तो ऐसा ब्रह्म-वध भी पाप नहीं है, ऐसा मनुस्मृति में लिखा है। यह ठीक बात है, इसे भूलना न चाहिए। वीरभोग्या वसुन्धरा—वीर्य प्रकाशित करो, साम-दाम-दंड-भेद की नीति को प्रकाशित करो, पृथ्वी का भोग करो, तब तुम धार्मिक होगे। और गाली-गलौज सहकर चुपचाप घृणित जीवन बिताने से यहाँ नरक भोगना होगा और परलोक में भी वही होगा। यही शास्त्र का मत है। सबसे ठीक बात यह है कि स्वधर्म का अनुसरण करो। अन्याय मत करो, अत्याचार मत करो, यथासाध्य परोपकार करो। किन्तु गृहस्थ के लिए अन्याय सहना पाप है, उसी समय उसका बदला चुकाने की चेष्टा करनी होगी। बड़े उत्साह के साथ अर्थोपार्जन कर स्त्री तथा परिवार के दस प्राणियों का पालन करना होगा, दस हितकर बातें करनी होंगी। ऐसा न कर सकने पर तुम मनुष्य किस बात के? जब तुम गृहस्थ ही नहीं हो, फिर मोक्ष की तो बात ही क्या!!

धर्मानुष्ठान से चित्तशुद्धि

पहले ही कह चुका हूँ कि धर्म कार्यमूलक है। धार्मिक व्यक्ति का लक्षण है—सदा कर्मशीलता। इतना ही क्या, अनेक मीमांसकों का मत है कि वेद के जिस प्रसंग में कार्य करने के लिए नहीं कहा गया है, वह प्रसंग वेद का अंग ही नहीं है।

आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यम् अतदर्थानाम्।
(जैमिनीसूत्र १।२।१)

'ॐकार का ध्यान करने से सब कामों की सिद्धि होती है, हरिनाम का जप करने से सब पापों का नाश होता है, शरणागत होने पर सब वस्तुओं की प्राप्ति होती है'। शास्त्र की ये सारी अच्छी बातें सत्य अवश्य हैं, किन्तु देखा जाता है कि लाखों मनुष्य ॐकार का जप करते हैं, हरिनाम लेने में पागल हो जाते हैं, रात-दिन 'प्रभु जो करे' ही कहते रहते हैं, पर उन्हें मिलता क्या है? तब समझना होगा कि किसका जप यथार्थ है? किसके मुँह में हरिनाम वज्रवत् अमोघ है? कौन सचमुच शरण

---

१. गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥ मनु० ॥८।३५०॥
आततायी कौन है:—
अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रोन्मत्तो धनापहः।
क्षेत्रदारहरश्चैतान् षड् विद्यादाततायिनः॥शुक्रनीति॥

में जा सकता है? वही जिसने कर्म द्वारा अपनी चित्तशुद्धि कर ली है, अर्थात् जो 'धार्मिक' है।

प्रत्येक जीव शक्ति-प्रकाश का एक एक केन्द्र है। पूर्व कर्मफल से जो शक्ति संचित हुई है, उसीको लेकर हम लोग जन्मे हैं। जब तक वह शक्ति कार्यरूप में प्रकाशित नहीं होती, तब तक कहो तो कौन स्थिर रहेगा, कौन भोग का नाश करेगा? तब कुत्सित-भोग की अपेक्षा क्या सुन्दर-भोग अच्छा नहीं? कुकर्म की अपेक्षा क्या सुकर्म अच्छा नहीं? पूज्यपाद श्री रामप्रसाद' ने कहा है, 'अच्छी और बुरी दो बातें हैं, उनमें से अच्छी बातें करनी ही उचित है।'

मुमुक्षु और धर्मेच्छु के आदर्श की विभिन्नता

अब 'अच्छा' क्या है? मुक्ति चाहनेवालों का 'अच्छा' एक प्रकार का है और धर्म चाहनेवालों का 'अच्छा' दूसरे प्रकार का। गीता का उपदेश देनेवाले भगवान् ने इसे बड़ी अच्छी तरह समझाया है, इसी महासत्य के ऊपर हिन्दुओं का स्वधर्म और जाति-धर्म आदि निर्भर है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
(गीता १२।१३)

इत्यादि भगवद्वाक्य मुमुक्षुओं के लिए है। और—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ।
(गीता २।३)
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व।
(गीता ११।३३)

पर फिर भी वे गाय और दीवाल ही रह जाती हैं। मनुष्य चोरी करता है, झूठ वोलता है, फिर भी वही मनुष्य देवता हो जाता है। जिस अवस्था में सत्त्वगुण की प्रधानता होती है, उस अवस्था में मनुष्य निष्क्रिय हो जाता है तथा परम ध्याना-वस्था को प्राप्त होता है। जिस अवस्था में रजोगुण की प्रधानता होती है, उस अवस्था में वह अच्छे-वुरे काम करता है तथा जिस अवस्था में तमोगुण की प्रधा-नता होती है, उस अवस्था में फिर वह निष्क्रिय, जड़ हो जाता है। कहो तो वाहर से यह कैसे जाना जा सकता है कि सत्त्वगुण की प्रधानता हुई है अथवा तमोगुण की? सुख-दुःख से परे हम क्रियाहीन, शान्त, सात्त्विक अवस्था में है अथवा शक्ति के अभाव से प्राणहीन, जड़वत् क्रियाहीन, महातामसिक अवस्था में पड़े हुए धीरे धीरे चुपचाप सड़ रहे हैं? इस प्रश्न का उत्तर दो और अपने मन से पूछो। इसका उत्तर ही क्या होगा? वस, फलेन परिचीयते। सत्त्व की प्रधानता में मनुष्य निष्क्रिय होता है, शान्त होता है, पर वह निष्क्रियता महाशक्ति के केन्द्रीभूत होने से होती है, वह शान्ति महावीर्य की जननी है। उस महापुरुष को फिर हम लोगों की तरह हाथ-पाँव डुलाकर काम नही करना पड़ता। केवल इच्छा होने से ही सारे काम सम्पूर्ण रूप से सम्पन्न हो जाते है। वह पुरुष सत्त्वगुण प्रधान ब्राह्मण है, सवका पूज्य है। 'मेरी पूजा करो', ऐसा कहते हुए क्या उसे दरवाज़े दरवाजे घूमना पड़ता है? जगदम्बा उसके ललाट पर अपने हाथ से लिख देती है कि 'इस महापुरुष की सव लोग पूजा करो' और जगत् सिर नीचा करके इसे मान लेता है। वही व्यक्ति सचमुच 'मनुष्य' है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।

और वे जो नाक-भौ सिकोड़कर पिनपिनाते-किटकिटाते हुए वातें करते है, सात दिन के उपासे गिरगिट की तरह जिनकी म्यूँ म्यूँ आवाज़ होती है, जो फटे-पुराने चिथड़े की तरह है, जो सौ सौ जूते खाने पर भी सिर नही उठाते, उन्हीमें निम्नतम श्रेणी का तमोगुण प्रकाशित होता है। यही मृत्यु का चिह्न है। वह सत्त्व-गुण नहीं, सड़ी दुर्गन्ध है। अर्जुन भी इस अवस्था को प्राप्त हो रहे थे। इसीलिए तो भगवान् ने इतने विस्तृत रूप से गीता का उपदेश दिया। देखो तो, भगवान् के श्रीमुख से पहली कौन सी वात निकली —

क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।

और अन्त में —**तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व।**

जैन, वौद्ध आदि के फेरे में पड़कर हम लोग तामसिक लोगों का अनुकरण कर रहे हैं। पिछले हज़ार वर्ष से सारा देश हरिनाम की ध्वनि से नभोमण्डल को परि-

पूर्ण कर रहा है, पर परमात्मा उस ओर कान ही नहीं देता। वह सुने भी क्यों? बेवक़ूफ़ों की बात जब मनुष्य ही नहीं सुनता, तब वह तो भगवान् है। अब गीता में कहे हुए भगवान् के वाक्यों को सुनना ही कर्तव्य है—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ और **तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व।**

प्राच्य जाति ईसा और पाश्चात्य जाति कृष्ण के उपदेश का अनुसरण करती है

अब प्राच्य और पाश्चात्य की ओर आओ। पहले ही एक दुर्भाग्य की ओर ध्यान दो। यूरोपवासियों के देवता ईसा उपदेश देते है कि किसीसे वैर मत करो, यदि कोई तुम्हारे बायें गाल पर चपत मारे तो, उसके सामने दाहिना गाल भी घुमा दो, सारे काम-काज छोड़कर परलोक में जाने के लिए तैयार हो जाओ, क्योंकि दुनिया दो ही चार दिन में नष्ट हो जायगी। और हमारे इष्टदेव ने उपदेश दिया है कि खूब उत्साह से काम करो, शत्रु का नाश करो और दुनिया का भोग करो। किन्तु सब उलटा पुलटा हो गया है। यूरोपियनों ने ईसा की बात नहीं मानी। सदा महारजोगुणी, महाकार्यशील होकर बहुत उत्साह से देश-देशान्तरों के भोग और सुख का आनन्द लूटते हैं और हम लोग गठरी-मोटरी बाँधकर एक कोने में बैठ रात-दिन मृत्यु का ही आह्वान करते है और गाते रहते है—

नलिनीदलगतजलमतितरलं तद्वज्जीवितमतिशयचपलम्।[1]

अर्थात् 'कमल के पत्ते पर पड़ा हुआ जल जितना तरल है, हमारा जीवन भी उतना ही चपल है।' यम के भय से हमारी धमनियों का रक्त ठंडा पड़ जाता है और सारा शरीर काँपने लगता है। इसीसे यम को भी हम पर क्रोध हो गया है और उसने दुनिया भर के रोग हमारे देश में घुसा दिये हैं। गीता का उपदेश कहो किसने सुना? यूरोपियनों ने! ईसा की इच्छा के अनुसार कौन काम करता है? श्री कृष्ण के वंशज! इसे अच्छी तरह समझना होगा। मोक्ष-मार्ग का सर्वप्रथम उपदेश तो वेदों ने ही दिया था। उसके बाद बुद्ध को ही लो या ईसा को ही, सभी ने उसीसे लिया है। वे संन्यासी थे, इसलिए उनके कोई शत्रु नही थे और वे सबसे प्रेम करते थे—

---

१. श्री शंकराचार्यकृत 'मोहमुद्गर' ॥५॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।

यही उन लोगों के लिए अच्छी वात थी। किन्तु वलपूर्वक सारी दुनिया को उस मोक्ष-मार्ग की ओर खींच ले जाने की चेष्टा किसलिए? क्या घिसने-रगड़ने से सुन्दरता और धरने-पकड़ने से कभी प्रेम होता है? जो मनुष्य मोक्ष नहीं चाहता, पाने के उपयुक्त भी नहीं है, उसके लिए कहो तो वुद्ध या ईसा ने क्या उपदेश दिया है?—कुछ भी नही। या तो तुम्हें मोक्ष मिलेगा या तुम्हारा सत्यानाश होगा, वस यही दो वातें हैं। मोक्ष के अतिरिक्त और सारी चेष्टाओं के मार्ग वन्द हैं। इस दुनिया का थोड़ा आनन्द लेने के लिए तुम्हारे पास कोई रास्ता ही नहीं है और क़दम क़दम पर आपद-विपद है। केवल वैदिक धर्म में ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों वर्गो के साधन का उपाय है। वुद्ध ने हमारा सर्वनाश किया और ईसा ने ग्रीस और रोम का। इसके वाद भाग्यवश यूरोपवासी प्रोटेस्टेण्ट (protestant) हो गये। उन लोगों ने ईसा के धर्म को छोड़ दिया और एक गम्भीर साँस लेकर सन्तोष प्रकट किया। भारत में कुमारिल ने फिर कर्म-मार्ग चलाया। शकर, रामानुज ने चारों वर्गो के समन्वयस्वरूप सनातन वैदिक धर्म का फिर प्रवर्तन किया। इस प्रकार देश के वचने का उपाय हुआ। परन्तु, भारत में तीस करोड़ लोग हैं; देर तो होगी ही। क्या तीस करोड़ लोगों को वोध एक दिन में हो सकता है?

वौद्ध धर्म और वैदिक धर्म का उद्देश्य एक ही है। पर वौद्ध धर्म के उपाय ठीक नहीं हैं। यदि उपाय ठीक होते, तो हमारा यह सर्वनाश कैसे होता? 'समय ने सव कराया'—क्या यह कहने से काम चल सकता है? समय क्या कार्य-कारण के सम्बन्ध को छोड़कर काम कर सकेगा?

स्वधर्म की रक्षा ही जातीय कल्याण का उपाय है

अतएव उद्देश्य एक होने पर भी उचित उपायों के अभाव के कारण वौद्धों ने भारत को रसातल में पहुँचा दिया। ऐसा कहने से सम्भवत: हमारे वौद्ध मित्रों को वुरा मालूम होगा, पर मैं लाचार हूँ, सत्य वात कही ही जायगी, परिणाम चाहे जो हो। वैदिक उपाय ही उचित और ठीक है। जाति-धर्म और स्वधर्म ही वैदिक धर्म और वैदिक समाज की भित्ति है। फिर मैं सम्भवत: अनेक मित्रों को कुपित कर रहा हूँ, जो कहते हैं कि इस देश के लोगों की खुशामद की जा रही है। इन लोगों से मैं एक वात पूछना चाहता हूँ कि इस देश के लोगों की खुशामद करके मुझे क्या लाभ होगा? यदि भूखों मर जाऊँ तो देश के लोग खाने के लिए एक मुटठी

अन्न भी नहीं देंगे, उलटे विदेशों से अकाल-पीड़ितों और अनाथों को खिलाने के लिए मैं जो माँग-जाँच लाया हूँ, उसे भी वे हड़पने का प्रत्यन करते हैं। यदि वे उसे नहीं पाते तो गाली-गलौज करते हैं! ऐ हमारे शिक्षित देशवन्धुओ, हमारे देश के लोग तो ऐसे ही हैं, फिर उनकी क्या खुशामद करें?' उनकी खुशामद से क्या मिलता है? उन्हें उन्माद हुआ है। पागलों को जो दवा खिलाने जायगा, उसे वे दो-चार लप्पड़-थप्पड़ देंगे ही। पर उन्हें सहकर भी जो उन्हें दवा खिलाता है, वही उनका सच्चा मित्र है।

यही 'जाति-धर्म', 'स्वधर्म' ही सब देशों की सामाजिक उन्नति का उपाय तया मुक्ति का सोपान है। इस जाति-धर्म और स्वधर्म के नाश के साथ ही देश का अधःपतन हुआ है। किन्तु मँगलू-झँगलू राम जाति-धर्म, स्वधर्म का जो अर्थ समझते हैं, वह उलटा उत्पात है। झँगलू राम ने जाति-धर्म का अर्थ खाक़-पत्थर समझा है। वे अपने गाँव के आचार को ही सनातन वैदिक आचार समझते है। वस अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं और जहन्नुम में जाते हैं। मैं गुणगत जाति की बात न कर वंशगत—जन्मगत जाति की ही बातें कर रहा हूँ। यह मैं मानता हूँ कि गुणगत जाति ही पुरातन है; किन्तु दो-चार पीढ़ियों में गुण ही वंशगत हो जाते हैं। आक्रमण इसी प्राण-केन्द्र पर हुआ है, अन्यथा यह सर्वनाश कैसे हुआ?

संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ।।

(गीता ६।२४)

अर्थात् 'मैं ही वर्णसंकरों को करनेवाला और इतने प्राणियों को नाश करनेवाला वनूँगा।' यह घोर वर्णसंकरता कैसे हो गयी? सफ़ेद रंग काला कैसे हुआ? सत्त्वगुण रजोगुणप्रधान तमोगुण कैसे हो गया?—आदि आदि बातें किसी दूसरे प्रसंग में कही जायँगी। इस समय तो यही समझना है कि यदि जाति-धर्म ठीक रहे, तो देश का अधःपतन नहीं होगा। यदि यह बात सत्य है, तो फिर हमारा अधः-पतन कैसे हुआ? अवश्य ही जाति-धर्म उत्सन्न हो गया है। अतएव जिसे तुम लोग जाति-धर्म कहते हो, वह ठीक उसका उलटा है। पहले अपने पुराण और शास्त्रों को अच्छी तरह पढ़ो, तब समझ में आयेगा कि शास्त्रों में जिसे जाति-धर्म कहा गया है, उसका सर्वथा लोप हो गया है। तब वह फिर कैसे आयेगा, इसीकी चेष्टा करो। ऐसा होने ही से परम कल्याण निश्चित है। मैंने जो कुछ सीखा या समझा है, वही तुमसे स्पष्ट कह रहा हूँ। मैं तो तुम लोगों के कल्याणार्थ कोई विदेश से आया नहीं, जो कि तुम लोगों की वुरी रीति-नीतियों तक की हमें वैज्ञानिक व्याख्या करनी होगी। विदेशी वन्धुओं को क्या? थोड़ी वाहवाही ही उनके लिए यथेष्ट

है। तुम लोगों के मुँह में कालिख पोती जाने से वह कालिख मेरे मुँह पर भी लगती है—उन लोगों का क्या होता है?

जातीय जीवन की मूल भित्ति पर आघात का अवश्यम्भावी फल विप्लव या जातीय मृत्यु

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि प्रत्येक जाति का एक जातीय उद्देश्य है। प्राकृतिक नियमों के अनुसार या महापुरुषों की प्रतिभा के बल से प्रत्येक जाति की रीति-नीति उस उद्देश्य को सफल करने के लिए उपयोगी है। प्रत्येक जाति के जीवन में इस उद्देश्य एवं उसके उपयोगी उपायस्वरूप आचार को छोड़कर और सब रीति-नीति व्यर्थ है। इन व्यर्थ की रीति-नीतियों के ह्रास या वृद्धि से कुछ विशेष बनता-बिगड़ता नहीं। किन्तु, यदि उस प्रधान उद्देश्य पर आघात होता है, तो वह जाति विनष्ट हो जाती है।

तुम लोगों ने अपनी बाल्यावस्था में एक क़िस्सा सुना होगा कि एक राक्षसी का प्राण एक पक्षी में था। उस पक्षी का नाश हुए बिना किसी भी प्रकार उस राक्षसी का नाश नहीं हो सकता था। यह भी ठीक वैसा ही है। तुम यह भी देखोगे कि जो अधिकार जातीय जीवन के लिए सर्वथा आवश्यक नहीं है, वे सब अधिकार नष्ट ही क्यों न हो जायँ, वह जाति इस पर कोई आपत्ति नहीं करेगी। किन्तु जिस समय यथार्थ जातीय जीवन पर आघात होता है, उस समय वह बड़े वेग से प्रतिघात करती है।

फ़्रांसीसी, अंग्रेज़ और हिन्दुओं के दृष्टान्त से उक्त तत्त्व का समर्थन

तीन वर्तमान जातियों की तुलना करो, जिनका इतिहास तुम थोड़ा-बहुत जानते हो—वे हैं फ़्रांसीसी, अंग्रेज और हिन्दू। राजनीतिक स्वाधीनता फ़्रांसीसी जातीय चरित्र का मेरुदण्ड है। फ़्रांसीसी प्रजा सब अत्याचारों को शान्त भाव से सहन करती है। करों के भार से पीस डालो, फिर भी वह चूँ तक न करेगी। सारे देश को ज़बरदस्ती सेना में भर्ती कर डालो, पर कोई आपत्ति न की जायगी। किन्तु जब कोई उनकी स्वाधीनता में हस्तक्षेप करता है, तब सारी जाति पागलों की तरह प्रतिघात करने को तत्पर हो जाती है। कोई व्यक्ति किसीके ऊपर ज़बरदस्ती अपना हुक्म नहीं चला सकता, यही फ़्रांसीसियों के चरित्र का मूलमन्त्र है। ज्ञानी, मूर्ख, धनी, दरिद्र, उच्चवंशीय, नीच वंशज, सभी को राज्य के शासन और सामाजिक स्वाधीनता में समान अधिकार है। इसके ऊपर हाथ डालनेवाले को इसका फल भोगना ही पड़ेगा।

अंग्रेज़ों के चरित्र में व्यवसाय-बुद्धि तथा आदान-प्रदान की प्रधानता है। अंग्रेज़ों की मूल विशेषता है समान भाग, न्यायसंगत विभाजन। अंग्रेज़, राजा और कुलीन जाति के अधिकार को नतमस्तक होकर स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु यदि गाँठ में से पैसा बाहर करना हो, तो वे हिसाब माँगते हैं। राजा है तो अच्छी बात है, उसका लोग आदर करेंगे; किन्तु यदि राजा रुपया चाहे, तो उसकी आवश्यकता और प्रयोजन के सम्बन्ध में हिसाब-किताब समझा-बूझा जायगा, तब कहीं देने की बारी आयेगी। राजा के प्रजा से बलपूर्वक रुपया इकट्ठा करने के कारण वहाँ विप्लव खड़ा हो गया; उन लोगों ने राजा को मार डाला।

हिन्दू कहते हैं कि राजनीतिक और सामाजिक स्वाधीनता बहुत अच्छी चीज है, किन्तु वास्तविक चीज आध्यात्मिक स्वाधीनता अर्थात् मुक्ति है। यही जातीय जीवन का उद्देश्य है। वैदिक, जैन, बौद्ध, द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत सभी इस सम्बन्ध में एकमत हैं। इसमें हाथ न लगाना—नहीं तो सर्वनाश हो जायगा। इसे छोड़कर और चाहे जो कुछ करो, हिन्दू चुप रहेंगे। लात मारो, 'काला' कहो, सर्वस्व छीन लो, इससे कुछ आता-जाता नहीं। किन्तु ज़रा इस दरवाज़े को छोड़ दो। यह देखो, वर्तमान काल में पठान लोग केवल आते-जाते रहे, कोई स्थिर होकर राज्य नहीं कर सका, क्योंकि हिन्दुओं के धर्म पर वे बराबर आघात करते रहे। परन्तु दूसरी ओर मुग़ल राज्य किस प्रकार सुदृढ़ प्रतिष्ठित तथा बलशाली हुआ—कारण यही है कि मुग़लों ने इस स्थान पर आघात नहीं किया। हिन्दू ही तो मुग़लों के सिंहासन के आधार थे। जहाँगीर, शाहजहाँ, दारा शिकोह आदि सभी की माताएँ हिन्दू थीं। और देखो, ज्यों ही भाग्यहीन औरंगजेब ने उस स्थान पर आघात किया, त्यों ही इतना बड़ा मुग़ल राज्य स्वप्न की तरह हवा हो गया। अंग्रेजों का यह सुदृढ़ सिंहासन किस चीज के ऊपर प्रतिष्ठित है? कारण यही है कि किसी भी अवस्था में अंग्रेज उस धर्म के ऊपर हस्तक्षेप नहीं करते। पादरी पुंगवों ने थोड़ा-बहुत हाथ डालकर ही तो सन् १८५७ में हंगामा उपस्थित किया था। अंग्रेज़ जब तक इसको अच्छी तरह समझते तथा इसका पालन करते रहेंगे, तब तक उनका राज्य बना रहेगा। विज्ञ बहुदर्शी अंग्रेज भी इस बात को समझते हैं। लार्ड राबर्ट्स की 'भारतवर्ष में ४१ वर्ष' नामक पुस्तक पढ़ देखो।

अब तुम समझ सकते हो कि उस राक्षसी का प्राण-पखेरू कहाँ है? वह धर्म में है। उसका नाश कोई नहीं कर सका, इसीलिए इतनी आपद-विपद को झेलते हुए भी हिन्दू जाति अभी तक बची है। अच्छा, एक भारतीय विद्वान् ने पूछा है कि इस राष्ट्र के प्राण को धर्म में ही रखने की ऐसी क्या आवश्यकता है? उसे सामाजिक या राजनीतिक स्वतंत्रता में क्यों न रखा जाय, जैसा कि दूसरे राष्ट्रों

में होता है। ऐसी बात कहना तो बड़ा सरल है। यदि तर्क करने के लिए यह मान लें कि धर्म-कर्म सब मिथ्या, झूठ हैं, तो क्या होगा, इस पर विचार करो। अग्नि तो एक ही होती है, पर प्रकाश विभिन्न होता है। उसी एक महाशक्ति का फ़ांसीसियों में राजनैतिक स्वाधीनता के रूप में, अंग्रेज़ों में वाणिज्य-विस्तार के रूप में, और हिन्दुओं के हृदय में मुक्ति-लाभ की इच्छा के रूप में विकास हुआ है। किन्तु इसी महाशक्ति की प्रेरणा से कई शताब्दियों से नाना प्रकार के सुख-दुःखों को झेलते हुए फ़ांसीसी और अंग्रेज़ी चरित्र गठित हुआ है और उसीकी प्रेरणा से लाखों शताब्दियों के आवर्तन में हिन्दुओं के जातीय चरित्र का विकास हुआ है। अब मैं जानना चाहता हूँ कि लाखों वर्षो के हमारे स्वभाव को छोड़ना सरल है अथवा सौ पचास वर्ष के तुम्हारे विदेशी स्वभाव को छोड़ना? अंग्रेज़ मार-काट आदि को भूलकर शान्त-शिष्ट बन धर्मप्राण क्यों नहीं हो जाते?

धर्म के अतिरिक्त और किसी दूसरी चीज़ से भारत के जातीय जीवन की प्रतिष्ठा असम्भव है

वास्तविक बात यह है कि जो नदी पहाड़ से एक हज़ार कोस नीचे उतर आयी हो, वह क्या फिर पहाड़ पर जायगी या जा सकेगी? यदि वह जाने की चेष्टा भी करे, तो परिणाम यही होगा कि इधर-उधर जाकर वह सूख जायगी। वह नदी चाहे जैसे हो समुद्र में जायगी ही, चाहे दो दिन पहले या दो दिन बाद, दो अच्छी जगहों में होकर अथवा दो गन्दी जगहों से गुज़रकर। यदि हमारे इस दस हज़ार वर्ष के जातीय जीवन में भूल हुई, तो इस समय अब तो और कोई उपाय है ही नहीं। इस समय यदि नये चरित्र का गठन किया जाय, तो मृत्यु की ही सम्भावना है।

मुझे क्षमा करो, यदि हम यह कहें कि यह सोचना कि हमारे राष्ट्रीय आदर्श में भूल रही है, निरी मूर्खता है। पहले अन्य देशों में जाओ—अपनी आँखों से देखकर, दूसरों की आँखों के सहारे नहीं—उनकी अवस्था और रहन-सहन का अध्ययन करो। और यदि मस्तिष्क हो, तो उन पर विचार करो, फिर अपने शास्त्रों और पुराने साहित्य को पढ़ो और समस्त भारत की यात्रा करो तथा विभिन्न प्रदेशों में रहनेवाले अधिवासियों के चाल-चलन, आचार-विचार का विस्तीर्ण दृष्टि और उन्नत मस्तिष्क से—बेवकूफ़ों की तरह नहीं—विचार करो; तब समझ सकोगे कि जाति अभी भी जीवित है, धुकधुकी चल रही है, केवल बेहोश हो गयी है। और देखोगे कि इस देश का प्राण धर्म है, भाषा धर्म है तथा भाव धर्म है। तुम्हारी राजनीति, समाजनीति, रास्ते की सफ़ाई, प्लेगनिवारण, दुर्भिक्ष-

पीड़ितों को अन्नदान आदि आदि चिरकाल से इस देश में जैसे हुआ है, वैसे ही होगा—अर्थात् धर्म के द्वारा यदि होगा तो होगा, अन्यथा नहीं। तुम्हारे रोने-चिल्लाने का कुछ भी असर न होगा।

शक्तिमान पुरुष ही सब समाजों का परिचालक है

इसके अतिरिक्त प्रत्येक देश में एक ही नियम है, वह यह कि थोड़े से शक्तिमान मनुष्य जो करते है, वही होता है। बाक़ी लोग केवल भेड़ियावसान का ही अनुकरण करते हैं। मेरे मित्रो! मैंने तुम्हारी पार्लियामेन्ट (parliament), सेनेट (senate), वोट (vote), मेजारटी (majority), बैलट (ballot) आदि सब देखा है; शक्तिमान पुरुष जिस ओर चलने की इच्छा करते हैं, समाज को उसी ओर चलाते है, बाक़ी लोग भेड़ों की तरह उनका अनुकरण करते हैं। तो भारत में कौन शक्तिमान पुरुष है? वे ही जो धर्मवीर है। वे ही हमारे समाज को चलाते हैं, वे ही समाज की रीति-नीति में परिवर्तन की आवश्यकता होने पर उसे बदल देते हैं। हम चुपचाप सुनते है और उसे मानते हैं। किन्तु, यह तो हमारा सौभाग्य है कि बहुमत, वोट आदि के झमेले में नही पड़ना पड़ता।

पाश्चात्य देशों में राजनीति के नाम पर दिन में लूट

यह ठीक है कि वोट, बैलट आदि द्वारा प्रजा को एक प्रकार की जो शिक्षा मिलती है, उसे हम नहीं दे पाते; किन्तु राजनीति के नाम पर चोरों का जो दल देशवासियों का रक्त चूसकर समस्त यूरोपीय देशों का नाश करता है और स्वयं मोटा-ताजा बनता है, वह भी दल हमारे देश में नहीं है। घूस की वह धूम, वह दिन-दहाड़े लूट, जो पाश्चात्य देशों में होती है, यदि भारत में दिखायी पड़े, तो हताश होना पड़ेगा।

घर की जोरू बर्तन माँजे, गणिका लड्डू खाय।
गली गली है गोरस फिरता, मदिरा बैठि बिकाय॥

जिनके हाथ में रुपया है, वे राज्यशासन को अपनी मुट्ठी में रखते हैं, प्रजा को लूटते हैं और उसको चूसते हैं, उसके बाद उन्हें सिपाही बनाकर देश-देशान्तरों में मरने के लिए भेज देते है, जीत होने पर उन्हींका घर धन-धान्य से भरा जायगा, किन्तु प्रजा तो उसी जगह मार डाली गयी! मेरे मित्रो! तुम घबड़ाओ नहीं, आश्चर्य भी मत प्रकट करो!

एक बात पर विचारकर देखो, मनुष्य नियमों को बनाता है, या नियम मनुष्यों को बनाते हैं? मनुष्य रुपया पैदा करता है, या रुपया मनुष्यों को पैदा करता है? मनुष्य कीर्ति और नाम पैदा करता है, या कीर्ति और नाम मनुष्य पैदा करते है?

'मनुष्य' बनो

मेरे मित्रो! पहले मनुष्य बनो, तब तुम देखोगे कि वे सब बाक़ी चीज़ें स्वयं तुम्हारा अनुसरण करेंगी। परस्पर के घृणित द्वेषभाव को छोड़ो और सदुद्देश्य, सदुपाय, सत्साहस एव सद्वीर्य का अवलम्बन करो। तुमने मनुष्य योनि में जन्म लिया है, तो अपनी कीर्ति यहीं छोड़ जाओ।

तुलसी आयो जगत् में, जगत् हँसे तुम रोय।
ऐसी करनी कर चलो, आप हँसे जग रोय॥

अगर ऐसा कर सको, तब तो तुम मनुष्य हो, अन्यथा तुम मनुष्य किस बात के?

पाश्चात्य जाति के गुणों को अपने साँचे में ढालकर लेना होगा

मेरे मित्रो! एक बात तुमको और समझ लेनी चाहिए। हमें अवश्य ही अन्यान्य जातियों से बहुत कुछ सीखना है। जो मनुष्य कहता है कि मुझे कुछ नहीं सीखना है, समझ लो कि वह मृत्यु की राह पर है। जो जाति कहती है कि हम सर्वज्ञ हैं, उसकी अवनति के दिन बहुत निकट हैं! जितने दिन जीना है, उतने दिन सीखना है। पर यह एक बात अवश्य ध्यान में रख लेने की है कि जो कुछ सीखना है, उसे अपने साँचे में ढाल लेना है। अपने असल तत्त्व को सदा बचाकर फिर बाक़ी चीज़ें सीखनी होंगी! खाना तो सब देशों में एक ही है, पर हम पैर समेट कर खाते हैं और यूरोपीय पैर लटकाकर खाते हैं। अब मान लो कि मैं उन्हींकी तरह खाना खाता हूँ, तो क्या मुझे भी उन्हींकी तरह टाँग लटकाकर बैठना पड़ेगा? ऐसा होने से तो निश्चय ही मेरी टाँग यम के गृह की ओर प्रस्थान करेगी! इस दुःख में जो प्राण जायगा, उसका क्या होगा? इसलिए, हमें उनका भोजन पैर समेटकर ही खाना होगा। इसी प्रकार जो कुछ भी विदेशी बातें सीखनी होंगी, उन्हें अपनी बनाकर—पैर समेटकर—अपने वास्तविक जातीय चरित्र की रक्षा कर, तब सीखनी होंगी। मैं जानना चाहता हूँ कि क्या कपड़ा मनुष्य हो जाता है, अथवा मनुष्य कपड़ा पहनता है? शक्तिमान पुरुष चाहे जैसी ही

पोशाक क्यों न पहने, लोग उसका आदर करेंगे, पर मेरे जैसे अहमक़ को एक मोट धोवी का कपड़ा लेकर फिरने पर भी कोई नहीं पूछता।

अब यह भूमिका बहुत बड़ी हो गयी। पर इसे पढ़ लेने से दोनों जातियों की तुलना करना सरल हो जायगा। वे भी अच्छे हैं और हम भी अच्छे हैं। 'काको बन्दौ, काको निन्दौ, दोनों पल्ला भारो ?' हाँ, यह अवश्य है कि भले की भी श्रेणियाँ हैं।

हमारे विचार से तीन चीज़ों से मनुष्य का संगठन होता है—शरीर, मन और आत्मा। पहले शरीर की वात लो, जो सबसे बाहरी चीज़ है।

देखो, शरीर में कितना भेद है—नाक, मुँह, गढ़न, लम्बाई, चौड़ाई, रंग, केश आदि में कितनी विभिन्नताएँ हैं।

वर्णभेद का कारण

आधुनिक पण्डितों का विचार है कि रंग की भिन्नता वर्ण-संकरता से उपस्थित होती है। गर्म देश और ठण्डे देश के भेद से कुछ भिन्नता ज़रूर होती है; किन्तु काले और गोरे का असली कारण पैतृक है। बहुत ठण्डे देशों में भी काले रंग की जातियाँ देखी जाती हैं एवं अत्यन्त उष्ण प्रदेश में भी खूब गोरी जाति बसती है। कनाडानिवासी अमेरिका के आदिम मनुष्य और उत्तरीय ध्रुव प्रदेश की इस्कीमो जाति काली है तथा विषुवत्‌रेखा के पास वोर्नियो, सेलेवीज आदि टापुओं में वसने-वाले आदिम निवासी गौरांग है।

आर्य जाति

हिन्दू शास्त्रकारों के मत से हिन्दुओं के भीतर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीन वर्ण, और चीन, हूण, दरद, पह्लव, यवन एवं खश, ये भारत के बाहर की सारी जातियाँ आर्य हैं। शास्त्रों की चीन जाति तथा वर्तमान चीननिवासी एक ही नहीं है। वे लोग तो उस समय अपने को 'चीनी' कहते भी नहीं थे। चीन नामक एक वड़ी जाति काश्मीर के उत्तर-पूर्व भाग में थी। दरद जाति वहाँ रहती थी, जहाँ इस समय भारत और अफ़गानिस्तान के वीच में पहाड़ी जातियाँ अभी भी रहती हैं। प्राचीन चीन जाति के १०–२० वंशज इस समय भी हैं। दरद स्थान अभी भी विद्यमान है। राजतरंगिणी नामक काश्मीर के इतिहास में बार बार दरद राज्य की प्रभुता का परिचय मिलता है। हूण नामक प्राचीन जाति ने बहुत दिनों तक भारत के उत्तर-पश्चिम भाग में राज्य किया था। इस समय तिव्वती अपने को हूण कहते हैं, किन्तु जान पड़ता है कि वे हियून हैं।

मनु द्वारा उल्लिखित हूण आधुनिक तिब्बती तो हैं नहीं, किन्तु यह हो सकता है कि आर्य, हूण एवं मध्य एशिया से आयी हुई किसी मुग़ल जाति के संमिश्रण से ही वर्तमान तिब्बतियों की उत्पत्ति हुई हो।

प्रजावैलस्की एवं ड्यूक् ड अलियाँ नामक रूसी और फ़्रांसीसी पर्यटकों के मत से, तिब्बत के स्थान स्थान पर इस समय भी आर्यों जैसी मुँह-नाकवाली जाति देखने को मिलती है। यूनानियों को लोग यवन कहते थे। इस नाम के ऊपर वाद-विवाद हो चुका है। अनेक का मत है कि यवन नाम 'योनिया' (Ionia) नामक स्थान के रहनेवाले यूनानियों के लिए पहले-पहल व्यवहृत हुआ था। इसलिए महाराज अशोक की लेखमाला में योन नाम से यूनानी जाति को सम्बोधित किया गया है। इसके बाद योन शब्द से संस्कृत यवन शब्द की उत्पत्ति हुई। हमारे देश के किसी किसी पुरातत्त्ववेत्ता के मत से यवन शब्द यूनानियों का वाचक नहीं है। किन्तु ये सभी मत भ्रामक हैं। यवन शब्द ही आदि शब्द है, क्योंकि केवल हिन्दू ही यूनानियों को यवन कहते थे ऐसा नहीं, वरन् प्राचीन मिस्रनिवासी एव बेबिलोनियानिवासी भी यूनानियों को यवन कहते थे। पहलव शब्द से प्राचीन पारसी लोगों का, जो पहलवी भाषा बोलते थे, बोध होता है। खश शब्द इस समय भी अर्ध सभ्य पहाडी देशवासी आर्य जाति के लिए प्रयुक्त होता है। हिमालय प्रदेश में यह शब्द इसी अर्थ में इस समय भी व्यवहृत होता है। इस प्रकार वर्तमान यूरोपीय खश जाति के वंशज है अर्थात् जो सब आर्य जातियाँ प्राचीन काल में असभ्य अवस्था में थीं, वे सब खश थीं।

आर्य जाति का गठन और वर्ण

आधुनिक पण्डितों के मत से आर्यों का सफ़ेद गुलाबी रंग था, काले या लाल बाल थे, आँख और नाक सीधी थी। माथे की गढ़न, केश के रंग आदि में कुछ भिन्नता थी। दूसरी काली जातियों के साथ संमिश्रण से रंग काला हो जाता था। इनके मत से हिमालय के पश्चिम प्रान्त में रहनेवाली दो-चार जातियाँ पूरी आर्य हैं, अन्य सब मिश्रित जाति हो गयी हैं, नहीं तो काला रंग कैसे हो जाता ? किन्तु यूरोपीय विद्वानों को जान लेना चाहिए कि इस समय भी दक्षिण भारत में ऐसे अनेक लड़के पैदा होते हैं, जिनके केश लाल होते है, किन्तु दो-चार वर्षों के बाद फिर काले हो जाते हैं, एवं हिमालय में बहुतों के केश लाल एवं आँखें नीली अथवा भूरी होती हैं।

हिन्दू और आर्य

पण्डितों को इस विषय पर विवाद करने दो। हिन्दू ही अपने को बहुत दिनों से आर्य कहते आ रहे हैं। शुद्ध हो अथवा मिश्रित, हिन्दुओं का ही नाम आर्य है।

यदि यूरोपीय काला होने से हमें पसन्द नहीं करते हैं, तो कोई दूसरा नाम रख लेने दो, इसमें हमारा क्या विगड़ता है?

प्राच्य और पाश्चात्य की साधारण भिन्नताएँ

चाहे गोरे हों अथवा काले, दुनिया की सब जातियों की अपेक्षा यह हिन्दुओं की जाति अधिक सुन्दर और सुश्रीसम्पन्न है। यह वात मैं अपनी जाति की वड़ाई करने के लिए नही कह रहा हूँ, प्रत्युत् यह जगत् प्रसिद्ध वात है। इस देश में प्रति सैकड़ा जितने स्त्री-पुरुष सुन्दर हैं, उतने और कहाँ हैं? इसके बाद विचार कर देखो, दूसरे देशों में सुन्दर बनने में जो लगता है, उसकी अपेक्षा हमारे देश में कितना कम लगता है; कारण यह है कि हमारा शरीर अधिकांश खुला रहता है। दूसरे देशों में कपड़े-लत्ते से ढककर कुरूपता को बदलकर सुन्दरता वनाने की चेप्टा की जाती है।

हिन्दू सुन्दर हैं, पाश्चात्य का स्वास्थ्य अच्छा है

किन्तु स्वास्थ्य के सम्वन्ध में पाश्चात्य देशवासी हमारी अपेक्षा अधिक सुखी हैं। उन देशों में ४० वर्ष के पुरुष को जवान कहते है—छोकड़ा कहते हैं, ५० वर्ष की स्त्री युवती कहलाती है। अवश्य ही ये लोग अच्छा खाते है, अच्छा पहनते है, देश अच्छा है, एवं सवसे अच्छी वात तो यह है कि वे वाल-विवाह नही करते। हमारे देश में भी जो दो-एक वलवान जातियाँ हैं, उनसे पूछकर देखो, कितनी उम्र में विवाह करते हैं; गोर्खाली, पंजावी, जाट, अफ़ीदी आदि पहाड़ी जातियों से पूछो। इसके वाद शास्त्र को पढ़ देखो—तीस, पचीस और वीस वर्ष में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को क्रमानुसार विवाह करने को लिखा है। आयु, वल, वीर्य आदि में इनमें और हम लोगों में वहुत भेद है। हमारी वल-वुद्धि तीस वर्ष की उम्र पार करते ही शेष हो जाती है और वे लोग उस समय वदन झाड़कर उठ खड़े होते है।

हमारी मृत्यु अधिकांश में उदररोग से, उनकी हृद्रोगों से

हम लोग निरामिष-भोजी हैं—हमें अधिकांश पेट के ही रोग होते हैं। हमारे अधिकतर वूढ़े-वूढ़ी इसी पेट की वीमारी से मरते हैं। वे मांसभोजी हैं, उन्हें अधिकतर हृदय की वीमारी होती है। पाश्चात्य देशों में अधिकतर वूढ़े-वूढ़ी हृद्रोग और फेफड़े की वीमारी से मरते है। एक पाश्चात्य देशीय विद्वान् डॉक्टर पूछते हैं कि क्या पेट की वीमारी से पीड़ित लोग प्रायः निरुत्साह और वैरागी

होते हैं? हृदय आदि शरीर के ऊपरी भाग के रोगों में आशा और पूरा विश्वास रहता है। हैज़े का रोगी आरम्भ से ही मृत्यु के भय से अस्थिर हो जाता है। यक्ष्मा का रोगी मरने के समय भी विश्वास करता है कि उसे आरोग्य-लाभ हो जायगा। अतएव क्या इसीलिए भारतवासी सदा मृत्यु और वैराग्य की बातें कहा करते है? मैं तो अभी तक इस प्रश्न का कोई समुचित उत्तर ही नहीं सोच सका, किन्तु बात विचारणीय है अवश्य।

हमारे देश में दाँत और केश के रोग बहुत कम होते हैं और उस देश में बहुत ही कम लोगों के स्वाभाविक दाँत होते हैं। खल्वाट तो सभी जगह पाये जाते है। हमारी स्त्रियाँ नाक और कान गहना पहनने के लिए छिदवाती हैं। वहाँ की भले घर की स्त्रियाँ आजकल नाक-कान नहीं छिदवातीं, किन्तु कमर को बाँधकर, रीढ़ की हड्डी को मरोड़कर, प्लीहा और यकृत को अपनी जगह से हटाकर, शरीर को ही कुरूप बना डालती हैं। अपने शरीर को सुन्दर बनाने के कारण उन्हें मृत्यु का कष्ट झेलना पड़ता है।

पोशाक

इसके बाद अपनी देह पर कपड़ों की कई परतें डालकर भी शरीर के सौष्ठव का दिखलायी पड़ना आवश्यक है। पाश्चात्य देशीय पोशाक कामकाज करने के लिए अधिक उपयुक्त होती है। धनी लोगों की स्त्रियों की सामाजिक पोशाक को छोड़कर अन्य स्त्रियों की पोशाक भद्दी होती है। हमारी स्त्रियों की साड़ी और पुरुषों के चोग़ा, चपकन और पगड़ी के सौन्दर्य की तुलना इस पृथ्वी पर है ही नहीं। ढीली-ढाली कलीदार पोशाकों का सौन्दर्य तंग और चुस्त पोशाकों में कहाँ? हमारे सभी कपड़े कलीदार और ढीले-ढाले होते हैं, इसलिए उन्हें पहनकर कामकाज नही किया जा सकता। काम करने में वे नष्ट-भ्रष्ट हो जाते है। उनका फ़ैशन कपड़े में है। और हमारा फ़ैशन गहने में। अब थोड़ा थोड़ा हमारा ध्यान कपड़े की ओर भी गया है। स्त्रियों के फ़ैशन के लिए पेरिस और पुरुषों के फ़ैशन के लिए लन्दन केन्द्र हैं। पहले पेरिस को नर्तकियाँ नये नये फ़ैशन निकालती थीं। किसी प्रसिद्ध नर्तकी ने जो पोशाक पहनी, उसीका अनुकरण करने के लिए सब लोग दौड़ पड़ते थे। आजकल कपड़ा बेचनेवाले बड़े बड़े दूकानदार नये फ़ैशन का प्रचार करते हैं। कितने करोड़ रुपया प्रतिवर्ष इस पोशाक बनाने में लगता है, इसे हम समझ नहीं सकते। इन नयी पोशाकों की सृष्टि करना इस समय एक बड़ी कला हो गयी है। किसी स्त्री के शरीर और केश के रंग के साथ किस रंग की पोशाक मेल खायेगी, उसके शरीर का कौन अंग ढकना होगा और कौन खुला रखना पड़ेगा, इत्यादि

बातों पर खूब गम्भीर विचार कर तब पोशाक तैयार करनी पड़ती है। फिर, दो-चार बहुत ऊँची श्रेणी की महिलाएँ जो पोशाक पहनती हैं, वही पोशाक अन्य स्त्रियों को भी पहननी पड़ेगी, नहीं तो उनकी जाति चली जायगी! इसीका नाम फ़ैशन है। फिर भी यह फ़ैशन घड़ी घड़ी बदलता है। वर्ष के चार मौसमों में चार बार बदलना तो आवश्यक है ही, इसके अलावा और भी कितने समय आते हैं, जब पोशाक बदली जाती है। जो बड़े आदमी होते हैं, वे बड़े बड़े दर्जियों से पोशाक बनवाते हैं, किन्तु जो लोग मध्यम श्रेणी के हैं, वे या तो कामचलाऊ सीनेवाली स्त्रियों से नये फ़ैशन के कपड़े सिलवा लेते है, या स्वयं ही सीते हैं। यदि नया फ़ैशन अन्तिम पुराने फ़ैशन से मिलता-जुलता हुआ, तो वे अपने पुराने कपड़े को ही काट-छाँट कर ठीक कर लेते हैं, यदि ऐसा नहीं हुआ, तो नये कपड़े खरीदते हैं। अमीर लोग हर एक मौसम में अपने पुराने कपड़े अपने आश्रितों और नौकरों को दे डालते हैं। मध्यम श्रेणी के लोग उन्हें बेच डालते है। तब वे कपड़े यूरोपियनों के उपनिवेश—अफ़्रीका, एशिया, आस्ट्रेलिया आदि में जाकर बिकते है और पहने जाते है। जो बहुत अमीर होते है, उनके कपड़े पेरिस से बनकर आते हैं, बाक़ी लोग अपने देश में ही उनकी नक़ल कर कपड़े बनवाते हैं। किन्तु स्त्रियों की टोपियाँ तो फ़ान्स की ही बनी होनी चाहिए। जिसके पास फ़ान्स की बनी टोपी नहीं है, वह भद्र महिला नहीं समझी जाती। अंग्रेज़ और जर्मन स्त्रियों की पोशाक अच्छी नहीं समझी जाती। दस-बीस अमीर स्त्रियों को छोड़कर वे पेरिस में बने अच्छे कपड़े नहीं पहनतीं, इसलिए दूसरे देशों की स्त्रियाँ उन पर हँसती हैं। किन्तु बहुत से अंग्रेज़ पुरुष बहुत अच्छे कपड़े पहनते हैं। अमेरिका के सभी स्त्री-पुरुष बहुत सुन्दर कपड़े पहनते है। यद्यपि विदेशी वस्त्रों का आना रोकने के लिए अमेरिका की सरकार पेरिस और लन्दन के कपड़ों पर बहुत अधिक चुंगी लेती है, फिर भी सभी स्त्रियाँ अपने कपड़े पेरिस तथा सभी पुरुष अपने कपड़े लन्दन से ही मँगवाते हैं। तरह तरह के रंग के पश्मीना और बनात तथा रेशमी कपड़े प्रतिदिन निकलते हैं, लाखों व्यक्ति इसी काम में लगे है, लाखों आदमी उसीको काट-छाँट कर पोशाक बनाने में व्यस्त है। पोशाक यदि ठीक ढंग की न हुई, तो सभ्य पुरुष या स्त्री का बाहर निकलना ही कठिन हो जाता है। हमारे देश में कपड़ों के फ़ैशन का यह हंगामा नहीं है, पर गहनों में थोड़ा थोड़ा फ़ैशन घुस रहा है। रेशमी और ऊनी कपड़े के व्यापारी उन देशों में दिन-रात फ़ैशन के परिवर्तनों पर और लोगों को कौन फ़ैशन अधिक पसन्द हुआ, इस सब पर ख़ूब तीखी नज़र रखते हैं, अथवा कोई नया फ़ैशन तैयार कर उस ओर लोगों के मन को आकृष्ट करने की चेष्टा करते हैं। जहाँ एक बार भी अन्दाज़

पक्का वैठ गया कि वह व्यवसायी मालामाल हो गया। जव तृतीय नेपोलियन फ़ान्स देश के सम्राट् थे, उस समय सम्राज्ञी युजेनी (Eugenie) पाश्चात्य देश की वेशभूपा की अधिष्ठात्री देवी समझी जाती थी। उन्हें काश्मीरी शाल वहुत पसन्द था, इसलिए यूरोपवासी प्रतिवर्ष लाखों रुपये का शाल खरीदते थे। नेपोलियन के पतन के पश्चात् फ़ैशन वदल गया और काश्मीरी शालों की खपत यूरोप में रुक गयी। हमारे देश के व्यापारी पुरानी लकीर के फ़क़ीर हैं। वे समयानुसार किसी नये फ़ैशन का आविष्कार कर वाज़ार पर क़व्ज़ा नहीं कर सके, इसलिए काश्मीर के वाज़ार को धक्का लग गया, वड़े वड़े सौदागर ग़रीव हो गये।

मौलिकता के अभाव से हमारी अवनति

यह संसार है—जागेगा सो पायेगा, सोयेगा सो खोयेगा। क्या कोई किसीकी प्रतीक्षा करता है? पाश्चात्य देश के लोग लाभानुकूल परिस्थिति को दस नेत्रों से देखते और दो सौ हाथों से काम करते रहते है। और हम लोग वह काम कभी नही कर सकते, जो शास्त्रों में नहीं लिखा है। कुछ नया काम करने की हमारी शक्ति भी नष्ट हो चुकी है! अन्न विना हाहाकार मच रहा है। पर दोष किसका है? इसके प्रतिकार की तो कुछ भी चेष्टा नहीं होती, लोग केवल चिल्लाते है। अपनी झोपड़ी के वाहर निकलकर क्यों नही देखते कि दुनिया के दूसरे लोग किस प्रकार उन्नति कर रहे हैं। तव हृदय के ज्ञान-नेत्र खुलेंगे। देव और असुर का क़िस्सा तो तुम जानते ही हो। देवता आस्तिक थे—उन्हें आत्मा में विश्वास था, ईश्वर और परलोक में विश्वास करते थे। असुरों का कहना था कि इस जीवन को महत्त्व दो, पृथ्वी का भोग करो, इस शरीर को सुखी रखो। इस समय हम इस वात पर विचार नही कर रहे हैं कि देवता अच्छे थे या असुर। पर पुराणों को पढ़ने से पता चलता है कि असुर ही अधिकतर मनुष्यों की तरह के थे; देवता तो अनेक अंशों में हीन थे। अव यदि कहा जाय कि हिन्दू देवताओं की तथा पाश्चात्य देशवासी असुरों की सन्तान हैं, तो प्राच्य और पाश्चात्य का अर्थ अच्छी तरह समझ में आ जायगा।

शरीर-शुद्धि के सम्वन्ध में प्राच्य और पाश्चात्य की तुलना

पहले शरीर को ही लेकर देखो। वाह्य और आभ्यन्तरिक शुद्धि का ही नाम पवित्रता है। मिट्टी, जल आदि के द्वारा शरीर शुद्ध होता है। दुनिया की ऐसी कोई जाति नहीं है, जिसका शरीर हिन्दुओं के सदृश साफ़ हो। हिन्दुओं के अतिरिक्त

और किसी भी जाति के लोग जल-शौचादि नहीं करते। खैरियत है कि चीन-निवासियों ने पाश्चात्य देशवालों को इस कार्य के लिए काग़ज़ का व्यवहार सिखलाया था। यदि यह कहें कि पाश्चात्य देशवाले नहाते ही नहीं, तो भी कोई हर्ज नहीं। भारत में आने के कारण अंग्रेजों ने अब कहीं अपने देश में स्नान करने की प्रथा चलायी है। फिर भी जो विद्यार्थी विलायत से पढ़कर लौटे हैं, उनसे पूछो कि वहाँ स्नान करने का कितना कष्ट है। जो लोग स्नान करते हैं, वे भी सप्ताह में एक दिन और उसी दिन वे भीतर पहनने का कपड़ा (गंजी, अबबहियाँ आदि) बदलते हैं। अवश्य ही कुछ अमीर लोग आजकल प्रतिदिन स्नान करते हैं। अमेरिकावालों में प्रतिदिन स्नान करनेवालों की संख्या कुछ अधिक है। जर्मनीवाले कभी कभी तथा फ्रांस आदि देश के निवासी तो शायद ही कभी स्नान करते है। स्पेन, इटली आदि गर्म देश हैं, फिर भी वहाँ लोग इससे भी कम स्नान करते हैं। लहसुन बहुत खाते हैं, पसीना बहुत होता है, पर सात जन्म में भी जल का स्पर्श नहीं होता। उनके शरीर की दुर्गन्धि से भूतों के भी चौदह पुरखे भाग जायँगे, भूत तो लड़के-बच्चे है! उनके स्नान का क्या अर्थ है? मुँह, माथा, हाथ धोना—जो अंग बाहर दिखायी पड़ते है और क्या! सभ्यता की राजधानी, रंग-ढंग, भोग-विलास का स्वर्ग, विद्या-शिल्प के केन्द्र पेरिस में एक बार मेरे एक धनी मित्र बुलाकर ले गये। एक क़िले के समान होटल में उन्होंने मुझे ठहराया। राजाओं जैसा खाना मिलता था, किन्तु स्नान का नाम भी नहीं था। दो दिन किसी प्रकार मैंने सहा, फिर मुझसे नहीं सहा गया। तब मैंने अपने मित्र से कहा, "भाई! यह राजभोग तुम्हें ही मुबारक हो। मैं यहाँ से बाहर जाने के लिए व्याकुल हो रहा हूँ। यह भीषण गर्मी, और स्नान करने की कोई व्यवस्था ही नहीं; पागल कुत्ते जैसी मेरी दशा हो रही है।" यह बात सुनकर मेरे मित्र बहुत दुःखी हुए और होटल के कर्मचारियों पर बड़े कुपित हुए। उन्होंने कहा—अब मैं तुम्हे यहाँ नहीं ठहरने दूँगा, चलो कोई दूसरी अच्छी जगह ढूँढ़ी जाय।

बारह प्रधान होटल देखे गये, पर स्नान करने का प्रबन्ध कहीं नहीं था, अलग स्नान करने के स्थान थे, जहाँ चार-पाँच रुपया देकर एक बार स्नान किया जा सकता था। हरे राम, हरे राम! उसी दिन शाम को मैंने एक अखबार में पढ़ा कि एक बुढ़िया स्नान करने के लिए हौज में बैठी और वहीं मर गयी! असल में जीवन में प्रथम बार ही बुढ़िया के अंग का जल से स्पर्श हुआ, और वह स्वर्ग सिधारी! इस बात में कोई अतिशयोक्ति नहीं है। रूसवाले तो सर्वथा म्लेच्छ हैं, तिब्बत से ही म्लेच्छता आरम्भ हो जाती है। हाँ, अमेरिका के प्रत्येक निवास-गृह में स्नानागार और नल रहता है।

किन्तु देखो, हममें और इनमें कितना अन्तर है! हम हिन्दू किसलिए स्नान करते है? अधर्म के डर से; और पाश्चात्य लोग शरीर साफ़ करने के लिए हाथ-मुँह धोते है। हमारे शरीर में चाहे मैल और तेल लगा ही क्यों न रहे, सिर्फ़ ऊपर पानी उड़ेल लेने से हमारा काम चल जाता है। फिर, हमारे दाक्षिणात्य भाई लोग स्नानोपरान्त इतना लम्बा-चौड़ा तिलक लगाते हैं कि उसे झाँवें से भी धोकर साफ़ करना ज़रा टेढ़ी खीर है! हमारे स्नान करने की प्रथा बड़ी सरल है, कही भी डुबकी मार लेने से काम चल जाता है, किन्तु पाश्चात्य देशों में ऐसा नही है। उन्हें एक गाँठ कपड़ा ही खोलना पड़ता है, बटन, हुक और काज का तो कहना ही क्या? हमें शरीर दिखलाने में कोई लज्जा नही है, उनके लिए यह अच्छा नहीं है। किन्तु एक पुरुष को दूसरे पुरुष से कोई लज्जा नहीं होती। बाप बेटे के सामने विवस्त्र हो सकता है, इसमें कोई दोष नहीं। पर स्त्रियों के सामने सिर से पैर तक कपड़ा पहनना ही होगा।

बाह्याचार दूसरे आचारों की तरह कभी कभी अत्याचार या अनाचार हो जाता है। यूरोपियन लोग कहते है कि शरीर सम्बन्धी सब काम बहुत गुप्त रूप से करने चाहिए, बात बहुत ठीक है। शौच आदि की बात दूर रही, लोगों के सामने थूकना भी बहुत अशिष्टता है। खाकर सबके सामने मुँह धोना या कुल्ला करना भी बड़ी लज्जा की बात है। लोक-लज्जा के भय से खा-पीकर चुपचाप मुँह पोंछकर बैठ जाओ, इसका परिणाम दाँतों का सर्वनाश है। यह है सभ्यता के भय से अनाचार। इधर हम लोग दुनिया के लोगों के सामने रास्ते में बैठकर मुँह में हाथ डाल डाल कर मुँह धोते हैं, दाँत साफ़ करते हैं, कुल्ला करते हैं, यह अत्याचार है। अवश्य ही ये सब काम आड़ में करना चाहिए, किन्तु न करना भी अनुचित है।

फिर, देश-भेद के कारण जो कार्य अनिवार्य हैं, उन्हें समाज शान्त रूप से अपना लेता है। हमारे जैसे गरम देश में भोजन करने के समय हम आधा घड़ा पानी पी डालते हैं, फिर हम न डकारें तो क्या करें? किन्तु पाश्चात्य देशों में डकारना बहुत असभ्य काम है। पर खाते खाते जेब से रूमाल निकालकर यदि नाक साफ़ की जाय तो कोई हर्ज नहीं! किन्तु हमारे देश में यह बड़ी घृणित बात है। ठण्डे देशों में बीच बीच में नाक साफ़ किये बिना बैठा ही नही जा सकता।

हम हिन्दू लोग मैले से अत्यन्त घृणा करते हैं, फिर भी हम बहुत मैले रहते है। हमको मैले से इतनी घृणा है कि जिसने मैला छुआ, उसे स्नान करना पड़ेगा। इसीलिए दरवाज़े पर मैले के ढेर को हम सड़ने देते हैं! सिर्फ़ ध्यान इस बात का रहता है कि हम उसे छूते तो नहीं! पर इधर जो नरक-कुण्ड का वास होता है,

उसका क्या? एक अनाचार के भय से दूसरा महाघोर अनाचार! एक पाप से बचने के लिए हम दूसरा गुरुतर पाप करते हैं! जो अपने घर में कूड़े का ढेर रखता है, वह अवश्य ही पापी है, इसमें सन्देह ही क्या है। उसका दण्ड भोगने के लिए उसे न तो दूसरा जन्म ही लेने की आवश्यकता होगी और न बहुत दिनों तक प्रतीक्षा ही करनी होगी।

आहार के सम्बन्ध में प्राच्य और पाश्चात्य आचार की तुलना

हम लोगों की जैसी साफ़ रसोई कहीं भी नहीं है। परन्तु विलायती भोजन-पद्धति की तरह हमारा तरीक़ा साफ़ नहीं है। हमारा रसोइया स्नान करता है, कपड़ा बदलता है, बरतन-भाड़ा, चूल्हा-चौका सब धो-माँजकर साफ़ करता है, नाक, मुँह या शरीर में हाथ छू जाने से उसी समय हाथ धोकर फिर खाद्य पदार्थ में हाथ लगाता है। विलायती रसोइया के तो चौदह पुरखों ने भी कभी स्नान नहीं किया होगा! पकाते पकाते खाने को चखता है और फिर उसी चमचे को बटलोई में डालता है। रूमाल निकालकर भड़ भड़ नाक साफ़ करता है और फिर उसी हाथ से मैदा सानता है! पाखाने से आता है—शौच में काग़ज़ का व्यवहार करता है, हाथ-पैर धोने का नाम तक नहीं लेता; बस उसी हाथ से पकाने लग जाता है! किन्तु वह पहनता है खूब साफ़ कपड़ा और टोपी। एक कठौती में मैदा डालकर दो नंग-धड़ंग आदमी उसे अपने पैरों से कुचलते हैं—इसी तरह मैदा गूँधा जाता है। गर्मी का मौसम—सारे शरीर का पसीना पैर के रास्ते बहकर उसी मैदे में जाता है! जब उसकी रोटी तैयार होती है, तब उसे दूध जैसी साफ़ तौलिया के ऊपर चीनी मिट्टी के बर्तन में सजाकर साफ़ चद्दर बिछे हुए टेबुल के ऊपर, साफ़ कपड़े पहने हुए कुहनी तक हाथ में साफ़ दस्ताना चढाये हुए नौकर लाकर सामने रख देता है! शायद कोई चीज़ हाथ से छूनी पड़े, इसीलिए कुहनी तक दस्ताना पहने रहता है।

हम लोगों के यहाँ स्नान किये हुए ब्राह्मण-देवता, धोये-माँजे हुए बर्तन में शुद्ध होकर पकाते हैं और गोबर से लिपी हुई ज़मीन पर थाली रखते है; ब्राह्मण-देवता के कपड़े पसीने से मैले हो जाते हैं, उनमें से बदबू निकलने लगती है। कभी कभी केले का पत्ता फटा होने से मिट्टी, मैला, गोबर युक्त रस एक अपूर्व आस्वाद उपस्थित करता है!!

हम लोग स्नान तो करते हैं, पर तेल लगा हुआ मैला कपड़ा पहनते हैं और यूरोप में मैले शरीर पर बिना स्नान किये हुए खूब साफ़-सुथरी पोशाक पहनी जाती है। इसे ही अच्छी तरह समझो, यहीं पर ज़मीन-आसमान का अन्तर है—हिन्दुओं

की जो अन्तर्दृष्टि है, वह उनके सभी कार्यों में बराबर परिलक्षित होती है। हिन्दू फटी गुदड़ी में कोहनूर रखते हैं, विलायतवाले सोने के वक्स में मिट्टी का ढेला रखते है। हिन्दुओं का शरीर साफ़ होने से ही काम चल जाता है, कपड़ा चाहे जैसा ही क्यों न हो। विलायतवालों का कपड़ा साफ़ होने से ही काम चलता है, शरीर मैला भी रहे, तो क्या हर्ज ! हिन्दुओं का घर-द्वार धो-माँजकर साफ़ रखा जाता है, चाहे उसके वाहर नरक का कूड़ा ही क्यों न हो ! विलायतवालों की फ़र्श पर झकझकाती क़ालीन (एक प्रकार की दरी) पड़ी रहती है, कूड़ा-कर्कट उसके नीचे ढँका रहने से ही काम चल जाता है ! हिन्दुओं का पनाला रास्ते पर रहता है, जिससे वहुत दुर्गन्ध फैलती है। विलायतवालों का पनाला रास्ते के नीचे रहता है—जो सन्निपात ज्वर का घर है ! हिन्दू भीतर साफ़ रखते हैं; विलायतवाले वाहर साफ़ रखते है।

क्या चाहिए ? साफ़ शरीर पर साफ़ कपड़े पहनना। मुँह धोना, दाँत माँजना, सव चाहिए—पर एकान्त में। घर साफ़ चाहिए। रास्ता-घाट भी साफ़ हो। साफ़ रसोइया, साफ़ हाथों से पका भोजन, साफ़-सुथरे मनोरम स्थान में साफ़ किये हुए वर्तन में खाना चाहिए।

आचारः प्रथमो धर्मः।

(मनु० १।१०८)

'आचार ही पहला धर्म है', आचार की पहली वात है सव विषयों से साफ़-सुथरा रहना। आचारभ्रष्ट से क्या कभी धर्म होता है ? अनाचारी का दुःख नहीं देखते हो, देखकर भी नहीं सीखते हो ? इतनी महामारी, हैजा, मलेरिया किसके दोष से होता है ? हमारे दोष से। हमीं महा अनाचारी हैं।

आहार शुद्ध होने से मन शुद्ध होता है। मन शुद्ध होने से आत्मा सम्वन्धी अचला स्मृति होती है (सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः)—इस शास्त्रवाक्य को हमारे देश में सभी सम्प्रदायों ने माना है। किन्तु, शंकराचार्य ने आहार शब्द का अर्थ 'इन्द्रियजन्य ज्ञान' और रामानुजाचार्य ने 'भोज्य द्रव्य' किया है। सर्ववादी-सम्मत सिद्धान्त यही है कि दोनों ही अर्थ ठीक हैं। विशुद्ध आहार न होने से सव इन्द्रियाँ ठीक ठीक काम कैसे करेंगी ? खराव आहार से सव इन्द्रियों की ग्रहण-शक्ति का ह्रास एवं विपर्यय हो जाता है, यह वात सवों को भली-भाँति मालूम है। अजीर्ण दोष से एक चीज़ में दूसरी चीज़ का भ्रम होता है और आहार के अभाव से दृष्टि आदि शक्तियों का ह्रास होता है, यह भी सव जानते है। इसी तरह कोई विशेष भोजन किसी विशेष शारीरिक एवं मानसिक अवस्था को उत्पन्न

करता है, यह बात स्वयंसिद्ध है। हमारे समाज में जो इतना खाद्याखाद्य का विचार है, उसकी जड़ में भी यही तत्त्व है, यद्यपि हम अनेक विषयों में मुख्य वस्तु को भूलकर सिर्फ़ छिलके को ही लेकर बहुत कुछ उछल-कूद मचाते हैं।

रामानुजाचार्य ने खाद्य पदार्थ के सम्बन्ध में तीन दोषों से बचने के लिए कहा है। जाति-दोष—अर्थात् जो दोष खाद्य पदार्थ का जातिगत हो, जैसे प्याज़, लहसुन आदि उत्तेजक पदार्थ खाने से मन में अस्थिरता आती है अर्थात् बुद्धि भ्रष्ट होती है। आश्रय-दोष—अर्थात् जो दोष व्यक्तिविशेष के स्पर्श से आता है। दुष्ट लोगों का अन्न खाने से दुष्ट बुद्धि होगी ही। और भले आदमी का अन्न खाने से भली बुद्धि का होना इत्यादि। निमित्त-दोष—अर्थात् मैला, दूषित, कीड़े, केशयुक्त अन्न खाने से भी मन अपवित्र होता है। इनमें से जाति-दोष और निमित्त-दोष से बचने की चेष्टा सभी कर सकते हैं, किन्तु आश्रय-दोष से बचना सबके लिए सहज नहीं है। इसी आश्रय-दोष से बचने के लिए ही हमारे देश में छुआछूत का विचार है। अनेक स्थानों पर इसका उलटा अर्थ लगाया जाता है और असली अभिप्राय न समझने से यह एक कुसंस्कार भी हो गया है। यहाँ लोकाचार को छोड़कर लोकमान्य महापुरुषों के ही आचार ग्रहणीय है। श्री चैतन्य देव आदि जगद्गुरुओं के जीवन-चरित्र को पढ़कर देखो, वे लोग इस सम्बन्ध में क्या व्यवहार कर गये हैं। जाति-दोष से दूषित अन्न के सम्बन्ध में भारत जैसा शिक्षा-स्थल पृथ्वी पर इस समय और कहीं नहीं है। समस्त संसार में हमारे देश के सदृश पवित्र द्रव्यों का आहार करनेवाला और दूसरा कोई भी देश नहीं है। निमित्त-दोष के सम्बन्ध में इस समय बड़ी भयानक अवस्था उपस्थित हो गयी है। हलवाइयों की दूकान, बाज़ार में खाना, आदि सब कितना महा अपवित्र है, देखते ही हो। अनेक प्रकार के निमित्त-दोष से दूषित वहाँ की सामग्रियाँ होती हैं। इसका फल यही है—यह जो घर घर में अजीर्ण होता है, वह इसी हलवाई की दूकान और बाज़ार में खाने का फल है। यह जो पेशाब की बीमारी का प्रकोप है, वह भी हलवाई की दूकान का फल है। गाँव के लोगों को तो अजीर्ण और पेशाब की इतनी बीमारी नहीं होती, इसका प्रधान कारण है पूरी, कचौड़ी और विषाक्त लड्डुओं का अभाव। इस बात को आगे चलकर अच्छी तरह समझायेंगे।

सामिष और निरामिष भोजन

यह तो हुआ खाने-पीने के सम्बन्ध में प्राचीन साधारण नियम। इस नियम के सम्बन्ध में भी फिर कई मतामत प्राचीन काल में चलते थे और आज भी चल रहे हैं। प्रथमतः प्राचीन काल से आधुनिक काल तक सामिष और निरामिष भोजन

पर महाविवाद चल रहा है। मांस-भोजन उपकारक है या अपकारक, इसके अलावा जीव-हत्या न्यायसम्मत है या अन्याय, यह एक बहुत बड़ा वितण्डावाद बहुत दिनों से चला आ रहा है। एक पक्ष कहता है, किसी कारण से भी हत्या रूपी पाप करना उचित नहीं, पर दूसरा पक्ष कहता है कि अपनी बात दूर रखो, हत्या न करने से प्राण धारण हो नहीं हो सकता। शास्त्रवादियों में महा गोलमाल है। शास्त्र में एक स्थान पर कहा जाता है कि यज्ञस्थल में हत्या करो और दूसरे स्थान पर कहा जाता है कि जीव-हत्या मत करो। हिन्दुओं का सिद्धान्त है कि यज्ञ-स्थल को छोड़कर किसी दूसरे स्थान पर जीव-हत्या करना पाप है। किन्तु यज्ञ करके आनन्दपूर्वक मांस-भोजन किया जा सकता है। इतना ही नहीं, गृहस्थों के लिए ऐसे अनेक नियम हैं कि अमुक अमुक स्थान पर हत्या न करने से पाप होगा —जैसे श्राद्धादि। उन सब स्थानों पर निमंत्रित होकर मांस न खाने से पशुजन्म होता है—ऐसा मनु ने लिखा है। दूसरी ओर जैन, बौद्ध और वैष्णव कहते हैं कि हम तुम्हारा शास्त्र नहीं मानते, हत्या किसी प्रकार भी नहीं की जा सकती। बौद्ध सम्राट् अशोक की आज्ञा थी—'जो यज्ञ करेगा एवं निमन्त्रण देकर मांस खिलायेगा, वह दण्डित होगा।' आधुनिक वैष्णव कुछ असमंजस में पड़े हैं। उनके उपास्य देवता राम और कृष्ण मद-मांस आदि उड़ा रहे हैं—यह रामायण और महाभारत में लिखा है।[1] सीतादेवी ने गंगा जी को मांस, भात और हज़ार कलसी मद्य चढ़ाने की मनौती मानी थी। वर्तमान काल में लोग शास्त्र की बातें भी नहीं मानते और महापुरुष का कहा हुआ है, ऐसा कहने से भी नहीं सुनते।

---

१. सीतामादाय बाहुभ्यां मधुमैरेयकं शुचि।
पाययामास काकुत्स्थः शचीमिन्द्रो यथाऽमृतम्।।
मांसानि च सुमिष्टानि विविधानि फलानि च।
रामस्याभ्यवहारार्थं किंकरास्तूर्णमाहरन्।।
—रामायण ।।उत्तर० ।।५२।।

सुराघटसहस्रेन मांसभूतौदनेन च।
यक्ष्ये त्वां प्रीयतां देवी पुरीं पुनरुपागता।।
—रामायण ।।अयोध्या० ।।५५।।

उभौ मध्वासवक्षिप्तौ उभौ चंदनचर्चितौ।
उभौ पर्यंकरथिनौ दृष्टौ मे केशवार्जुनौ।।
—महाभारत ।।आदिपर्व।।

इधर पाश्चात्य देशों में यह विवाद हो रहा है कि मांस खाने से रोग होता है एवं निरामिष भोजन करने से नीरोग रहते हैं। एक पक्ष कहता है कि मांसाहारी रोगी होता है। दूसरा दल कहता है कि यह सब झूठ बात है, यदि ऐसा होता तो हिन्दू नीरोग होते और अंग्रेज़, अमेरिकन आदि प्रधान मांसाहारी जातियाँ इतने दिनों में रोग से मटियामेट हो गयी होतीं। एक पक्ष कहता है कि बकरा खाने से बकरे जैसी बुद्धि हो जाती है, सूअर खाने से सूअर जैसी बुद्धि होती है, मछली खाने से मछली जैसी होती है; दूसरा पक्ष कहता है, गोभी खाने से गोभी जैसी बुद्धि होती है, आलू खाने से आलू जैसी बुद्धि होती है और भात खाने से भात-बुद्धि होती है—जड़ बुद्धि की अपेक्षा चैतन्य बुद्धि होना अच्छा है। एक पक्ष कहता है कि जो भात-दाल है, वही मांस भी है। दूसरा पक्ष कहता है कि हवा भी तो वही है, फिर तुम हवा खाकर क्यों नहीं रहते? एक पक्ष कहता है कि निरामिष होकर भी लोग कितना परिश्रम करते है। दूसरा पक्ष कहता है कि यदि ऐसा होता तो निरामिषभोजी जाति ही प्रधान होती, किन्तु चिरकाल से मांसभोजी जाति ही बलवान और प्रधान है। मांसाहारी कहते हैं कि हिन्दुओं और चीनियों को देखो, खाने को नहीं मिलता, साग-भात खाकर जान देते हैं, इनकी दुर्दशा देखो। जापानी भी ऐसे ही थे। मांस खाना आरम्भ करने से ही उनकी जीवनधारा बदल गयी है।

भारत में डेढ़ लाख हिन्दुस्तानी सिपाही हैं, उनमें देखो, कितने निरामिष भोजन करते हैं? अच्छे सिपाही गोरखा या सिक्ख होते हैं, देखो तो भला कौन कब निरा-मिषभोजी था! एक पक्ष कहता है कि मांस खाने से बदहज़मी होती है, और दूसरा कहता है कि यह सब ग़लत है, निरामिषभोजियों को ही इतने पेट के रोग होते है। एक पक्ष कहता है कि तुम्हारा कोष्ठ-शुद्धि का रोग साग-भात खाने से जुलाब लेने की तरह अच्छा हो जाता है। ऐसा कहकर क्या सारी दुनिया को वैसा ही बनाना चाहते हो? सारांश यह है कि बहुत दिनों से मांस खानेवाली जातियाँ ही युद्ध-वीर और चिन्तनशील हैं। मांस खानेवाली जातियाँ कहती है कि जिस समय यज्ञ का धुआँ सारे देश से उठता था, उस समय हिन्दुओं में बड़े बड़े दिमाग़वाले पुरुष होते थे। जब से यह बाबा जी का तरीक़ा हुआ, तब से एक आदमी भी वैसा नहीं पैदा हुआ। इस प्रकार डर से मांसभोजी मांस खाना छोड़ना नहीं चाहते। हमारे देश में आर्यसमाजियों में यही विवाद चल रहा है। एक पक्ष कहता है कि मांस खाना अत्यन्त आवश्यक है, दूसरा कहता है कि मांस खाना सर्वथा अन्याय है। यही वाद-विवाद चल रहा है। सब पक्षों की राय जान-सुनकर मेरी तो यही राय होती है कि हिन्दू ही ठीक रास्ते पर हैं। अर्थात् हिन्दुओं की यह जो व्यवस्था है कि जन्म-कर्म के भेद से आहार आदि में भिन्नता होगी, यही ठीक सिद्धान्त है।

मांस खाना अवश्य असभ्यता है। निरामिष भोजन ही पवित्र है। जिनका उद्देश्य धार्मिक जीवन है, उनके लिए निरामिष भोजन अच्छा है और जिसे रात-दिन परिश्रम करके प्रतिद्वन्द्विता के बीच में जीवन-नौका खेना है, उसे मांस खाना ही होगा। जितने दिन 'बलवान की जय' का भाव मानव-समाज में रहेगा, उतने दिन मांस खाना ही पड़ेगा अथवा किसी दूसरे प्रकार की मांस जैसी उपयोगी चीज खाने के लिए ढूंढ़ निकालनी होगी। नही तो बलवानों के पैर के नीचे बलहीन पिस जायँगे। राम, श्याम निरामिष खाकर मजे में हैं, ऐसा कहने से नहीं चलेगा। एक जाति की दूसरी जाति से तुलना करके देखना होगा।

फिर निरामिषभोजियों में भी विवाद होता है। एक पक्ष कहता है कि चावल, आलू, गेहूँ, जौ, मकई आदि शर्कराप्रधान खाद्य किसी भी काम के नहीं हैं। उन सबको मनुष्य ने बनाया है, उन्हे खाने से रोग होते हैं। शर्करा-उत्पादक (starchy) भोजन रोग का घर है। घोड़ा, गाय आदि को घर में रखकर चावल, गेहूँ खिलाने से वे रोगी हो जाते है और मैदान में छोड़ देने से हरी घास खाने पर उनका रोग चला जाता है। घास, साग, पात आदि हरी चीजों में शर्करा-उत्पादक पदार्थ बहुत कम हैं। वनमानुष जाति बादाम और घास खाती है, आलू, गेहूँ नहीं खाती और यदि खाती भी है, तो कच्चे रूप में, जब 'स्टार्च' (starch) अधिक नही होता। यहाँ सब तरह का यथेष्ट विवाद चल रहा है। एक पक्ष कहता है कि पका हुआ मांस, फल और दूध यही भोजन दीर्घ जीवन के लिए उपयोगी है। विशेष फल खानेवाला बहुत दिनों तक नौजवान रहेगा। कारण, फल की खटाई हाथ-पैर में मोर्चा नहीं लगने देती।

अब सर्वसम्मत सिद्धान्त यह है कि पुष्टिकारक और शीघ्र हज़म होनेवाला भोजन खाना चाहिए। कम आयतन का पुष्टिकारक एवं सुपाच्य भोजन करना चाहिए। जिसे खाने से पुष्टि कम होती है, उसे अधिक परिमाण में खाना पड़ता है। इसलिए उसके पचने में सारा दिन लग जाता है। यदि भोजन को हज़म करने में ही सारी शक्ति लग जाय, तो फिर दूसरा काम करने की शक्ति कहाँ रहेगी ?

हमारे देश के खाद्य पदार्थ की आलोचना

तली हुई चीजें असली जहर है। हलवाई की दूकान यम का घर है। घी-तेल गरम देश में जितना कम खाया जाय, उतना ही अच्छा है। घी की अपेक्षा मक्खन जल्दी हज़म होता है। मैदे में कुछ भी नहीं है, सिर्फ देखने ही मे सफ़ेद है। जिसमें गेहूँ का सार भाग हो, वही आटा खाना चाहिए। हमारे बंगाल देश में इस समय भी दूर के छोटे छोटे गाँवों में जो भोजन का बन्दोबस्त है, वही अच्छा है। किस

प्राचीन वंगाली कवि ने पूरी-कचौड़ी का वर्णन किया है? यह पूरी-कचौड़ी तो पश्चिम प्रान्त से आयी है, वहाँ भी लोग वीच वीच में उन्हें खाते हैं, हर रोज़ 'पक्की रसोई' खानेवालों को तो मैंने नहीं देखा है। मथुरा के चौवे कुश्तीवाज़ होते हैं, लड्डू और कचौड़ी उन्हें अच्छी लगती है। दो ही चार वर्षों में चौवे जी की पाचन-शक्ति का सर्वनाश हो जाता है, फिर तो चौवे जी चूरन खा खाकर मरते हैं।

गरीवों को भोजन नहीं मिलता, इसलिए वे भूखे ही मरते हैं और धनी अखाद्य खाकर मरते हैं। अखाद्य वस्तुओं से पेट भरने की अपेक्षा उपवास ही अच्छा है। हलवाई की दूकान पर खाने लायक़ कोई चीज़ नहीं होती, वहाँ के सव पदार्थ एकदम विष है। पहले लोग कभी कभी इन्हें खाते थे, इस समय तो शहर के लोग—विशेषकर वे परदेशी जो शहर में वास करते हैं—इन्हें ही खाते हैं। इनसे अजीर्ण होकर यदि अकाल मृत्यु हो जाय, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? खूव भूखे होने पर भी कचौड़ी-जलेवी को फेंककर एक पैसे की लाई मोल लेकर खाओ। किफ़ायत भी होगी और कुछ खाया, ऐसा भी होगा। भात, दाल, रोटी, मछली, तरकारी और दूध यथेष्ट भोजन हैं; किन्तु दाल दक्षिणियों जैसी खाना उचित है अर्थात् दाल का सिर्फ़ पानी ही लेना और वाक़ी सव गाय को दे देना चाहिए। यदि पैसा हो तो मांस भी खा सकते हो, किन्तु भिन्न भिन्न प्रकार के पश्चिमी गरम मसालों को विना मिलाये हुए। मसाला खाने की चीज़ नहीं है—केवल आदत के ही कारण हम उसे खाते हैं। दाल वहुत पुष्टिकर खाद्य है, किन्तु वहुत देर में हज़म होती है। हरी मटर की दाल वहुत ही जल्द हज़म होती है और खाने में भी वहुत स्वादिष्ट होती है। राजधानी पेरिस में हरी मटर का 'सूप' वहुत विख्यात है। कच्ची मटर की दाल को खूव सिझाकर फिर उसे पीसकर जल में घोल दो। फिर एक दूध छानने की छन्नी की तरह की तार की चलनी से छान लेने से ही भूसी वग़ैरह निकल जायगी। इसके वाद हल्दी, मिर्च, धनियाँ, जीरा, काली मिर्च तथा और जो चीज़ें डालनी हों, उन्हें डालकर छौंक लेने से उत्तम, स्वादिष्ट, सुपाच्य दाल वन जाती है। यदि मांसाहारी उसमें मछली या वकरे का सिर डाल दें, तो वह स्वादिष्ट हो जायगी।

देश में पेशाव की वीमारी की जो इतनी धूम है, उसका अधिकाश कारण अजीर्ण ही है; यह दो-चार आदमियों को अधिक मानसिक परिश्रम से होती है; वाक़ी सवको वदहज़मी से। खाने का अर्थ क्या पेट भरना ही है? जितना हज़म हो जाय, उतना ही खाना चाहिए। तोंद का वढ़ना वदहजमी का पहला चिह्न है। सूख जाना या मोटा होना दोनों ही वदहज़मी हैं। पैर का मांस लोहे की तरह सख़्त होना चाहिए। पेशाव में चीनी या आलवूमन (albumen) दिखलायी

पड़ते ही घबड़ाकर बैठ न जाओ। वे सब हमारे देश में कुछ भी नहीं हैं। उन पर ध्यान न दो। भोजन की ओर खूब ध्यान दो, जिससे अजीर्ण न हो। जहाँ तक सम्भव हो, खुली हवा में रहो। खूब घूमो और परिश्रम करो। जैसे हो, छुट्टी लेकर बदरिकाश्रम की तीर्थयात्रा करो। हरिद्वार से पैदल १०० कोस चलकर बदरिकाश्रम जाने और लौटने से ही वह पेशाव की बीमारी न जाने कहाँ भाग जायगी! डॉक्टर-वाक्टर को पास मत फटकने दो। उनमें से अधिकांश ऐसे हैं कि अच्छा तो कर नहीं सकेंगे, उलटे खराब कर देंगे। हो सके तो दवा बिल्कुल मत खाओ। रोग से यदि एक आना मरते है, तो औषधि खाकर पन्द्रह आना मरते है। हो सके तो हर साल दुर्गा-पूजा की छुट्टी में पैदल घर जाओ। धनी होना और आलसियों का बादशाह बनना इस देश में एक ही बात समझी जा रही है। जिसको पकड़कर चलाना पड़े, खिलाना पड़े वह तो जीवित रोगी है—हतभाग्य है! जो पूरी की परत को छीलकर खाते हैं, वे तो मानो मर गये हैं। जो एक साँस में दस कोस पैदल नहीं चल सकता, वह आदमी नहीं, केंचुआ है। यदि इच्छाकृत रोग अकाल मृत्यु बुला दे, तो कोई क्या करेगा?

और यह जो पावरोटी है वह भी विष ही है, उसको बिल्कुल मत छूना। खमीर मिलाने से मैदा कुछ का कुछ हो जाता है। कोई खमीरदार चीज़ मत खाना। इस सम्बन्ध में हम लोगों के शास्त्रों में जो सब प्रकार की खमीरदार चीज़ों के खाने का निषेध है, वह बिल्कुल ठीक है। शास्त्र में जो कोई मीठी चीज़ खट्टी हो जाय, उसे 'शुक्त' कहते है। दही को छोड़कर उन सभी चीज़ों के खाने का निषेध है। दही बहुत ही उपादेय तथा अच्छी चीज़ है। यदि पावरोटी खाना ही पड़े, तो उसे दुबारा आग पर खूब सेंककर फिर खाओ। अशुद्ध जल और अशुद्ध भोजन रोग का घर है। अमेरिका में इस समय जल-शुद्धि की बड़ी धूम है। फ़िल्टर जल के दिन अब गये। फ़िल्टर जल को सिर्फ़ थोड़ा छान भर देते है, किन्तु रोगों के कारण जो सब कीटाणु हैं, वे तो उसमें बने ही रहते है। हैज़े और प्लेग के कीटाणु तो ज्यों के त्यों बने रहते हैं; ज्यादातर तो स्वयं फ़िल्टर इन सब कीटाणुओं की जन्म-भूमि बन जाता है। कलकत्ते में जब पहले-पहल फ़िल्टर किये हुए जल का प्रचार हुआ, तो उस समय चार-पाँच वर्षो तक हैज़ा इत्यादि कुछ नहीं हुआ। इसके बाद फिर वही हालत हो गयी। अर्थात् वह फ़िल्टर ही स्वयं हैज़े के बीज का घर हो गया। फ़िल्टरों में जो तिपाई पर तीन घड़े रखकर पानी साफ़ किया जाता है, वह उत्तम है। किन्तु दो-तीन दिन के बाद बालू और कोयले को बदल देना चाहिए या उन्हें जला लेना चाहिए और यह जो थोड़ी फिटकिरी डालकर गंगा के पानी को साफ़ करने का ढंग है, वह सबसे अच्छा है। फिटकिरी का चूर्ण यथाशक्ति

मिट्टी, मैला और रोग के बीज को धीरे धीरे नीचे बैठा देता है। गंगाजल घड़े में भरकर थोड़ा फिटकिरी का चूर्ण डालकर साफ़ करके जो हम व्यवहार में लाते हैं, वह विलायती फ़िल्टर-सिल्टर से कहीं अच्छा है; कल के पानी से सौ गुना उत्तम है। हाँ, जल को उबाल लेने से निडर होकर व्यवहार किया जा सकता है। फ़िल्टर को दूर हटाकर फिटकिरी से साफ़ किये हुए उबाले पानी को ठण्डा करके व्यवहार में लाओ। इस समय अमेरिका में बडे बडे यन्त्रों की सहायता से जल को वाष्प बना देते हैं, फिर उसी वाष्प से जल बनता है। इसके बाद एक यन्त्र के द्वारा उसके भीतर विशुद्ध वायु मिलाते हैं—क्योंकि यह वायु जल के वाष्प बनने के समय निकल जाती है। यह जल अत्यन्त शुद्ध है। इस समय अमेरिका के प्रत्येक घर में इसीका प्रचार है।

हमारे देश में जिनके पास दो पैसा है, वे अपने बाल-बच्चों को पूरी-मिठाई खिलायेंगे ही! भात-रोटी खिलाना उनके लिए अपमान है! इससे बाल-बच्चे आलसी, निर्बुद्धि हो जाते हैं तथा उनका पेट निकल आता है और शकल सचमुच जानवर जैसी हो जाती है। इतनी बलवान अंग्रेज़ जाति भी पूरी-मिठाई आदि से डरती है। ये लोग तो बर्फीले देशों में रहते हैं! दिन-रात कसरत करते हैं! हम लोग तो अग्निकुण्ड में रहते है, एक जगह से उठकर दूसरी जगह जाना नहीं चाहते और खाना चाहते हैं, पूरी-कचौड़ी-मिठाई—घी में और तेल में तली हुई! पुराने जमाने में गाँव के ज़मींदार सहज में दस कोस घूम आते थे, २०-२५ 'कई' मछलियाँ काँटा समेत चबा जाते थे और सौ वर्ष जीते रहते थे। उनके लड़के-बच्चे कलकत्ते आकर आँख पर चश्मा लगाते हैं, पूरी-कचौड़ी खाते हैं, रात-दिन गाडी पर चढते हैं और पेशाब की बीमारी से मरते हैं; कलकतिया होने का यही फल है! और सर्वनाश करते हैं, ये अजीब डॉक्टर और वैद्य। वे सर्वज्ञ है, औषधि के प्रभाव से सब कुछ कर सकते हैं! पेट में थोड़ी गरमी हुई, तो दे दी एक दवा! ये अजीब वैद्य भी यह नही कहते कि दवा छोड़कर दो कोस टहल आओ।

मैंने भिन्न भिन्न देश देखे है, भिन्न भिन्न प्रकार के भोजन भी किये हैं, पर हम लोगों के भात, दाल आदि की वे बराबरी नहीं कर सकते, इनके लिए पुनर्जन्म लेना भी कोई बड़ी बात नहीं है! दांत रहने पर भी तुम लोग दाँत का महत्त्व नहीं समझते, अफ़सोस तो यही है। खाने में क्या अंग्रेज़ की नक़ल करनी होगी—उतना रुपया कहाँ है? इस समय हमारे बंगाल देश के लिए यथार्थ उपयोगी भोजन है, पूर्व बंगाल का भोजन। वह उपादेय, पुष्टिकर और सस्ता है; जितना हो सके उसीकी नक़ल करो। जितना (पश्चिम) बंगाल की ओर बढ़ोगे, उतना ही खराब है। देखते नहीं, उर्द की दाल और मछली का झोल भात—यही अर्द्ध-समाजी भोजन

वीरभूम, बाँकुड़ा आदि में प्रचलित है। तुम लोग कलकत्ते के आदमी हो, यह जो सर्वनाश की जड़ हलवाई की दूकान खोलकर बैठे हो, वहाँ मिट्टीयुक्त मैदे का सामान बनता है, उसकी सुन्दरता के फेर में पड़कर वीरभूम, बाँकुड़ा ने लाई को दामोदर में बहा दिया है, उर्द की दाल उन लोगों ने गड्ढे में फेंक दी है और पोस्ता से दीवाल को लीप दिया है। ढाका और विक्रमपुरवाले भी 'ढाँई' मछली, कछुए आदि को जल मे बहाकर 'सभ्य' हो गये हैं! स्वयं का तो सत्यानाश कर ही चुके, अब सारे देश को नष्ट कर रहे हो, यही तो तुम लोग बड़े सभ्य हो, शहर के बाशिन्दे हो! आग लगे तुम्हारी इस सभ्यता को! वे लोग भी इतने अहमक़ हैं कि कलकत्ते की, गंदी चीज़ें खाकर सग्रहणी और पेचिश की बीमारी से मरते है। तब भी चूँ नहीं करते कि ये सब चीज़ें हज़म नही होती। उलटे कहेंगे कि हवा में ही नमी है और वह खारी है! चाहे जैसे भी हो, उन्हें शहरिया तो बनना ही है!

पाश्चात्य लोगों का आहार

खाने-पीने के सम्बन्ध में मोटी बातें तो तुम लोगों ने सुनीं। इस समय पाश्चात्य देशवासी क्या खाते है और उनके आहार में क्रमशः कैसा परिवर्तन हुआ है, वह भी अब हम देखेंगे।

गरीबी की अवस्था में सभी देशों का खाद्य विशेषकर अन्न ही रहता है; साग-तरकारी, मछली-मांस, भोग-विलास में शामिल हैं और चटनी की तरह व्यवहृत होते है। जिस देश में जिस अन्न की पैदावार अधिक होती है, वहाँ के ग़रीबों का वही प्रधान भोजन है, दूसरी सब चीज़ें प्रासंगिक है। बंगाल, उड़ीसा, मद्रास और मलाबार के किनारे पर भात ही प्रधान खाद्य है, उसके साथ कभी कभी दाल, तरकारी, मछली, मांस आदि चटनी की तरह खाया जाता है।

भारत के अन्यान्य सब प्रदेशों में सम्पन्न लोगों का भोजन गेहूँ की रोटी और भात है। सर्वसाधारण लोग प्रधानतः नाना प्रकार के अन्न, बाजरा, मड़ुआ, ज्वार, मकई आदि की रोटियाँ खाते है।

साग-तरकारी-दाल, मछली-मांस आदि सारे भारत में इसी रोटी या भात को स्वादिष्ट बनाने के लिए व्यवहार में आते हैं, इसीलिए उनका नाम व्यंजन पड़ा है। पंजाब, राजपूताना और दक्षिण में सम्पन्न लोग, यहाँ तक कि राजागण भी, यद्यपि प्रतिदिन मांस खाते हैं, फिर भी उनका प्रधान खाद्य रोटी या भात ही है। जो व्यक्ति आध सेर मांस रोज़ खाता है, वह अवश्य ही उसके साथ एक सेर रोटी खाता है।

पाश्चात्य देशों में ग़रीब देशों तथा धनी देशों के ग़रीब लोगों का प्रधान भोजन रोटी और आलू ही है। मांस तो चटनी की तरह कभी कभी मिल जाता

है। स्पेन, पुर्तगाल, इटली आदि उष्णप्रधान देशों में अंगूर अधिक मात्रा में उत्पन्न होता है और अंगूरी शराव बड़ी सस्ती मिलती है। उन शरावों में नशा नहीं होता (अर्थात् जब तक कोई पीपा भर न पी ले, तब तक उसे नशा न होगा और उतना अधिक तो कोई पी भी नहीं सकता) और वह बहुत पुष्टिकर पेय है। उन देशों के ग़रीब लोग मछली-मांस की जगह पर इसी अंगूर के रस से मज़बूत होते है। किन्तु, रूस, स्वेडन, नार्वे प्रभृति उत्तरी देशों में गरीब लोगों का प्रधान आहार है 'राई' नामक अन्न की रोटी और एकाध टुकड़ा मछली या आलू। फिर, यूरोप के धनी लोग और अमेरिका के लड़के-बूढ़े सभी एक दूसरे ही तरह का खाना खाते हैं—अर्थात् रोटी, भात आदि वे चटनी के रूप में खाते हैं, एवं मछली-मांस ही उनका खाद्य है। अमेरिका में रोटी नहीं खायी जाती, ऐसा कह सकते है। निरा मास ही परोसा जाता है, फिर खाली मछली परोसी जाती है, उसे यों ही खाना होता है—भात रोटी के साथ नहीं। इसलिए हर बार थाली बदलनी पड़ती है। यदि दस खाने की चीज़ें हैं, तो दस बार थाली बदलनी होगी। जैसे मान लो, हमारे देश में पहले सिर्फ़ तरकारी परोसी गयी, फिर थाली को बदलकर सिर्फ़ दाल परोसी गयी, फिर थाली बदलकर सिर्फ़ झोल परोसा गया, फिर थाली बदलकर थोड़ा सा भात या दो पूरियाँ इत्यादि। उसका लाभ यही है कि बहुत सी चीजें थोड़ी थोड़ी खायी जाती है। पेट में बोझा भी कम होता है। फ़्रांसीसियों का रिवाज़ है—सवेरे कॉफ़ी के साथ एक-दो टुकड़ा रोटी और मक्खन खाना। मध्यम श्रेणी के लोग दोपहर में मछली-मांस आदि खाते हैं। रात मे पूरा भोजन होता है। इटली, स्पेन प्रभृति देशों में रहनेवाली जातियों का भोजन फ़्रांसीसियों जैसा ही है। जर्मनीवाले पाँच-छः बार खाते हैं, प्रत्येक बार थोड़ा मांस जरूर रहता है। अंग्रेज़ तीन बार खाते है, सवेरे थोड़ा सा, किन्तु बीच बीच में कॉफ़ी या चाय पीते रहते है। अमेरिकन लोग तीन बार अच्छा खाना खाते हैं, जिसमें मांस अधिक रहता है। फिर भी इन सभी देशों में 'डिनर' (dinner) नामक भोजन ही प्रधान होता है। अमीरों के यहाँ फ़्रांसीसी रसोइया रहता है और फ़्रांसीसी पद्धति से खाना बनाया जाता है। पहले एकाध नमकीन मछली या मछली का अण्डा या कोई चटनी या तरकारी खाते है। इसके खाने से भूख बढ़ती है। इसके बाद हरा साग, इसके बाद आजकल एक फल खाने का फ़ैशन हो गया है। इसके बाद मछली, मछली के बाद मांस की एक तरकारी, फिर भुना हुआ मांस, साथ में कच्ची सब्जी, इसके बाद जंगली मांस जैसे हिरन, पक्षी आदि, इसके अनन्तर मिष्टान्न, अन्त में आइस्क्रीम। बस मधुरेण समापयेत्। धनी लोगों के यहाँ हर बार थाली बदलने के साथ ही शराब भी बदली जाती है—शेरी, क्लेरेट, शैम्पेन आदि बीच बीच में शराब की

थोड़ी कुल्फ़ी भी होती है। थाल बदलने के साथ ही काँटा-चम्मच भी बदला जाता है। भोजन के अन्त में बिना दूध की 'कॉफ़ी' पीते हैं, बीच बीच में शराब का प्याला और सिगार। भोजन के प्रकार के साथ ही साथ शराब की विभिन्नता दिखलाने से ही 'बड़प्पन' की पहचान होती है। इनके डिनर में इतना अधिक खर्च होता है कि उससे हमारे यहाँ के मध्यम श्रेणी के मनुष्य का तो सर्वनाश ही हो जायगा!

आर्य लोग पल्थी मारकर एक पीढ़े पर बैठते थे और टेकने के लिए उनके पीछे एक पीढ़ा रखा जाता था। एक छोटी चौकी पर थाल रखकर, एक थाल में ही सब कुछ खा लेते थे। यह रिवाज़ इस समय भी पंजाब, राजपूताना, महाराष्ट्र और गुजरात में मौजूद है। बंगाली, उड़िया, तेलंगी और मलाबारी ज़मीन पर ही बैठकर भोजन करते हैं। मैसूर के महाराज भी ज़मीन पर केले के पत्ते में भात-दाल खाते है। मुसलमान चद्दर बिछाकर खाते हैं। बरमी, जापानी आदि ज़मीन पर थाल रखकर कुछ झुककर खाते हैं। चीनवाले कुर्सी पर बैठकर मेज़ पर खाना रखकर काँटे-चम्मच से खाते हैं। प्राचीन रोमन तथा ग्रीक लोग कोच में लेटकर और खाना मेज़ पर रखकर हाथ से खाते थे। पहले यूरोपवासी कुर्सी पर बैठकर और मेज़ पर सामग्री रखकर हाथ से खाते थे; पर अब हर क़िस्म के काँटे-चम्मच से खाते है।

चीनियों का भोजन सचमुच एक कसरत है। हमारे देश में जैसे पानवाली लोहे के पत्तर के दो टुकड़ों से पान तराशती है, उसी प्रकार चीनी दाहिने हाथ में लकड़ी के दो टुकड़े अपनी हथेली और अँगुलियों के बीच में चिमटे की तरह पकड़ते है और उसीसे तरकारी आदि खाते हैं। फिर दोनों को एकत्र कर एक कटोरी भात मुँह के पास लाकर उन्हीं दोनों के सहारे उस भात को ठेल ठेलकर मुँह में डालते हैं।

सभी जातियों के आदिम पुरुष जो पाते थे, वही खाते थे। किसी जानवर को मारकर उसे एक महीने तक खाते थे, सड़ जाने पर भी नही छोड़ते थे! धीरे धीरे लोग सभ्य हो गये। खेतीबारी होने लगी। जंगली जानवरों की तरह एक दिन खूब खाकर चार-पाँच दिन भूखे रहने की प्रथा उठ गयी। रोज़ भोजन मिलने लगा, फिर भी बासी और सड़ी वस्तुओं का खाना नहीं छूटा। पहले सड़ी-गली चीज़ें आवश्यक भोजन थीं, पर अब वे चटनी अचार के रूप में नैमित्तिक भोजन हो गयी हैं।

इस्कीमो जाति बर्फ़ में रहती है। वहाँ अनाज बिल्कुल नहीं पैदा होता। वहाँ रोज़ का खाना मछली और मांस ही है। दस-पन्द्रह दिनों में उनसे अरुचि उत्पन्न होने पर एक टुकड़ा सड़ा मांस खाकर अरुचि मिटाते हैं।

यूरोपवासी इस समय भी जंगली जानवरों और पक्षियों का मांस बिना सड़ाये नहीं खाते। ताज़ा मिलने पर भी उसे तब तक लटकाकर रखते हैं, जब तक सड़कर बदबू न निकलने लगे। कलकत्ते में हिरन का सड़ा मांस ज्योंही आता है, त्योंही बिक जाता है। लोग कुछ मछलियों को थोड़ा सड़ जाने पर पसन्द करते हैं। अंग्रेज़ों की पनीर जितनी सड़ेगी, उसमें जितने कीड़े पड़ेंगे, वह उतनी ही अच्छी होगी। पनीर का कीड़ा यदि भागता हो तो भी उसे पकड़कर मुँह में डाल लेते हैं और वह बड़ा स्वादिष्ट होता है! निरामिषाहारी होकर भी प्याज़, लहसुन के लिए किटकिटाते हैं। दक्षिणी ब्राह्मणों का प्याज़, लहसुन के बिना खाना ही नहीं होता। शास्त्रकारों ने वह रास्ता भी बन्द कर दिया है। प्याज़, लहसुन, मुर्ग़ी और सूअर का मांस खाने से जाति का सर्वनाश होता है, यह हिन्दू शास्त्रों का कहना है। कुछ लोगों ने डरकर इन्हें छोड़ दिया, पर उनसे भी बुरी गन्धयुक्त हींग खाना आरम्भ किया। पहाड़ी कट्टर हिन्दुओं ने प्याज़-लहसुन की जगह पर उसी तरह की एक घास खाना आरम्भ किया। इन दोनों का निषेध तो शास्त्रों में कहीं नही है!!

आहार सम्बन्धी विधि-निषेध का तात्पर्य

सभी धर्मों में खाने-पीने के सम्बन्ध में एक विधि-निषेध है। केवल ईसाई धर्म में कुछ नहीं है। जैन और बौद्ध मछली-मांस नहीं खाते। जैन लोग ज़मीन के नीचे पैदा होनेवाली चीज़ें जैसे आलू, मूली आदि भी नहीं खाते, क्योंकि खोदने से कीड़े मरेंगे। रात को भी नहीं खाते, क्योंकि अंधकार में शायद कीड़े खा जायँ।

यहूदी लोग उस मछली को नहीं खाते, जिसमें 'चोयँटा' नहीं होता और सूअर भी नहीं खाते। जो जानवर दो खुरवाला नही है और जो जुगाली नहीं करता, उसे भी नहीं खाते। सबसे अजीब बात तो यह है कि दूध या दूध से बनी हुई कोई चीज़ यदि रसोईघर में चली जाय और यदि उस समय वहाँ मछली या मांस पकता हो, तो उस रसोई को ही फेंक देना होगा। इसीलिए कट्टर यहूदी लोग किसी दूसरी जाति के मनुष्य के हाथ का पकाया नहीं खाते। हिन्दुओं की तरह यहूदी भी व्यर्थ ही मांस नहीं खाते। जैसे बंगाल और पंजाब में मांस को महाप्रसाद कहते हैं, उसी तरह यहूदी लोग नियमानुसार बलिदान न होने से मांस नहीं खाते हैं। हिन्दुओं की तरह यहूदियों को भी जिस-तिस दूकान से मांस खरीदने का अधिकार नही है। मुसलमान भी यहूदियों के अनेक नियम मानते हैं, पर इतना परहेज़ नहीं करते। बस दूध, मांस और मछली एक साथ नहीं खाते। छुआछूत होने से ही सर्वनाश हो जाता है, इसे वे नहीं मानते। हिन्दुओं और यहूदियों में भोजन सम्बन्धी बहुत

सादृश्य है। किन्तु यहूदी जंगली सूअर भी नहीं खाते, पर हिन्दू खाते है। पंजाब के हिन्दू-मुसलमानों में भयंकर वैमनस्य रहने के कारण जंगली सूअर पुनः हिन्दुओं का आवश्यक खाद्य हो गया है। राजपूतों में जंगली सूअर का शिकार करके खाना एक धर्म माना जाता है। दक्षिण में ब्राह्मण को छोड़कर दूसरी जातियों में मामूली सूअर का खाना भी जायज़ है। हिन्दू जंगली मुर्ग़ा-मुर्ग़ी खाते है, पर पालतू मुर्गा-मुर्गी नही खाते। बंगाल से लेकर नेपाल और काश्मीर-हिमालय तक एक ही प्रथा है। मनु की बतायी हुई खाने की प्रथा आज तक उस अंचल में किसी न किसी रूप में विद्यमान है।

किन्तु बंगाली, बिहारी, प्रयागी और नेपालियों की अपेक्षा कुमाऊँ से लेकर काश्मीर तक मनु के नियमों का विशेष प्रचार है। जैसे बंगाली मुर्ग़ी या उसका अण्डा नहीं खाते, किन्तु हंस का अण्डा खाते हैं, वैसा ही नेपाली भी करते है! किन्तु कुमाऊँ में यह भी जायज नहीं है। काश्मीरी जंगली हंस के अण्डे को बड़े मजे से खाते है, पर घरेलू हंस के अण्डे नही खाते।

इलाहाबाद के उधर हिमालय को छोड़कर भारत के अन्य सभी प्रान्तों में, जो लोग बकरे का मांस खाते है, वे मुर्ग़ी भी खाते हैं।

इन विधि-निषेधों में अधिकांश स्वास्थ्य के लिए ही है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु सब जगह समान नही हो सकता। घरेलू मुर्ग़ी कुछ भी खा लेती है और बहुत गन्दी रहती है, इसीलिए उसे खाने का निषेध किया है। पर जंगली जानवर क्या खाते है, कहाँ कौन उसे देखने जाता है? इसके अलावा जंगली जानवरों को रोग कम होता है।

पेट में अम्ल की अधिकता होने पर दूध किसी तरह पचता ही नही, यहाँ तक कि कभी कभी एक गिलास दूध पी लेने से फ़ौरन मृत्यु हो जाती है। जैसे बच्चे माता का दूध पीते हैं, वैसे ही ठहर ठहरकर दूध पीना चाहिए, इससे वह जल्दी हजम होता है, नही तो बहुत देर लगती है। दूध बहुत देर में हजम होनेवाली चीज है, मास के साथ में तो वह और भी देर में हज़म होता है। इसीलिए यहूदियों ने इसका निषेध किया है। नासमझ माताएँ छोटे बच्चों को जबरदस्ती दूध पिलाती हैं और दो-चार महीने के बाद सिर पर हाथ रखकर रोती है। आजकल डॉक्टर लोग नौजवान आदमियों के लिए भी एक पाव दूध आध घण्टे में धीरे धीरे पीने का परामर्श देते है। छोटे बच्चों के लिए फ़ीडिंग बोतल (feeding bottle) के सिवा कोई दूसरा रास्ता ही नही है। माँ काम में लगी रहती है, इसलिए दाई रोते हुए बच्चे को अपनी गोद में लेती है और किसी प्रकार धर-पकड़ सितुए में दूध भर भरकर जितना उसके मुंह में ठूंस सकती है, ठूंस देती है। नतीजा यह होता

है कि अक्सर बच्चे को जिगर की बीमारियाँ हो जाती है और उसकी बाढ़ रुक जाती है! उसी दूध से उसका अन्त होता है! जिनमें इस प्रकार के भयंकर खाद्य से किसी प्रकार बचने की शक्ति होती है, वे ही स्वस्थ और बलिष्ठ होते हैं।

पुराने सूतिगृह और इस प्रकार दूध पिलाना—इस पर भी जो बच्चे बच जाते थे, वे ही किसी प्रकार आजीवन स्वस्थ और बलवान रहते थे। माता षष्ठी की साक्षात् अनुकम्पा न होने पर क्या इन गहरी परीक्षाओं में बच्चों का जीवन रहता? जरा बच्चे को दी जानेवाली सेंक को तथा उसी प्रकार के अन्य गँवारू उपचारों को तो सोचो; इनमें से जीते-जागते बचकर निकल आना प्रसूति और प्रसूत बच्चे दोनों के लिए ही मानो बड़े भाग्य की बात थी! प्राचीनों का विश्वास था कि मनौती मानकर यमराज के प्रतिनिधि चिकित्सकों से दूर दूर रहने के कारण ही उन दिनों देवालयों की धूल-राख लगाकर माँ और नवजात शिशु बच जाते थे।

कपड़े में सभ्यता

सभी देशों में ओढ़ने-पहनने के ढंग के साथ कुछ न कुछ भद्रता का सम्पर्क अवश्य है। वेतन न जानने पर भले-बुरे की पहचान कैसे होगी? केवल वेतन ही क्यों, बिना कपडा देखे भले-बुरे की पहचान कैसे होगी? सभी देशों में किसी न किसी रूप में ये बातें प्रचलित है। अब हमारे प्रदेश में भले आदमी नंगे बदन रास्ते में नही निकल सकते, भारत के दूसरे प्रदेशों में माथे पर बिना पगड़ी पहने कोई रास्ते में नही निकल सकता।

यूरोप में अन्यान्य देशों की अपेक्षा फ़्रांसीसी सब विषयों में आगे है। उनके भोजन आदि की सब नक़ल करते है। इस समय भी यूरोप के भिन्न भिन्न देशों में तरह तरह की पोशाकें मौजूद हैं। किन्तु भले आदमी होने से ही—दो पैसा पास में होने ही से—वह पोशाक ग़ायब हो जाती है और फ़ासीसी पोशाक का आविर्भाव हो जाता है। काबुली पायजामा पहननेवाले हॉलैण्ड के कृषक, घाघरा पहननेवाले ग्रीक, तिब्बती पोशाक पसन्द करनेवाले रूसी ज्यों ही 'जैण्टिलमैन' बने, त्यों ही उन्होने फ़्रांसीसी कोट-पतलून धारण कर लिया। स्त्रियों की तो कुछ बात ही नहीं, पास में पैसा होते ही उन्हें तो पेरिस का कपड़ा पहनना ही पड़ेगा। अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ़्रांस और जर्मनी इस समय धनी देश समझे जाते है; उन सभी देशों की पोशाक एक तरह की है—वह फ़्रांस की नक़ल है। परन्तु आजकल पेरिस की अपेक्षा लन्दन के आदमियों की पोशाक अधिक अच्छी होती है। इसीलिए पुरुषों की पोशाक 'लन्दन मेड' और स्त्रियों की पोशाकें 'पेरिस मेड' होती हैं। जिनके पास

पैसा है, वे इन दोनों स्थानों की बनी पोशाकें बारहो मास व्यवहार करते हैं। अमेरिका में विदेशों से आयी हुई पोशाकों पर बहुत ज़्यादा चुंगी ली जाती है, किन्तु उतनी अधिक चुंगी देकर भी पेरिस और लन्दन की पोशाक पहननी ही पड़ती है। यह काम केवल अमेरिका ही कर सकता है; इस समय अमेरिका में कुवेर का प्रधान अड्डा है।

प्राचीन आर्य लोग धोती-चादर पहनते थे; लड़ाई के समय क्षत्रियों में पायजामा और अंगा पहनने का चलन था, बाक़ी समय सभी धोती-चादर; किन्तु पगड़ी सभी बाँधते थे। बहुत प्राचीन काल में भारतीय स्त्रियाँ भी पगड़ी बाँधती थीं। इस समय बंगाल को छोड़कर अन्यान्य प्रदेशों में जिस प्रकार केवल लँगोटी से ही शरीर को ढकने का काम चल जाता है, किन्तु पगड़ी का पहनना अत्यावश्यक है, प्राचीन काल में भी ठीक वैसा ही था—स्त्री-पुरुष सबों के लिए। बौद्धकालीन जो पत्थर की मूर्तियाँ मिलती हैं, उनमें स्त्रियाँ भी केवल लँगोटी ही पहने रहती हैं। बुद्ध के पिता जो लँगोटी लगाकर सिंहासन पर बैठे हैं, उसी प्रकार उनकी माँ भी बग़ल में बैठी हैं। विशेषता केवल यही है कि पैर में पैंजनी और हाथ में कड़ा है। पर पगड़ी ज़रूर है। धर्मसम्राट् अशोक धोती पहन और गले में दुपट्टा डाल नंगे बदन एक डमरू के आकारवाले सिंहासन पर बैठकर नाच देख रहे हैं। नर्तकियाँ सर्वथा नंगी हैं। कमर से कितने ही चिथड़े लटक भर रहे हैं, बस। फिर भी पगड़ी है! जो कुछ था सब पगड़ी में! किन्तु राज-सामंत लोग चुस्त पायजामा और लंबी अचकन पहने हुए हैं। सारथी नलराज ने इस प्रकार रथ चलाया कि राजा ऋतुपर्ण को चादर न जाने कहाँ उड़ गयी और राजा ऋतुपर्ण नंगे बदन ही विवाह करने गये। धोती-चादर आर्य लोगों की पुरानी पोशाक है, इसलिए क्रिया-कर्म के समय धोती-चादर पहननी पड़ती है।

प्राचीन ग्रीक और रोमन लोगों की पोशाक थी धोती-चादर—एक थान लम्बा कपड़ा और चादर। नाम था तोगा, उसीका अपभ्रंश आज 'चोगा' है, किन्तु कभी कभी एक अंगा भी पहनते थे। लड़ाई के समय लोग पायजामा और अचकन पहनते थे। स्त्रियों का एक खूब लम्बा, चौड़ा चौकोर कपड़ा रहता था, जो दो चादरों को लम्बाई के बल सीकर और चौड़ाई की ओर खुला छोड़कर बनता था। उसके बीच में घुककर उसे दो बार बाँधते थे—एक बार छाती के नीचे और दूसरी बार पेट के नीचे। इसके बाद ऊपर खुले हुए उस कपड़े के दोनों सिरों को दोनों कंधों पर दो जगह बड़ी आलपिनों से अटका लेते थे, जैसे उत्तराखण्ड के पहाड़ी आदमी कम्बल पहनते हैं। यह पोशाक बहुत सुन्दर और सहज थी। ऊपर एक चादर रहती थी।

प्राचीन काल से केवल ईरानी ही काटकर बनाये हुए कपड़ों को पहनते थे। जान पड़ता है, शायद इसे उन लोगों ने चीनियों से सीखा था। चीनी लोग सभ्यता अर्थात् भोग-विलास, सुख-स्वच्छन्दता के आदि गुरु हैं। अनादि काल से चीनी मेज़ पर खाते हैं, कुर्सी पर बैठते है, खाने के लिए कितने यन्त्र-तन्त्र रखते हैं, कई प्रकार की सिली पोशाकें पहनते है, जिनमें पायजामा, टोपी, टोप आदि होते हैं।

सिकन्दर ने ईरान को जीता, उन्होंने धोती-चादर छोड़कर पायजामा पहनना आरम्भ कर दिया, इससे उनकी स्वदेशी सेना इतनी बिगड़ गयी कि विद्रोह जैसा हो गया, किन्तु सिकन्दर ने कुछ परवाह न कर पायजामों का प्रचार कर ही दिया।

गरम देशों में कपड़े की अधिक आवश्यकता नहीं पड़ती। लँगोटी से ही लज्जा-निवारण हो जाता है, बाक़ी सब तो शोभा मात्र हैं। ठण्डे देशों में सदा लोग शीत से पीड़ित होकर अस्थिर रहते हैं; असभ्य अवस्था में वे जानवरों की खाल पहना करते थे; क्रमशः कम्बल पहनने लगे और फिर कपड़ों की बारी आयी; वे कई प्रकार के होने लगे! इसके बाद नगे बदन पर गहना पहनने से ठड के कारण तो मृत्यु हो सकती थी, इसलिए यह अलंकारप्रियता कपड़ों में जा छिपी। जिस प्रकार हमारे देश में गहनों का फ़ैशन बदलता है, उसी प्रकार इन लोगों का कपडे का फ़ैशन भी घड़ी घड़ी बदलता रहता है।

इसीलिए ठण्डे देशों में बिना सर्वांग कपड़े से ढके किसीके सामने निकलना असभ्यता है। खासकर विलायत में ठीक ठीक पोशाक पहने बिना घर के बाहर जाया ही नहीं जा सकता। पाश्चात्य देशों में स्त्रियों का पाँव दिखायी पड़ना लज्जा की बात है, किन्तु गला और वक्ष का कुछ हिस्सा भले ही खुला रह जाय। हमारे देश में मुँह दिखाना बड़ी लज्जा की बात है, किन्तु घूँघट काढ़ने में साड़ी चाहे पीठ पर से हट जाय तो कुछ हर्ज नहीं। राजपूताना और हिमालय की स्त्रियाँ मुँह ढाँके रहती हैं, चाहे पेट और पीठ भले ही दिख जायँ।

पाश्चात्य देशों में नर्तकियाँ और वेश्याएँ आकृष्ट करने के लिए लगभग खुले शरीर रहती हैं। इन लोगों के नृत्य का अर्थ ही है, ताल ताल पर शरीर को अनावृत कर दिखाना। हमारे देश में भले घर की स्त्रियाँ कुछ नंगे बदन रह सकती हैं, पर वेश्याएँ अपना सारा शरीर ढाँके रहती है। पाश्चात्य देशों की स्त्रियाँ सदा शरीर ढाँके रहती हैं, शरीर खुला रखने से अधिक आकर्षण होता है। हमारे देश में सदा नंगे बदन रहा जाता है, पोशाक पहनने से ही अधिक आकर्षण होता है। मलाबार में पुरुष और स्त्रियाँ कौपीन के ऊपर एक छोटी धोती पहनती है और दूसरा कोई वस्त्र नहीं रहता। बंगालियों का भी वही हाल है, किन्तु कौपीन नहीं रहता और स्त्रियाँ पुरुषों के सामने खूब अच्छी तरह शरीर को ढाँकती हैं।

पाश्चात्य देशों में पुरुष पुरुषों के सामने बेरोक नंगे हो जाते हैं, जैसे हमारे देश में स्त्रियाँ स्त्रियों के सामने। वहाँ बाप-बेटे यदि विवस्त्र होकर स्नान करें तो कोई हर्ज नहीं, किन्तु स्त्रियों के सामने या रास्ते में निकलते समय अथवा अपने घर को छोड़कर किसी दूसरे स्थान पर सारा शरीर ढका रहना ही चाहिए।

एक चीन को छोड़कर अन्य सभी देशों में इस लज्जा के सम्बन्ध में बड़े अद्‌भुत अद्‌भुत विषय देखने में आते हैं! किसी किसी विषय में बहुत ज़्यादा लज्जा की जाती है, पर उसकी अपेक्षा अधिक लज्जावाले विषयों में नाम मात्र को भी लज्जा नही की जाती। चीन में स्त्री-पुरुष सभी सदा सिर से पैर तक ढके रहते है। वहाँ कनफ़्यूशस और बौद्ध मतावलम्बी नीति में बड़े कुशल है। खराब बाते या चाल-चलन होने से फ़ौरन सजा दी जाती है। ईसाई पादरियों ने वहाँ जाकर चीनी भाषा में बाइबिल छपवा डाली। बाइबिल में ऐसे लज्जाजनक वर्णन है, जो हिन्दुओं के पुराणों को भी मात कर देते है। उन अश्लील स्थलों को पढ़कर चीनी लोग इतने चिढ़ गये कि उन्होंने चीन में बाइबिल के प्रचार को रोकने का दृढ़ निश्चय कर लिया। उन्होंने कहा, "यह इतनी अश्लील पुस्तक किसी तरह भी यहाँ नहीं चलायी जा सकती।" इसके ऊपर ईसाई पादरी-स्त्रियों का अर्द्ध-नग्न सायंकालीन पोशाक पहन कर बाहर निकलना और चीनियों से मिलना-जुलना और भी आपत्तिजनक था। साधारण बुद्धिवाले चीननिवासियों ने कहा, "सर्वनाश! इस खराब पुस्तक को पढ़ाकर और इन स्त्रियों का नंगा शरीर दिखाकर हमारे बच्चों को भ्रष्ट करने को ही यह धर्म आया है।" इसीलिए चीनियों को ईसाइयों पर बहुत क्रोध आ गया, नहीं तो चीनी किसी धर्म के ऊपर आघात नहीं करते। सुनते हैं कि पादरियों ने इस समय उन अश्लील अंशों को हटाकर फिर बाइबिल छपवाया है, किन्तु इससे चीनी लोगों को और भी सन्देह हो गया है।

फिर पाश्चात्य विभिन्न देशों में लज्जा, घृणा आदि के विभिन्न प्रकार है। अंग्रेज़ों और अमेरिकनों के लिए वे एक प्रकार के हैं, फ़्रांसीसियों के लिए वे दूसरी तरह के और जर्मन लोगों के लिए वे तीसरी तरह के हैं। रूसी और तिब्बती लोगों की बहुत सी बातें आपस में मिलती-जुलती हैं, किन्तु तुर्कों का अपना ही रस्म-रिवाज़ है, इत्यादि।

चाल-चलन

हमारे देश की अपेक्षा यूरोप और अमेरिका में मल-मूत्र के त्याग करने के बारे में भी बड़ी लज्जा है; हम लोग निरामिषभोजी हैं, इसीलिए बहुत सा साग-पात खाते है। फिर हमारा देश भी खूब गरम है, एक साँस में एक लोटा जल पीने को

चाहिए। भारत के पश्चिमी प्रान्तों के कृषक एक बार में एक सेर सत्तू खाते हैं, और फिर जब प्यास लगती है, तो कुआँ का कुआँ साफ़ कर देते हैं! गरमी में हम लोग प्यासों को पानी पिलाने के लिए प्याऊ खोल देते है। अब तुम्हीं बतलाओ, यह सब जाय भी तो कहाँ? सारा देश मल-मूत्रमय होने से बचे भी तो कैसे? गोशाला और घोड़े के अस्तबल की तुलना बाघ-सिंह के पिंजड़े से हो भी तो कैसे! कुत्ते की बकरे से तुलना करना क्या सम्भव है? पाश्चात्य देशों का आहार मांसमय है, इसीलिए अल्प होता है। फिर देश ठंडा है, कह सकते है कि जल पीते ही नहीं। भले आदमी छोटे गिलास में थोड़ी शराब पीते है। फ़ांसीसी जल को मेढक का रस कहते हैं, भला वह कभी पिया जाता है? केवल अमेरिकन जल अधिक परिमाण में पीते हैं, क्योंकि ग्रीष्मकाल में वहाँ अत्यन्त गरमी पड़ती है। न्यूयार्क कलकत्ते की अपेक्षा अधिक गरम है। जर्मन लोग भी बहुत 'बीयर' पीते हैं, पर भोजन के साथ नहीं।

ठंडे देश में सर्दी लगने की सदा सम्भावना रहती है, गरम देश में भोजन के साथ बार बार जल पीना पड़ता है। अतः वे छींके बिना रह नहीं सकते और हम डकार लिए बिना। अब जरा नियमों पर ग़ौर करो। उन देशों में खाने के समय यदि कोई डकार दे, तो यह अशिष्टता की चरम सीमा समझी जायगी। किन्तु भोजन करते समय रूमाल में भड़ भड़ करने से उनको नाममात्र की घृणा नहीं होती। हमारे देश में जब तक डकार न आये, तब तक यजमान या मेजबान प्रसन्न ही नहीं होता! किन्तु पाँच आदमियों के साथ खाने पर बैठकर भड़ भड़ कर नाक साफ़ करना यहाँ कैसा लगेगा?

इंग्लैण्ड और अमेरिका में स्त्रियों के सामने मल-मूत्र का नाम भी नहीं लिया जा सकता। छिपकर पायखाना जाना पड़ता है। पेट की गरमी या और किसी प्रकार की बीमारी की बात स्त्रियों के सामने नहीं कही जा सकती। हाँ, बूढ़ी-सूढ़ी की बात अलग है। स्त्रियाँ मल-मूत्र को रोककर चाहे मर जायँ, पर पुरुषों के सामने उसका नाम भी न लेंगी।

फ़ांस में इतना नहीं है। स्त्रियों और पुरुषों के पेशाबखाने और पायख़ाने प्रायः पास ही पास होते है। स्त्रियाँ एक रास्ते से जाती है और पुरुष दूसरे रास्ते से। बहुत जगहों में तो रास्ते भी एक ही हैं, केवल स्थान अलग अलग है। रास्ते के दोनों ओर बीच बीच में पेशाबखाने हैं, जिनमें केवल पीठ आड़ में रहती है। स्त्रियाँ देखती हैं. अतः लज्जा नहीं है—हम लोगों की ही तरह। अवश्य ही स्त्रियाँ ऐसे खुले स्थानों में नहीं जातीं। जर्मनीवालों में तो और भी कम। स्त्रियों के सामने अंग्रेज और अमेरिकन बातचीत में भी बहुत सावधान रहते है। वहाँ पैर का नाम

तक लेना असभ्यता है। हम लोगों की तरह फ़ांसीसियों का मुँह खुला रहता है। जर्मन और रूसी सबके सामने भद्दा मज़ाक करते हैं।

परन्तु प्रणय-प्रेम की बातें बेरोक भाई-बहन, माता-पिता—सबके सामने चलती हैं। वहाँ इस विषय में कुछ लज्जा नहीं है। बाप अपनी बेटी के प्रणयी (भावी पति) के बारे में नाना प्रकार की बातें ठट्ठा मार कर स्वयं अपनी कन्या से पूछता है। फ़ांसीसी कन्याएँ उसे सुनकर मुँह नीचा कर लेती है। अंग्रेज़ कन्याएँ लजा जाती है, किन्तु अमेरिकन कन्याएँ चटपट जवाब देती हैं। इन देशों में चुम्बन और आलिंगन तक में कोई दोष नहीं समझा जाता, वह अश्लील भी नही समझा जाता। सभ्य समाज में इनके बारे में बातें की जा सकती हैं। अमेरिकन परिवार में कोई आत्मीय पुरुष घर की युवती कन्या को भी हाथ मिलाने के बदले चुम्बन करता है। हमारे देश में प्रेम-प्रणय का नाम भी बड़ों के सामने नहीं लिया जा सकता।

इनके पास बहुत रुपया है। अधिक साफ़ और बहुत सुन्दर वस्त्र न पहनने-वाला झट छोटा आदमी समझ लिया जाता है और वह समाज में सम्मिलित होने के योग्य नही समझा जाता। भले आदमियों को दिन में दो-तीन बार धुली कमीज़-कालर आदि बदलना पड़ता है। ग़रीब इतना नहीं कर सकते। ऊपर के वस्त्र में एक दाग़ या धब्बा रहने से बड़ी मुश्किल होती है। नाख़ून के कोने या हाथ-पैर में ज़रा भी मैल रहने से मुश्किल होती है। चाहे गर्मी के मारे जान निकली जाती हो, किन्तु घर के बाहर निकलते समय दस्ताना पहनना अनिवार्य है। अन्यथा रास्ते में हाथ मैला हो जायगा और उस मैले हाथ को किसी स्त्री के हाथ में रखकर स्वागत करना असभ्यता है। सभ्य समाज में बैठकर खाँसना, खखारना, हाथ-मुँह धोना, कुल्ला करना महापाप है।

पाश्चात्य देशवासियों का धर्म शक्ति-पूजा है

शक्ति-पूजा ही पाश्चात्य धर्म है। वामाचारियों की स्त्री-पूजा की तरह वे भी पूजा करते हैं। जैसा कि तन्त्र में कहा है—'बाई ओर स्त्री. . .दाहिनी ओर शराब का प्याला. . .सामने मसालेदार गरम गरम मांस. . .तान्त्रिकों का धर्म बहुत गहन है, योगी भी उसे नहीं समझ सकते।' यही वामाचार शक्ति-पूजा आमतौर पर प्रकाश्य रूप से सर्वसाधारण में प्रचलित है। इसमें मातृ-भाव की मात्रा यथेष्ट है। यूरोप में प्रोटेस्टेन्ट तो नगण्य हैं—धर्म तो कैथोलिकों का ही है। उस धर्म में जिहोवा, ईसा और त्रिमूर्ति आदि भी दब गये हैं, सबका आसन 'माँ' ने ग्रहण किया है—ईसा को गोद में लिए हुए माँ! लाखों स्थानों में, लाखों

क़िस्म से, लाख रूपों में, बड़े मकानों में, मन्दिरों में, सड़कों में, फूस की झोपड़ी में—सब कहीं बस 'माँ' की ही ध्वनि है। बादशाह 'माँ' पुकारता है, सेनापति 'माँ' पुकारता है, हाथ में झण्डा लिए सैनिक पुकारता है—'माँ'। जहाज पर मल्लाह पुकारता है—'माँ'; फटा-पुराना कपड़ा पहने मछुआ पुकारता है—'माँ'; रास्ते के एक कोने में पड़ा हुआ भिखारी पुकारता है—'माँ'; 'धन्य मेरी!' दिन-रात यही ध्वनि उठती है।

इसके बाद स्त्री-पूजा है। यह शक्ति-पूजा केवल काम-वासनामय नहीं है। यह शक्ति-पूजा कुमारी-सधवा-पूजा है, जैसी हमारे देश में काशी, कालीघाट प्रभृति तीर्थ-स्थानों में होती है; यह काल्पनिक नहीं, वास्तविक शक्ति-पूजा है। किन्तु हम लोगों की पूजा इन तीर्थ-स्थानों में ही होती है और केवल क्षण भर के लिए; पर इन लोगों की पूजा दिन-रात बारहो महीने चलती है। पहले स्त्रियों का आसन होता है। कपड़ा, गहना, भोजन, उच्च स्थान, आदर और ख़ातिर पहले स्त्रियों की। यह शक्ति-पूजा प्रत्येक नारी की पूजा है, चाहे परिचित हो या अपरिचित। उच्च कुल की और रूपवती युवतियों की तो बात ही क्या है! इस शक्ति-पूजा को पहले-पहल यूरोप में 'मूर' लोगों ने आरम्भ किया था। जिस समय मुसलमान धर्मावलम्बी और मिस्र अरब जाति से उत्पन्न मूर लोगों ने स्पेन को जीता था, उस समय उन्होंने आठ शताब्दियों तक राज्य किया। उसी समय यह शक्ति-पूजा प्रारम्भ हुई थी। उन्हींके द्वारा यूरोपीय सभ्यता का उन्मेष हुआ और शक्ति-पूजा का आविर्भाव भी। कुछ समय के अनन्तर मूर लोग इस शक्ति-पूजा को भूल गये, इसलिए वे शक्तिहीन और श्रीहीन हो गये। वे स्थानच्युत होकर अफ़्रीका के एक कोने में असभ्यावस्था में रहने लगे। और उस शक्ति का संचार हुआ यूरोप में; मुसलमानों को छोड़कर 'माँ' ईसाइयों के घर में जा विराजी।

यह यूरोप क्या है? क्यों एशिया, अफ़्रीका और अमेरिका के काले, भूरे, पीले और लाल निवासी यूरोपनिवासियों के पैरों पर गिरते हैं? क्यों कलियुग में यूरोपनिवासी ही एकमात्र शासनकर्ता हैं?

फ़्रांस—पेरिस

इस यूरोप को समझने के लिए हमें पाश्चात्य महानता तथा गौरव के केन्द्र फ़्रांस की ओर जाना होगा। इस समय पृथ्वी का आधिपत्य यूरोप के हाथ में है और यूरोप का महाकेन्द्र पेरिस है। पाश्चात्य सभ्यता, रीति-नीति, प्रकाश-अंधकार, अच्छा-बुरा सबकी अन्तिम पराकाष्ठा का भाव इसी पेरिस नगरी से प्रादुर्भूत होता है।

यह पेरिस नगरी एक महासमुद्र है! मणि, मोती, मूँगा आदि भी यहाँ यथेष्ट हैं और साथ ही मगर, घड़ियाल भी यहाँ वहुत हैं। यह फ़ांस ही यूरोप का कर्मक्षेत्र है। चीन के कुछ अंशों को छोड़कर इतना सुन्दर स्थान और कहीं नही है। न तो वहुत गरम और न तो वहुत ठंडा, वहुत उपजाऊ, न यहाँ अधिक पानी वरसता है और न कम पानी वरसने की ही शिकायत है। वह निर्मल आकाश मीठी धूप, वनस्थली की शोभा, छोटे छोटे पहाड़, एल्म और ओक प्रभृति पेड़ों का वाहुल्य, छोटी छोटी नदियाँ, छोटे छोटे झरने, पृथ्वीतल पर और कहाँ है? जल का वह रूप, स्थल की वह मोहकता, वायु की वह उन्मत्तता, आकाश का वह आनन्द और कहाँ मिलेगा? प्रकृति सुन्दर है, मनुष्य भी सौन्दर्यप्रिय है। वूढ़े-वच्चे, स्त्री-पुरुष, धनी-दरिद्र, उनका घर-द्वार, खेत-मैदान आदि सभी साफ़-सुथरे और वना-चुनाकर सुन्दर किये हुए रहते है। सिर्फ़ जापान को छोड़कर यह भाव और कहीं नहीं है। वे इन्द्रपुरी के गृह, अट्टालिकाओं का समूह, नन्दन वन के सदृश उद्यान, उपवन, झाड़ियाँ और कृपकों के खेत, सभी में एक रूप, एक सुन्दर छटा देखने का प्रयत्न है—और वे अपने इस प्रयत्न में सफल भी हुए हैं। यह फ़ांस प्राचीन समय से गौल (Gaulois), रोमन (Roman), फ़ांक (Frank) आदि जातियों की सघर्ष-भूमि रहा है। इसी फ़ांक जाति ने रोमन साम्राज्य का नाश करने के वाद यूरोप में आधिपत्य जमाया। इनके वादशाह शार्लेमॅग्ने (Charlemagne) ने यूरोप में ईसाई धर्म का तलवार के वल पर प्रचार किया। इसी फ़ांक जाति के द्वारा ही एशिया को यूरोप का परिचय हुआ—इसीलिए आज भी हम यूरोपवासियों को फ़ांकी, फ़िरंगी, प्लांकी, फ़िलिंग आदि नामों से सम्वोधित करते है।

पाश्चात्य सभ्यता का आदि केन्द्र प्राचीन यूनान डूव गया, रोम के चक्रवर्ती राजा वर्वरों के आक्रमण-तरंग में वह गये, यूरोप का प्रकाश बुझ गया। इधर एशिया में भी एक वर्वर जाति का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे अरव कहते हैं। वह अरव-तरंग वड़े वेग से पृथ्वी को आच्छादित करने लगी। महावली पारसी जाति अरवों के पैरों के नीचे दव गयी। उसे मुसलमान धर्म ग्रहण करना पड़ा। किन्तु उसके प्रभाव से मुसलमान धर्म ने एक दूसरा ही रूप धारण किया। वह अरवी धर्म पारसी सभ्यता में सम्मिलित हो गया।

अरवों की तलवार के साथ पारसी सभ्यता धीरे धीरे फैलने लगी। वह पारसी सभ्यता प्राचीन यूनान और भारत से ही ली हुई थी। पूर्व और पश्चिम दोनों ओर से वड़े वेग के साथ मुसलमान-तरंग ने यूरोप के ऊपर आघात किया, साथ ही साथ अंधकारपूर्ण यूरोप में ज्ञान रूपी प्रकाश फैलने लगा। प्राचीन यूनानियों

की विद्या, बुद्धि, शिल्प आदि ने वर्बराक्रान्त इटली में प्रवेश किया। धरा-राजधानी रोम के मृत शरीर में प्राण-स्पंदन होने लगा—उस स्पंदन ने फ्लोरेन्स (Florence) नगरी में प्रबल रूप धारण किया, प्राचीन इटली ने नवजीवन धारण करना आरम्भ किया—इसीको नवजन्म अर्थात् रेनेसाँ (renaissance) कहते हैं। किन्तु वह नवजन्म इटली का था। यूरोप के दूसरे अंशों का उस समय प्रथम जन्म हुआ। ईसा की सोलहवीं शताब्दी में जब भारत में अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ प्रभृति मुग़ल सम्राट् बड़े बड़े साम्राज्यों की सृष्टि कर रहे थे, उसी समय यूरोप का नव-जन्म हुआ।

इटलीवाले प्राचीन जाति के थे, एक वार जँभाई लेकर फिर करवट बदल-कर सो गये। उस समय कई कारणों से भारतवर्ष भी कुछ कुछ जाग रहा था। अकबर से लेकर तीन पीढ़ी तक के मुग़ल राज्य में विद्या, बुद्धि, शिल्प आदि का यथेष्ट आदर हुआ था। किन्तु अत्यन्त वृद्ध जाति होने के कारण वह फिर करवट बदलकर सो गयी।

यूरोप में, इटली के पुनर्जन्म ने बलवान, अभिनव फ़्रांक जाति को व्याप्त कर लिया। चारों ओर से सभ्यता की सब धाराओं ने आकर फ़्लोरेन्स नगरी में एकत्र हो नवीन रूप धारण किया। किन्तु इटलीनिवासियों में उस वीर्य को धारण करने की शक्ति नहीं थी। भारत की तरह वह उन्मेष उसी स्थान पर समाप्त हो जाता, किन्तु यूरोप के सौभाग्य से इस नवीन फ़्रांक जाति ने आदरपूर्वक उस तेज को ग्रहण किया। नवीन जाति ने उस तरंग में बड़े साहस के साथ अपनी नौका छोड़ दी। उस स्रोत का वेग क्रमशः बढ़ने लगा। वहाँ एक धारा सैकड़ों धाराओं में विभक्त होकर बढ़ने लगी। यूरोप की अन्यान्य जातियाँ लोलुप हो मेंड़ काटकर उस जल को अपने अपने देश में ले गयीं और उसमें अपनी जीवन-शक्ति सम्मिलित कर उसके वेग और विस्तार को और भी अधिक बढ़ा दिया। वह तरंग फिर भारत में आकर टकरायी। वह तरंगलहरी जापान के किनारों पर जा पहुँची और जापान उस जल को पान कर मत्त हो गया। एशिया में जापान ही नवीन जाति है।

यह पेरिस नगरी यूरोपीय सभ्यता की गंगोत्री है। यह विराट् नगरी मृत्यु-लोक की अमरावती—सदानन्द नगरी है। पेरिस का भोग-विलास और आनन्द न लन्दन में है, न वर्लिन में और न यूरोप के किसी दूसरे शहर में। लन्दन, न्यूयार्क में धन है; वर्लिन में विद्या, बुद्धि यथेष्ट है, किन्तु न तो वहाँ फ़्रांस की मिट्टी है और न हैं फ़्रांस के वे निवासी! धन हो, विद्या-बुद्धि हो, प्राकृतिक सौन्दर्य भी हो—किन्तु वे मनुष्य कहाँ हैं? प्राचीन यूनानियों की मृत्यु के बाद इस अद्भुत

फ़ासीसी चरित्र का जन्म हुआ है। सदा आनन्द और उत्साह से भरे हुए, पर बड़े हल्के और फिर भी बहुत गम्भीर, सब कामों में उत्तेजित, किन्तु बाधा पड़ते ही निरुत्साहित । किन्तु वह नैराश्य फ़ांसनिवासी के मुँह पर बहुत देर तक नहीं ठहरता, फिर नवीन उत्साह और विश्वास से वह चमक उठता है।

पेरिस विश्वविद्यालय ही यूरोप का आदर्श विश्वविद्यालय है। दुनिया की जितनी वैज्ञानिक सस्थाएँ है, वे सब फ़ांस की वैज्ञानिक संस्थाओं की नक़ल हैं। फ़ांस ही ने दुनिया को औपनिवेशिक साम्राज्य-स्थापना की शिक्षा दी। सभी भाषाओं में अभी उस फ़ासीसी भाषा के ही युद्ध सम्बन्धी शब्दों का व्यवहार होता है। फ़ांसीसियों की रचनाओं की नक़ल सभी यूरोपीय भाषाओं में हुई है। यह पेरिस नगरी ही दर्शन, विज्ञान और शिल्प की खान है। सभी स्थानों में इन्हीकी नक़ल हुई है।

पेरिस के रहनेवाले मानो नागरिक है और उनकी तुलना में अन्य दूसरी जातियाँ ग्रामीण हैं। ये लोग जो करते हैं, उसीकी पचीस-पचास वर्ष पीछे जर्मन और अंग्रेज़ नक़ल करते है, चाहे वह विद्या सम्बन्धी हो, चाहे शिल्प सम्बन्धी हो, अथवा सामाजिक नीति सम्बन्धी ही क्यों न हो। यह फ़ांसीसी सभ्यता स्कॉटलैण्ड पहुँची, वहाँ के राजा इग्लैण्ड के भी शासक हुए, तब इस फ़ांसीसी सभ्यता ने इंग्लैण्ड को जगाकर छोड़ा। स्कॉटलैण्ड के स्टुअर्ट खानदान के शासन के समय में ही इंग्लैण्ड में रायल सोसाइटी आदि संस्थाएँ स्थापित हुई।

पुनः फ़ांस ही स्वाधीनता का उद्‌गम-स्थान है। इस पेरिस महानगरी से ही प्रजा-शक्ति ने बड़े वेग से उठकर यूरोप की जड़ को हिला दिया। उसी दिन से यूरोप का नया आकार सामने आया। वह 'Liberté, Egalité, Fraternité' (स्वाधीनता, समानता, बंधुत्व) की ध्वनि अब फ़ांस में नहीं सुनायी पड़ती। फ़ांस अब दूसरे भावों, दूसरे उद्देश्यों का अनुसरण कर रहा है, किन्तु यूरोप की अन्यान्य जातियाँ अभी भी उसी फ़ांसीसी विप्लव का अभ्यास कर रही है।

स्कॉटलैण्ड के एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने उस दिन मुझसे कहा था कि पेरिस पृथ्वी का केन्द्र है। जो देश जिस अंश में पेरिस के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर सकेगा, वह उसी परिमाण में उन्नत होगा। अवश्य ही इस बात में कुछ अतिरंजित सत्य है, किन्तु यह बात भी सत्य है कि यदि किसीको किसी नवीन भाव का संसार में प्रचार करना हो, तो उसके लिए पेरिस ही उपयुक्त स्थान है। इस पेरिस नगरी से उठी हुई ध्वनि को यूरोप अवश्य ही प्रतिध्वनित करेगा। शिल्पकार, चित्रकार, गवैया, नर्तकी यदि पेरिस में प्रतिष्ठा पा जायँ, तो उन्हें अन्य दूसरे देशों में प्रतिष्ठा पाने में देर न लगेगी।

हमारे देश में इस पेरिस नगरी की बदनामी ही सुनी जाती है। हम सुनते हैं— पेरिस नगरी महाभयंकर, वेश्यापूर्ण और नरककुंड है। अवश्य ही अंग्रेज़ ये सब बातें कहते हैं। दूसरे देश के धनी लोग जिनकी दृष्टि में विषय-वासना-तृप्ति के सिवाय दूसरा कुछ सुख है ही नहीं, स्वभावतः पेरिस में व्यभिचार और विषय-वासना-तृप्ति का केन्द्र देखते हैं! किन्तु लन्दन, बर्लिन, वियना, न्यूयार्क आदि भी तो वार-वनिताओं और भोग-विलास से पूर्ण हैं। किन्तु अन्तर है कि दूसरे देशों की इन्द्रिय-चर्चा पशुवत् है, पर सभ्य पेरिस की मिट्टी भी सोने के पत्तों से ढकी है। अन्यान्य शहरों के पैशाचिक भोग के साथ पेरिस की विलासप्रियता की तुलना करना, मानो कीचड़ में लोटते हुए सूअर की उपमा नाचते हुए मोर से देना है।

कहो तो सही, भोग-विलास की इच्छा किस जाति में नहीं है? यदि ऐसा नहीं है, तो दुनिया में जिसके पास दो पैसा है, वह क्यों पेरिस की ही ओर दौड़ता है? राजा, बादशाह अपना नाम बदलकर उस विलासकुण्ड में स्नान कर पवित्र होने क्यों जाते हैं? इच्छा सभी देशों में है; उद्योग की त्रुटि भी किसी देश में कम नहीं देखी जाती। किन्तु भेद केवल इतना ही है कि पेरिसवाले सिद्धहस्त हो गये हैं, भोग करना जानते हैं, विलासप्रियता की सप्तम श्रेणी में पहुँच चुके हैं।

इतने पर भी अधिकतर भ्रष्ट नाच-तमाशा विदेशियों के लिए ही वहाँ होता है। फ़्रांसीसी बड़े सावधान होते हैं, वे फ़जूल खर्च नहीं करते। यह घोर विलास, ये सब होटल और भोजन आदि की दूकानें—जिनमें एक बार खाने से ही सर्वनाश हो सकता है—विदेशी अहमक़ धनियों के लिए ही हैं। फ़्रांसीसी बड़े सभ्य हैं; उनमें आदर-सम्मान काफ़ी है, सत्कार खूब करते हैं, सब पैसा बाहर निकाल लेते हैं और फिर मटक मटककर हँसते हैं।

इसके अलावा एक तमाशा यह है कि अमेरिकनों, जर्मनों और अंग्रेज़ों का समाज खुला है, विदेशी आसानी से सब कुछ देख-सुन सकता है। दो-चार दिन की ही बातचीत में अमेरिकावाले अपने घर में दस दिन रहने के लिए निमन्त्रण देते हैं। जर्मन भी ऐसे ही हैं, किन्तु अंग्रेज ज़रा देरी से करते हैं। फ़्रांसीसियों का रिवाज़ इस सम्बन्ध में बहुत भिन्न है, अत्यन्त परिचित हुए बिना वे लोग परिवार में आकर रहने का कभी निमन्त्रण नहीं देते। किन्तु जब कभी विदेशियों को इस प्रकार की सुविधा मिलती है—फ़्रांसीसी परिवार को उन्हें देखने और समझने का मौक़ा मिलता है—तब एक दूसरी ही धारणा हो जाती है। कहो तो, मछुआ बाजार देखकर अनेक विदेशी जो हमारे जातीय चरित्र के सम्बन्ध में

धारणा करते है, वह कितना अहमक़पन है? वही वात पेरिस की भी है। अविवाहिता लड़कियाँ वहाँ भी हमारे ही देश की तरह सुरक्षित हैं, वे अकसर समाज में मिल नहीं सकतीं। विवाह के वाद वे अपने स्वामी के साथ समाज में मिलती-जुलती हैं। हमारी तरह, विवाह की वातचीत माता-पिता ही तय करते है। ये लोग मौज-पसन्द हैं, इनका कोई भी बड़ा सामाजिक काम नर्तकी के नाच के विना पूरा नहीं हो सकता। हम लोगों के विवाह-पूजादि में भी तो कहीं कहीं नाच होता है। अंग्रेज़ कुहराभरे अँधेरे देश में रहते हैं, इसलिए वे सदा निरानन्द ही रहते हैं। उनकी दृष्टि में नाच वहुत अश्लील चीज़ है, पर थियेटर में नाच होने में कोई दोष नहीं। इस सम्वन्ध में यह वात भी सदा ध्यान में रखनी चाहिए कि इनके नाच चाहे हमारी दृष्टि में कितने ही अश्लील क्यों न जँचे, पर वे उससे चिर परिचित है। यह नाच प्रायः नग्नतापूर्ण होता है, पर यह अनुचित नहीं समझा जाता। अंग्रेज़ और अमेरिकन ऐसे नाच देखने में कोई हर्ज नही समझते, पर घर लौटकर इस पर टीका-टिप्पणी करने से भी वाज़ नहीं आते।

स्त्री सम्बन्धी आचार

स्त्री सम्वन्धी आचार पृथ्वी के सभी देशों में एक ही प्रकार का है, अर्थात् किसी पुरुष का दूसरी स्त्री के साथ संपर्क रखना वड़ा अपराध नही है, पर स्त्रियों के लिए यह भयंकर रूप धारण करता है। फ़ांसीसी इस विषय में कुछ अधिक स्वतंत्र है—वैसे ही जिस प्रकार दूसरे देशों के धनी लोग इस सम्वन्ध में लापरवाह हैं। यूरोपीय पुरुष समाज साधारणतः उस विषय को इतना निन्दनीय नहीं समझता। पाश्चात्य देशों में अविवाहिता के सम्वन्ध में भी यही वात है। युवक विद्यार्थी यदि इस विषय में पूर्णतः विरत हो, तो अनेक वार उसके माँ-बाप इसे खराव समझते हैं, क्योंकि पीछे वालक कहीं पौरुषहीन न हो जाय। पाश्चात्य देशों के पुरुषों में एक गुण अवश्य चाहिए, वह है—साहस। इन लोगों का 'वर्चू' (virtue) शब्द और हमारा 'वीरत्व' एक ही अर्थ रखता है। इस शब्द के इतिहास से ही ज्ञात होता है कि ये लोग पुरुष का गुण किसे कहते हैं। स्त्रियों के लिए सतीत्व आवश्यक समझा जाता है अवश्य।

इन सव वातों के कहने का उद्देश्य यह है कि प्रत्येक जाति का एक नैतिक जीवनोद्देश्य है। उसीसे उस जाति की रीति-नीति का विचार करना होगा। अपने नेत्रों से उनका अवलोकन करना और उनके नेत्रों से अपना अवलोकन करना, दोनों ही भूल है।

हमारा उद्देश्य इस विषय में उनके उद्देश्य से ठीक उलटा है। हमारा 'ब्रह्मचारी (विद्यार्थी)' शब्द और कामजित् एक ही है। विद्यार्थी और कामजित् एक ही बात है।

हमारा उद्देश्य मोक्ष है। कहो तो सही, वह बिना ब्रह्मचर्य के कैसे होगा? उनका उद्देश्य भोग है, उसमें ब्रह्मचर्य की उतनी आवश्यकता नहीं है। किन्तु स्त्रियों का सतीत्व नाश होने से बाल-बच्चे पैदा नहीं होते और सारी जाति का नाश होता है। यदि पुरुष सौ विवाह करे, तो उसमें उतनी कोई आपत्ति नहीं है, वरन् वंश की वृद्धि खूब होगी; किन्तु यदि स्त्री बहुत पति ग्रहण करे, तो उसमें वन्ध्यात्व आ जाना अनिवार्य है। इसीलिए सभी देशों में स्त्रियों के सतीत्व पर विशेष जोर दिया गया है, पुरुषों के लिए कुछ नहीं। प्रकृति यान्ति भूतानि निग्रहः कि करिष्यति।'[1]

हम फिर भी यही कहते हैं कि ऐसा शहर भूमण्डल पर और दूसरा नहीं है। पहले यह एक दूसरे ही प्रकार का था, ठीक काशी के हमारे बंगाली टोला की तरह! गली और रास्ते टेढ़े-मेढ़े थे; बीच बीच में दो घरों को जोड़नेवाली कमानें थीं; कुएँ दीवालों के नीचे थे, इसी प्रकार और भी बातें—गत प्रदर्शनी में उन लोगों ने प्राचीन पेरिस का एक नमूना दिखाया था। वह पुराना पेरिस कहाँ गया? क्रमशः बदलते हुए, लड़ाई-विद्रोह के कारण कितने ही अंश मटियामेट हो गये थे। फिर साफ़-सुथरा पेरिस उसी स्थान पर बसा है।

वर्तमान पेरिस का अधिकांश तृतीय नेपोलियन का तैयार किया हुआ है। तृतीय नेपोलियन मारकाट मचाकर बादशाह बना था। फ़्रांसीसी उसी प्रथम विप्लव के समय से अस्थिर हैं; अतएव प्रजा को खुश रखने के लिए बादशाह खास गरीबों को काम देकर प्रसन्न करने के अभिप्राय से बड़ी बड़ी सड़कें, नाट्यशालाएँ, घाट आदि बनवाने लगे। अवश्य ही पेरिस के सारे प्राचीन मन्दिर, स्तम्भ आदि स्मारकस्वरूप कायम रह गये। रास्ते, घाट सब नये बन गये। पुराने शहर के मकान और इमारतें तोड़कर शहर की चौहद्दी बढ़ायी जाने लगी और पृथ्वी की सर्वोत्तम 'शॅम्प एलिजिस' सड़क वहीं पर तैयार हुई। यह रास्ता इतना चौड़ा है कि इसके बीच में और दोनों तरफ़ बगीचा है और एक जगह पर बहुत बड़ा गोलाकार है—इसका नाम 'प्लास द ला कॉनकर्ड' (Place de la concorde) है। इसके चारों ओर समतलाकार मूर्तियाँ हैं, जो फ्रांस के प्रत्येक जिले की स्त्रियों की प्रतिमूर्ति हैं। उसमें एक मूर्ति स्ट्रासबर्ग जिले की है। उस जिले का

१. गीता ॥ ३।३३ ॥

जर्मनीवालों ने १८७२ की लड़ाई में अपने अधीन कर लिया, इस दुःख को फ्रांस-वाले आज भी नहीं भूल सके है। इसीलिए वह मूर्ति सदा फूल-मालाओं से ढकी रहती है। जैसे लोग अपने आत्मीय स्वजन की क़ब्र के ऊपर फूल-माला चढ़ा आते हैं, उसी प्रकार कोई न कोई रात या दिन में उस मूर्ति पर फूल-माला डाल आता है।

ऐसा अनुमान होता है कि दिल्ली का चाँदनी चौक भी किसी समय इसी स्थान की भाँति था। जगह जगह पर जयस्तभ, विजय-तोरण, स्त्री-पुरुष, सिंह आदि की पत्थर की मूर्तियाँ है। महावीर प्रथम नेपोलियन का स्मारक एक वहुत वड़ा धातुनिर्मित विजय-स्तम्भ है; उस पर चारों ओर नेपोलियन की युद्ध-विजय अंकित हैं। ऊपर उसकी मूर्ति है। उसमें एक स्थान पर प्राचीन वास्तिल (Bastille) क़िले के ध्वंस के स्मारक है। उस समय राजाओं का एकाधिपत्य था, किसीको भी वे जेल में ठूँस देते थे। कोई विचार नही था, राजा एक आज्ञा लिख देता था, इस आज्ञा का नाम था 'लेटर द क्याशे' (Lettre de Cachet)। इसके वाद उस व्यक्ति ने कोई अपराध किया है या नहीं, दोषी है या निर्दोष, इस पर विचार ही नही होता था, और एकदम ले जाकर वास्तिल में डाल दिया जाता था। उस स्थान से फिर कोई निकल नहीं सकता था। राजा की प्रणयि-नियाँ यदि किसीके ऊपर नाराज़ होती, तो राजा से इसी आज्ञा-मुद्रा को लेकर उस व्यक्ति को वास्तिल में भेज देती थीं। आखिरकार इन अत्याचारों से प्रजा एक बार पागल हो उठी। व्यक्तिगत स्वाधीनता, सवकी समानता, कोई भी छोटा-वड़ा नहीं—यही ध्वनि सब ओर से आने लगी। पेरिस के लोगों ने पागल होकर राजा और रानी के ऊपर आक्रमण कर दिया। उस समय पहले मनुष्य के घोर अत्याचार का स्मारक वास्तिल का नाश किया गया और एक रात वहाँ खूब नाच-गाना, आमोद-प्रमोद आदि होते रहे। इसके वाद जब राजा भागे जा रहे थे, उन्हें पकड़ लिया गया। 'राजा के श्वसुर, आस्ट्रिया के वादशाह अपने जामाता की सहायता के लिए सेना भेज रहे है', यह सुनकर प्रजा इतनी क्रोधान्ध हो गयी कि उसने राजा और रानी को मार डाला। सारे देशवासी स्वाधीनता और समता के नाम पर पागल हो गये, फ़्रांस में प्रजातन्त्र स्थापित हो गया। मुसाहवों में जो पकड़े गये, मार डाले गये। कोई कोई तो उपाधि आदि फेंककर प्रजा में मिल गये। इतना ही नहीं, उन लोगों ने सर्वत्र यही ध्वनि गुँजा दी कि 'हे दुनिया भर के लोगो! उठो; समस्त अत्याचारी राजाओं को मार डालो, सव प्रजा स्वाधीन वन जाय, सव लोग समान हो जायँ।' उस समय यूरोप के सभी राजा भय से अस्थिर हो गये। इस डर से कि यह आग वाद को कहीं अपने

देश में भी न लग जाय, सिंहासन को भी न डगमगा दे, इसलिए उसे बुझाने के अभिप्राय से वे लोग कमर कसकर चारों ओर से फ़्रांस पर आक्रमण करने लगे। इधर प्रजातन्त्र के नेताओं ने घोषणा कर दी कि 'जन्मभूमि पर विपद है'। इस घोषणा की आग से सारा देश दहक उठा। बच्चा-बूढ़ा, स्त्री-पुरुष फ़्रांस का राष्ट्रीय गीत लॉ मार्साई—La Marseillaise—गाते हुए, उत्साहपूर्ण फ़्रांस के महागीत को गाते हुए, दल के दल, फटे कपड़े पहने हुए, उस जाड़े में नंगे पाँव, बिना कुछ भोजन का सामान लिये, फ़्रांसीसी प्रजा-फ़ौज समग्र यूरोप की विराट् सेना के सामने आ डटी। छोटे-बड़े, अमीर-ग़रीब, सभी के कन्धे पर बन्दूक़ थी—**परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्**—सब निकल पड़े। सारा यूरोप उस वेग को नहीं सह सका। फ़्रांसीसी जाति के आगे सैन्यों के कन्धों पर खड़े होकर एक वीर ने महा सिंहनाद किया। उसकी अंगुली को देखते ही पृथ्वी काँपने लगी; वह था नेपोलियन बोनापार्ट।

स्वाधीनता, समानता और बन्धुत्व को बन्दूक़ की नली से, तलवार की धार से यूरोप की अस्थिमज्जा में प्रविष्ट करा दिया गया। फ़्रांस की विजय हुई। इसके बाद फ्रांस को दृढ़बद्ध और सावयव बनाने के लिए नेपोलियन बादशाह बना। इसके बाद उसका कार्य समाप्त हुआ। बाल-बच्चा न होने के कारण सुख-दुःख की संगिनी, भाग्यलक्ष्मी राज्ञी जोसेफ़िन का उसने त्याग कर दिया और आस्ट्रिया की राजकन्या के साथ शादी कर ली। जोसेफ़िन का त्याग करने से नेपोलियन का भाग्य उलट गया। रूस जीतने के लिए जाते समय उसकी सारी फ़ौज बर्फ़ में गलकर मर गयी। यूरोप ने मौक़ा पाकर उसे क़ैद कर एक द्वीपान्तर में भेज दिया। अब पुराने राजा का एक वंशधर तख्त पर बैठाया गया।

ज़ख्मी सिंह उस द्वीप से भागकर फिर फ्रांस में आ उपस्थित हुआ। फ़्रांसी-सियों ने फिर उसे अपना राजा बनाया। नया राजा भाग गया। किन्तु टूटी हुई क़िस्मत जुड़ न सकी, फिर यूरोप उस पर टूट पड़ा और उसको हरा दिया। नेपोलियन अंग्रेजों के एक जहाज़ में चढ़कर शरणागत हुआ। अंग्रेजों ने उसे सेन्ट हेलेना नामक एक सुदूर द्वीप में मृत्यु के समय तक क़ैद रखा। फिर पुराना राजवंश आया, उस खानदान का एक व्यक्ति राजा बनाया गया। फिर फ़्रांस के लोग मतवाले हो गये। राजा को मारकर प्रजातन्त्र की स्थापना हुई। महावीर नेपोलियन के एक सम्बन्धी इस समय फ़्रांसीसियों के प्रिय पात्र हुए। उन्होंने एक दिन षड़यन्त्र करके अपने को राजा घोषित किया, वे थे तृतीय नेपोलियन। कुछ दिनों तक उनका खूब प्रताप रहा। किन्तु जर्मनी की लड़ाई में हारने पर

उनका सिंहासन चला गया और प्रजातन्त्र प्रतिष्ठित हुआ। उस समय से अब तक वहाँ प्रजातन्त्र चल रहा है।

परिणामवाद---भारतवर्ष के सभी सम्प्रदायों की मूल भित्ति

जो परिणामवाद (evolution theory) भारत के प्रायः सभी सम्प्रदायों की मूल भित्ति है, उसने इस समय यूरोपीय बहिर्विज्ञान में प्रवेश किया है। भारत के सिवाय अन्यत्र सभी देशों के धर्मों का यही मत था कि समस्त संसार टुकड़ा टुकड़ा अलग है। ईश्वर भी अलग है, प्रकृति अलग है, मनुष्य अलग है, इसी प्रकार पशु, पक्षी, कीट, पतंग, पेड़, पत्ता, मिट्टी, पत्थर, धातु आदि सब अलग है। भगवान् ने इसी प्रकार सब अलग करके सृष्टि की है।

ज्ञान का अर्थ है---बहु के भीतर एक को देखना। जो वस्तुएँ अलग अलग है, जिनमें अन्तर मालूम होता है, उनमें भी एक ऐक्य है। वह विशेष सम्बन्ध, जिससे मनुष्य को इस एकत्व का पता लगता है, 'नियम' कहलाता है। इसीको प्राकृतिक नियम भी कहते हैं।

हम पहले ही कह आये है कि हमारी विद्या, बुद्धि और चिन्ता सभी आध्यात्मिक है। सभी का विकास धर्म के भीतर है और पाश्चात्यों में ये सारे विकास बाहर, शरीर और समाज में हैं। भारत के चिन्तनशील मनीषी क्रमशः समझ गये थे कि इन चीज़ों को अलग अलग मानना भूल है। अलग होते हुए भी उन सबमें एक सम्बन्ध है। मिट्टी, पत्थर, पेड़, पत्ता, जीव, जन्तु, मनुष्य, देवता, यहाँ तक कि स्वयं ईश्वर में भी ऐक्य है। अद्वैतवादी इसकी चरम सीमा पर पहुँच गये। उन्होंने कहा, यह सब कुछ उसी एक का विकास है। सचमुच यह अध्यात्म और अधिभूत जगत् एक ही है, उसीका नाम ब्रह्म है और जो अलग अलग मालूम पड़ता है, वह भूल है। वही माया, अविद्या अर्थात् अज्ञान है। यही ज्ञान की चरम सीमा है।

भारत की बात छोड़ दो, यदि विदेश में कोई इस बात को नहीं समझ सकता, तो कहो उसे पण्डित कैसे समझें? किन्तु उनके अधिकांश पण्डित लोग इसे समझ रहे हैं, पर अपने ही तरीक़े से---जड़ विज्ञान द्वारा। वह 'एक' कैसे 'अनेक' हो गया, यह बात न तो हम लोग ही समझ सकते हैं और न वे लोग ही। हम लोगों ने भी यह सिद्धान्त बना लिया है कि वह विषय-बुद्धि के परे है और उन लोगों ने भी वैसा ही किया है। किन्तु वह 'एक' कौन कौन सा रूप धारण करता है, किस प्रकार जातित्व और व्यक्तित्व में परिणत होता है, यह बात समझ में आती है, और इसी खोज का नाम विज्ञान है।

पाश्चात्य मत से समाज का क्रमविकास

इसीलिए तो इस देश के प्रायः सभी लोग परिणामवादी (evolutionist) बने हुए हैं। जैसे छोटा पशु कालान्तर में बदलकर बड़ा पशु हो जाता है, कभी बड़ा जानवर छोटा भी हो जाता है, कभी लुप्त भी हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्य का भी हुआ होगा। उसका भी क्रमशः विकास हुआ होगा। मनुष्य सभ्य अवस्था में एकाएक पैदा हुआ, इस बात पर अब कोई विश्वास नहीं करता, क्योंकि उसके बाप-दादा थोड़े ही दिन पहले असभ्य जंगली थे। अब इतने कम दिनों में ही वे लोग सभ्य हो गये है। इसीलिए वे लोग कहते है कि सभी मनुष्य क्रमशः असभ्य अवस्था से सभ्य हुए हैं और हो रहे हैं।

आदिम मनुष्य काठ-पत्थर के औज़ारों से काम चलाते थे; चमड़ा या पत्ता पहनकर दिन बिताते थे; पहाड़ की गुफाओं में या चिड़ियों के घोंसले की तरह झोपड़ियों में गुज़र करते थे। इसका प्रमाण सभी देशों में मिट्टी के नीचे मिलता है; और कहीं तो अभी भी मनुष्य उसी अवस्था में मौजूद है। क्रमशः मनुष्य ने धातु का व्यवहार करना सीखा—नरम धातुओं का—जैसे टीन और ताँबा। इन दोनों को मिलाकर वे औज़ार और अस्त्र-शस्त्र बनाने लगे। प्राचीन यूनानी, बेबिलोन और मिस्रनिवासी भी बहुत दिनों तक लोहे का व्यवहार नहीं जानते थे। जब वे पहले की अपेक्षा सभ्य हो गये, तो पुस्तक आदि लिखने लगे, सोना-चाँदी का व्यवहार करने लगे, परन्तु तब तक वे लोहे का व्यवहार नहीं जानते थे। अमेरिका महाद्वीप के आदिम निवासियों में मेक्सिको, पेरू, माया आदि जातियाँ दूसरों से सभ्य थीं। वे बड़े बड़े मन्दिर बनाती थीं। सोना-चाँदी का उनमें खूब व्यवहार था, यहाँ तक कि सोने-चाँदी के लालच से स्पेनवालों ने उनका नाश कर डाला। किन्तु वे सब काम चकमक पत्थर के औज़ारों द्वारा बड़े परिश्रम से किये जाते थे। लोहे का कहीं नाम-निशान भी नहीं था।

आरम्भ में मनुष्य शिकारी थे

आदिम अवस्था में मनुष्य तीर, धनुष या जाल आदि के द्वारा पशु, पक्षी या मछली मारकर खाता था। क्रमशः उसने खेतीबारी करना और पशु पालना सीखा। जंगली जानवरों को अपने अधिकार में लाकर अपना काम कराने लगा। गाय, बैल, घोड़ा, सूअर, हाथी, ऊँट, भेड़, बकरी, मुरग़ी आदि मनुष्य के घर में पाले जाने लगे। इनमें कुत्ते मनुष्य के आदिम दोस्त थे।

फिर कृषक जीवन

इसके वाद खेतीवारी आरम्भ हुई। जो फल-फूल, साग-सब्जी, गेहूँ, चावल मनुष्य आजकल खाता है, उन चीजों की आदिम जंगली अवस्था वहुत भिन्न थी। वाद में मनुष्यों के अध्यवसाय से वे ही वस्तुएँ अनेक सुखदायक पदार्थ वन गयीं। प्रकृति में तो दिन-रात परिवर्तन होता ही रहता है। नाना प्रकार के पेड़-पौधे पैदा होते रहते हैं; पशु-पक्षियों के शरीर-संसर्ग से, देश-काल के परिवर्तन से, नयी नयी जातियों की सृष्टि होती रहती है। इस प्रकार मनुष्य की सृष्टि के पूर्व प्रकृति धीरे धीरे पेड़-पौधों तथा दूसरे पशुओं में परिवर्तन करती थी, पर मनुष्य की सृष्टि होते ही उसने जोर से परिवर्तन आरम्भ कर दिया। मनुष्य एक देश के पौधे और जीव-जन्तुओं को दूसरे देश में ले जाने लगा; और उनके परस्पर मिश्रण से कई प्रकार के नये जीव-जन्तु, पेड़-पौधों की जातियाँ मनुष्य द्वारा उत्पन्न की जाने लगी।

विवाह का आदि तत्त्व

आदिम अवस्था मे विवाह की पद्धति नही थी। धीरे धीरे वैवाहिक सम्वन्ध स्थापित हुआ। पहले सब समाजों में वैवाहिक सम्वन्ध माता के ऊपर निर्भर रहता था। पिता का कोई निश्चय नहीं था। माता के नाम के अनुसार वाल-वच्चों का नाम होता था। सारी सम्पत्ति स्त्रियों के हाथ में रहती थी। वे ही वाल-वच्चों का लालन-पालन करतीं थीं। क्रमशः सम्पत्ति के पुरुषों के हाथ में चले जाने से स्त्रियाँ भी उन्हींके हाथ में चली गयीं। पुरुषों ने कहा, 'जिस प्रकार यह धन-धान्य हमारा है, क्योंकि हमने खेतीवारी, लूटमार करके इसे पैदा किया है और इसमें यदि कोई हिस्सा लेना चाहे, तो हम उसका विरोध करेंगे, उसी प्रकार ये स्त्रियाँ भी हमारी हैं, यदि इन पर कोई हाथ डालेगा, तो विरोध होगा।' इस प्रकार वर्तमान विवाह-पद्धति का सूत्रपात हुआ। स्त्रियाँ भी ग़ुलामों तथा वरतन-भाँड़े की तरह पुरुषों के अधिकार में आ गयीं। प्राचीन रीति थी कि एक दल का पुरुष दूसरे दल की स्त्री के साथ व्याह करता था। यह विवाह भी स्त्रियों को जवरदस्ती छीन लाकर होता था। क्रमशः यह पद्धति वदल गयी। और स्वयवर की प्रथा प्रचलित हुई, किन्तु आज भी उन सव विषयों का थोड़ा थोड़ा आभास मिलता है। इस समय भी प्रायः सभी देशों में हम देखते हैं कि वर के ऊपर आक्रमण करने की नक़ल की जाती है। वंगाल और यूरोप में वर के ऊपर चावल फेंका जाता है। पश्चिम में कन्या की सखियाँ वरातियों पर गाली गाकर आक्रमण करती हैं।

कृषिजीवी देवता तथा मृगयाजीवी असुरों का सम्बन्ध

समाज की सृष्टि होने लगी। देश-भेद से ही समाज की सृष्टि हुई। समुद्र के किनारे जो लोग रहते थे, वे अधिकांशतः मछली पकड़कर अपना जीवन निर्वाह करते थे। जो समतल जमीन पर रहते थे, वे खेतीवारी करते थे; जो पर्वतों पर रहते थे, वे भेड़ चराते थे; जो वालू के मैदानों में रहते थे, वे वकरी और ऊँट चराते थे। कितने ही लोग जंगलों में रहकर शिकार करने लगे। जिन्होंने समतल ज़मीन पाकर खेतीवारी करना सीखा, वे पेट की ज्वाला से बहुत कुछ निश्चिन्त होकर विचार करने का अवकाश पाकर अधिकतर सभ्य होने लगे। किन्तु सभ्यता आने के साथ शरीर दुर्वल होने लगा। जो दिन-रात खुली हवा में रहकर अधिकतर मांस खाते थे, उनमें और जो घर के भीतर रहकर अधिकतर अनाज खाते थे, वहुत अन्तर होने लगा। शिकारी पशु पालनेवालों, या मछली खानेवालों को जव कभी भोजन की कठिनाई पड़ती, तभी वे समतल भूमिनिवासी कृषकों को लूटने लगते। समतलनिवासी आत्मरक्षा के लिए आपस में दल वाँधने लगे और इस प्रकार छोटे छोटे राज्यों की सृष्टि होने लगी।

देवताओं का भोजन अनाज होता था, वे सभ्य होते थे तथा ग्राम, नगरों अथवा उद्यानों में वास करते थे और वुने हुए कपड़े पहनते थे; असुरों का वास पहाड़, पर्वत, मरुभूमि या समुद्र-तट पर होता था, उनका भोजन जंगली जानवरों का मांस तथा जंगली फल-मूल था और कपड़े थे वकरी के चमड़े अथवा अन्य कोई चीज़, जो इन चीज़ों के वदले में वे देवताओं से पा जाते थे। देवता लोग शरीर से कमज़ोर होते थे और उन्हें कष्ट वर्दाश्त नही था; असुरों का शरीर हृष्ट-पुष्ट था, वे उपवास करने और कष्ट सहने में वड़े पटु थे।

राजा, वैश्य आदि विभिन्न श्रेणियों की उत्पत्ति का रहस्य

असुरों को भोजन का अभाव होते ही वे लोग दल वाँधकर पहाड़ से उतरकर या समुद्र के किनारे से आकर गाँव-नगरों को लूटते थे। वे कभी कभी धन-धान्य के लोभ से देवताओं पर भी आक्रमण कर वैठते थे। यदि वहुत से देवता एकत्र न हो सकते थे, तो उनकी असुरों के हाथ से मृत्यु हो जाती थी। देवताओं की वुद्धि तेज़ थी, इसीलिए वे कई तरह के अस्त्र-शस्त्र तैयार करने लगे। व्रह्मास्त्र, गरुड़ास्त्र, वैष्णवास्त्र, शैवास्त्र ये सव देवताओं के अस्त्र थे। असुरों के अस्त्र तो साधारण थे, पर उनके शरीर में वल वहुत था। वारम्वार देवताओं को असुरों ने हरा दिया, पर वे सभ्य होना नहीं जानते थे। वे खेतीवारी भी नहीं कर सकते थे और न वुद्धि का ही प्रयोग कर सकते थे।

विजयी असुर यदि विजित देवताओं के 'स्वर्ग' में राज्य करना चाहते थे, तो वे देवताओं के वुद्धि-कौशल से थोड़े ही दिनों में देवताओं के दास बन जाते थे। अथवा, असुर देवता के राज्य में लूटपाट मचाकर अपने स्थान में लौट जाते थे। देवता लोग जव एकत्र होकर असुरों को मारते थे, उस समय या तो असुर लोग समुद्र में जा छिपते थे, या पहाड़ों अथवा जंगलों में। क्रमशः दोनों दल वढ़ने लगे। लाखों देवता और असुर इकट्ठे होने लगे। अव महा संघर्ष, लड़ाई-झगड़े, जीत-हार होने लगी। इस प्रकार मनुष्यों के मिलने-जुलने से वर्तमान समाज की सारी वर्तमान प्रथाओं की सृष्टि होने लगी, नाना प्रकार के नवीन विचारों की सृष्टि होने लगी तथा नाना प्रकार की विद्याओं की आलोचना आरम्भ हुई। एक दल हाथ या वुद्धि द्वारा काम में आनेवाली चीज़ें तैयार करने लगा; दूसरा दल उन चीज़ों की रक्षा करने लगा। सव लोग मिलकर आपस में उन सव चीज़ों का विनिमय करने लगे और वीच में से एक चालाक दल एक स्थान की चीज़ों को दूसरे स्थान पर ले जाने के वेतनस्वरूप, सव चीज़ों का अधिकांश स्वयं हड़प करने लगा। एक दल खेती करता, दूसरा पहरा देता, एक दल वेचता तो दूसरा खरीदता। जिन लोगों ने खेतीवारी की, उन्हें कुछ नही मिला, जिन लोगों ने पहरा दिया, उन लोगों ने जुल्म करके कितने ही हिस्से ले लिये। चीज़ों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जानेवाले व्यवसायियों की पौ वारह रही। आफ़त तो आयी उन पर, जिन्हें चीज़ों के ऊँचे दाम देने पड़े। पहरा देनेवालों का नाम हुआ राजा; एक स्थान से दूसरे स्थान में चीज़ें ले जानेवाले का नाम पड़ा सौदागर। ये दोनों दल काम तो कुछ करते न थे, पर लाभ का अधिकांश इन्हीं लोगों को मिलता था। जो दल चीज़ें तैयार करता था, उसे तो वस पेट पर हाथ रखकर भगवान् का नाम लेना पड़ता था।

दस्यु और वेश्याओं की उत्पत्ति

क्रमशः इन सभी भावों के सम्मिश्रण से एक गाँठ के ऊपर दूसरी गाँठ पड़ती गयी और इस प्रकार हमारे वर्तमान जटिल समाज की सृष्टि हुई। किन्तु पूर्व के चिह्न पूर्णतः नष्ट नहीं हुए। जो लोग पहले भेड़ चराते थे, मछलियाँ पकड़कर खाते थे, वे सभ्य होने पर लूटमार और चोरी करने लगे। पास में जंगल नही था कि वे लोग शिकार करते, पर्वत भी नहीं था कि भेड़ चराते—जन्म का रोजगार शिकार करना, भेड़ चराना या मछली पकड़ना, इनमें किसीकी सुविधा नहीं थी। इसीलिए यदि वे चोरी न करें, डाका न डालें, तो जायँ कहाँ? उन पूज्य प्रातःस्मरणीय स्त्रियों की कन्याएँ अव एक साथ एक से अधिक पुरुष से

ब्याह नहीं कर सकती थीं, इसीलिए उन लोगों ने वेश्यावृत्ति ग्रहण की। इस प्रकार भिन्न भिन्न ढंग के, भिन्न भिन्न भाव के सभ्य और असभ्य देवताओं और असुरों से उत्पन्न होकर मनुष्य-समाज की सृष्टि हुई। यही कारण है कि हम प्रत्येक समाज में देवताओं की विविध लीलाएँ देखते हैं--साधु नारायण और चोर नारायण इत्यादि। पुनः किसी समाज का चरित्र दैवी या आसुरी इन प्रकृतियों के लोगों की संख्या के अनुसार समझा जाने लगा।

प्राच्य और पाश्चात्य सभ्यताओं की विभिन्न भित्तियाँ

जम्बूद्वीप की सारी सभ्यता का उद्भव समतल भूमि में बड़ी बड़ी नदियों के किनारे—यांगटिसीक्यांग, गंगा, सिन्धु और युफ्रेटीज़ के किनारे हुआ। इस सारी सभ्यता की आदि भित्ति खेतीबारी है। यह सारी सभ्यता देवता-प्रधान है और यूरोप की सारी सभ्यता का उत्पत्ति-स्थान या तो पहाड़ है अथवा समुद्रमय देश—चोर और डाकू ही इस सभ्यता की भित्ति हैं, इनमें आसुरी भाव अधिक है।

उपलब्ध इतिहास से मालूम होता है कि जम्बूद्वीप के मध्य भाग और अरब की मरुभूमि में असुरों का प्रधान अड्डा था। इन स्थानों में इकट्ठे होकर असुरों की सन्तान—चरवाहों और शिकारियों ने सभ्य देवताओं का पीछा करके उन्हें सारी दुनिया में फैला दिया।

यूरोप खण्ड के आदिम निवासियों की एक विशेष जाति अवश्य पहले से ही थी। पर्वत की गुफाओं में इस जाति का निवास था और इस जाति के जो लोग अधिक बुद्धिमान थे, वे थोड़े जलवाले तालाबों में मचान बाँधकर उन्हीं पर रहते और घर-द्वार निर्माण करते थे। ये लोग अपने सारे काम चकमक पत्थर से बने तीर, भाले, चाकू, कुल्हाड़ी आदि से ही चलाते थे।

ग्रीक

क्रमशः जम्बूद्वीप का नरस्रोत यूरोप के ऊपर गिरने लगा। कहीं कहीं अपेक्षाकृत सभ्य जातियों का अभ्युदय हुआ। रूस देश की किसी किसी जाति की भाषा भारत की दक्षिणी भाषा से मिलती है, किन्तु ये जातियाँ बहुत दिनों तक अत्यन्त बर्बर अवस्था में रहीं। एशिया माइनर के सभ्य लोगों का एक दल समीपवर्ती द्वीपों में जा पहुँचा। उसने यूरोप के निकटवर्ती स्थानों पर अपना अधिकार जमाया और अपनी बुद्धि तथा प्राचीन मिस्र की सहायता से एक अपूर्व सभ्यता की सृष्टि की। उन लोगों को हम यवन कहते हैं, और यूरोपीय उन्हें ग्रीक नाम से पुकारते हैं।

यूरोपीय जातियों की सृष्टि

इसके बाद इटली में रोमन नामक एक दूसरी बर्बर जाति ने इट्रस्कन (Etruscan) नाम की सभ्य जाति को हराया और उसकी विद्या-बुद्धि को अपनाकर स्वयं सभ्य हो गयी। क्रमशः रोमन लोगों का चारों ओर अधिकार हो गया। यूरोप खण्ड के दक्षिण और पश्चिम भाग के समस्त असभ्य लोग उनकी प्रजा बने, केवल उत्तरी भाग मे जगली बर्बर जातियाँ ही स्वाधीन रही। काल के प्रभाव से रोमन लोग ऐश्वर्य और विलासिता से दुर्बल होने लगे; उसी समय फिर जबूद्वीप की असुर सेना ने यूरोप के ऊपर चढ़ाई की। असुरों की मार खाकर उत्तर यूरोपीय बर्बर जातियाँ रोमन साम्राज्य के ऊपर टूट पड़ी, रोम का नाश हो गया। अब उन्हीं असुरों की ताड़ना से यूरोप की बर्बर जाति तथा नष्ट होने से बचे हुए रोमन और ग्रीक लोगों ने मिलकर एक अभिनव जाति की सृष्टि की। इसी समय यहूदी जाति रोम द्वारा विजित तथा विताड़ित यूरोप में फैल गयी। साथ ही उनका नवीन ईसाई धर्म भी यूरोप में फैल गया। ये सब विभिन्न जातियाँ सम्प्रदाय, विचार और नाना प्रकार के आसुरी पदार्थ महामाया की कडाही मे, रात-दिन की लड़ाई तथा मारकाट रूपी आग के द्वारा गलकर मिल गये। इसीसे यूरोपीय जातियों की सृष्टि हुई।

हिन्दुओं का सा काला रंग, उत्तरी देशों का दूध की तरह सफ़ेद रंग, काले, भूरे अथवा सफ़ेद केश, काली, भूरी, नीली आँखें, खास हिन्दुओं की तरह नाक, मुँह और आँखें तथा चीनियों की तरह चपटे मुँह, इन सब आकृतियों से युक्त बर्बर—अतिबर्बर यूरोपीय जाति की उत्पत्ति हो गयी। कुछ दिनों तक वे आपस में ही मारकाट करते रहे; उत्तर के डाकू मौक़ा पाने पर अपने से जो सभ्य थे, उनका नाश करने लगे। बीच में ईसाई धर्म के दो गुरु—इटली के पोप और पश्चिम में कांस्टान्टिनोपल शहर के पेट्रियार्क—इस पशुप्राय बर्बर जाति और उसके राजा-रानी के ऊपर शासन करने लगे।

इस ओर अरब की मरुभूमि में मुसलमानी धर्म की उत्पत्ति हुई; जंगली पशु के तुल्य अरबों ने एक महापुरुष की प्रेरणा से, अदम्य तेज और अनाहत बल से पृथ्वी के ऊपर आघात किया। पश्चिम-पूर्व के दो प्रान्तों से उस तरंग ने यूरोप में प्रवेश किया, उसी प्रवाह में भारत और प्राचीन ग्रीक की विद्या-बुद्धि यूरोप में प्रवेश करने लगी।

मुसलमानों की भारत आदि पर विजय

जम्बूद्वीप के मध्यभाग में 'सेलमूल तातार' नाम की एक असुर जाति ने

इस्लाम धर्म ग्रहण किया और उसने एशिया माइनर आदि स्थानों को अपने क़ब्ज़े में कर लिया। भारत को जीतने की अनेक बार चेष्टा करने पर भी अरब लोग सफल न हो सके। मुसलमानी अभ्युदय सारी पृथ्वी को जीतकर भी भारत के सामने कुण्ठित हो गया। उन लोगों ने एक बार सिन्धु देश पर आक्रमण किया था, पर उसे रख नहीं सके। इसके बाद फिर उन लोगों ने कोई यत्न नही किया।

कई शताब्दियों के पश्चात् जब तुर्क आदि जातियाँ बौद्ध धर्म छोड़कर मुसलमान बन गयीं, तो उस समय इन तुर्कों ने समभाव से हिन्दू, पारसी आदि सबको दास बना लिया। भारतवर्ष को जीतनेवाले मुसलमान विजेताओं में एक दल भी अरबी या पारसी नहीं है, सभी तुर्की या तातारी हैं। सभी आगन्तुक मुसलमानों को राजपूताने में 'तुर्क' कहते हैं। यही सत्य और ऐतिहासिक तथ्य है। राजपूताने के चारण लोग गाते थे—'तुर्कन को अब बाढ़ रह्यो है जोर।' और यही सत्य है। कुतुबुद्दीन से लेकर मुग़ल बादशाहों तक सब तातार लोग ही थे, अर्थात् जिस जाति के तिब्बती थे, उसी जाति के। सिर्फ़ वे मुसलमान हो गये और हिन्दू, पारसियों से विवाह करके उनका चपटा मुँह बदल गया। यह वही प्राचीन असुर वंश है। आज भी काबुल, फ़ारस, अरब और कांस्टांटिनोप्ल के सिंहासन पर बैठकर वे ही तातारी असुर राज करते हैं; गान्धारी, पारसी और अरबी उनकी ग़ुलामी करते हैं। विराट् चीन साम्राज्य भी उसी तातार मांचु के पैर के नीचे था, पर उस मांचु ने अपना धर्म नहीं छोड़ा, वह मुसलमान नहीं बना, वह महालामा का चेला था। यह असुर जाति कभी भी विद्या-बुद्धि की चर्चा नही करती, केवल लड़ाई लड़ना ही जानती है। उस रक्त के सम्मिश्रण बिना वीर प्रकृति का होना कठिन है। उत्तर यूरोप, विशेषकर रूसियों में उसी तातारी रक्त के कारण प्रबल वीर प्रकृति है। रूसियों में तीन हिस्सा तातारी रक्त है। देव और असुर की लड़ाई अभी भी बहुत दिनों तक चलती रहेगी। देवता असुर-कन्याओं से ब्याह करते है और असुर देवकन्याओं को छीन ले जाते हैं, इसी प्रकार प्रबल वर्णसंकरी जातियों की सृष्टि होती है।

ईसाई और मुसलमान की लड़ाई

तातारों ने अरबी खलीफ़ा का सिंहासन छीन लिया, ईसाइयों के महातीर्थ जेरुसलम आदि स्थानों पर क़ब्ज़ा कर ईसाइयों की तीर्थयात्रा बन्द कर दी तथा अनेक ईसाइयों को मार डाला। ईसाई धर्म के पोप लोग क्रोध से पागल हो गये। सारा यूरोप उनका चेला था। राजा और प्रजा को उन लोगों ने उभाड़ना शुरू किया। झुंड के झुंड यूरोपीय बर्बर जेरुसलम के उद्धार के लिए एशिया

माइनर की ओर चल पड़े ! कितने तो आपस में ही लड़ मरे, कितने रोग से मर गये, बाक़ी को मुसलमान मारने लगे। वे घोर वर्बर और भी पागल हो गये— मुसलमान जितनों को मारते थे, उतने ही फिर आ जाते थे। वे नितान्त जंगली थे। अपने ही दल को लूटते थे। खाना न मिलने के कारण उन लोगों ने मुसलमानों को पकड़कर खाना आरम्भ कर दिया। यह वात आज भी प्रसिद्ध है कि अंग्रेज़ों का राजा रिचर्ड मुसलमानों के मांस से बहुत प्रसन्न होता था।

फलतः यूरोप में सभ्यता का प्रवेश

जंगली मनुष्य और सभ्य मनुष्य की लड़ाई में जो होता है, वही हुआ— जेरुसलम आदि पर अधिकार न हो सका। किन्तु यूरोप सभ्य होने लगा। वहाँ के चमड़ा पहननेवाले, पशु-मांस खानेवाले जंगली अंग्रेज, फ्रेंच, जर्मन आदि एशिया की सभ्यता सीखने लगे। इटली आदि में अपने यहाँ के नागाओं के समान जो सैनिक थे, वे दर्शन शास्त्र सीखने लगे। ईसाइयों का नागा दल (Knight Templars) कट्टर अद्वैतवादी बन गया। अन्त में वे लोग ईसाइयों की भी हँसी उड़ाने लगे। उक्त दल के पास धन भी बहुत सा इकट्ठा हो गया था, उस समय पोप की आज्ञा से, धर्म-रक्षा के बहाने यूरोपीय राजाओं ने उन बेचारों को मारकर उनका धन लूट लिया।

इधर मूर नामक एक मुसलमान जाति ने स्पेन देश में एक अत्यन्त सभ्य राज्य की स्थापना की और वहाँ अनेक प्रकार की विद्याओं की चर्चा आरम्भ कर दी; फलतः पहले-पहल यूरोप में यूनिवर्सिटियों की सृष्टि हुई। इटली, फ्रांस और सुदूर इंग्लैण्ड से वहाँ विद्यार्थी पढ़ने आने लगे। राजे-रजवाड़ों के लड़के युद्ध-विद्या, आचार, क़ायदा, सभ्यता आदि सीखने के लिए वहाँ आने लगे और घर-द्वार, महल-मन्दिर सब नये ढंग से बनने लगे।

यूरोप की एक महासेना के रूप में परिणति

किन्तु सारा यूरोप एक महासेना का निवास-स्थान बन गया। वह भाव इस समय भी है। मुसलमान जब देश विजय करते थे, तब उनका बादशाह अपने लिए एक बड़ा टुकड़ा रखकर बाक़ी सेनापतियों में बाँट देता था। वे लोग बादशाह को मालगुज़ारी नहीं देते थे, किन्तु बादशाह को जितनी सेना की आवश्यकता पड़ती, मिल जाती थी। इस प्रकार प्रस्तुत फ़ौज का झमेला न रखकर आवश्यकता पड़ने पर बहुत बड़ी सेना एकत्र हो सकती थी। आज भी राजपूताने में यही बात मौजूद है। इसे मुसलमान ही इस देश में लाये हैं। यूरोपवालों ने भी मुसलमानों से ही

यह बात ली है। किन्तु मुसलमानों के यहाँ थे बादशाह, सामन्त और सैनिक, बाक़ी प्रजा। किन्तु यूरोप में राजा तथा सामन्तों ने शेष प्रजा को एक तरह का गुलाम सा बना लिया। प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी सामन्त का गुलाम बनकर ही जीवित रह सकता था। आज्ञा पाते ही उसे तैयार होकर लड़ाई के लिए निकल आना पड़ता था।

यूरोपीय सभ्यतारूपी वस्त्र के उपादान

यूरोपीय सभ्यता नामक वस्त्र के ये सब उपकरण हुए : एक नातिशीतोष्ण-पहाड़ी समुद्र-तटमय प्रदेश इसका करघा बना और सर्वदा युद्धप्रिय बलिष्ठ अनेक जातियों की समष्टि से पैदा हुई एक सम्मिश्र जाति उसकी रुई हुई। इसका ताना हुआ आत्मरक्षा और धर्मरक्षा के लिए सर्वदा युद्ध करना। जो तलवार चला सकता है, वही बड़ा हुआ और जो तलवार चलाना नहीं जानता, वह स्वाधीनता का विसर्जन कर किसी वीर की छत्र-छाया में रह, जीवन व्यतीत करने लगा। स वस्त्र का बाना हुआ व्यापार-वाणिज्य। इस सभ्यता का साधन था—तलवार; आधार था—वीरत्व; और उद्देश्य था—लौकिक और पारलौकिक भोग।

हमारी सभ्यता शान्तिप्रिय है

हमारी कहानी क्या है? आर्य लोग शान्तिप्रिय हैं, खेतीबारी कर अनाज पैदा करते हैं और शान्तिपूर्वक अपने परिवार के पालन-पोषण में ही खुश होते हैं। उनके लिए साँस लेने का अवकाश यथेष्ट था; इसीलिए चिन्तनशील तथा सभ्य होने का अवकाश अधिक था। हमारे जनक राजा अपने हाथों से हल भी चलाते थे और उस समय के सर्वश्रेष्ठ आत्मविद् भी थे। यहाँ आरम्भ से ही ऋषि-मुनियों और योगियों आदि का अभ्युदय था। वे लोग आरम्भ से ही जानते थे कि संसार मिथ्या है। लड़ना-झगड़ना बेकार है। जो आनन्द के नाम से पुकारा जाता है, उसकी प्राप्ति शान्ति में है और शान्ति है शारीरिक भोग के विसर्जन में। सच्चा आनन्द है मानसिक उन्नति में और बौद्धिक विकास में, न कि शारीरिक भोगों में। जंगलों को आबाद करना उनका काम था।

इसके बाद इस साफ़ भूमि में निर्मित हुई यज्ञ की वेदी और उस निर्मल आकाश में उठने लगा यज्ञ का धुआँ। उस हवा में वेदमंत्र प्रतिध्वनित होने लगे और गाय-बैल आदि पशु निःशंक चरने लगे। अब विद्या और धर्म के पैर के नीचे तलवार का स्थान हुआ। उसका काम सिर्फ़ धर्मरक्षा करना रह गया, तथा

मनुष्य और गाय-बैल आदि पशुओं का परित्राण करना। वीरों का नाम पड़ा आपद्त्राता—क्षत्रिय।

हल, तलवार आदि सबका अधिपति रक्षक हुआ—धर्म। वही राजाओं का राजा, जगत् के सो जाने पर भी सदा जाग्रत रहता है। धर्म के आश्रय में सभी स्वाधीन रहते हैं।

आर्यों द्वारा आदिम भारतीय जाति का विनाश यूरोपियनों का आधारहीन अनुमान मात्र है

यूरोपीय पण्डितों का यह कहना कि आर्य लोग कहीं से घूमते-फिरते आकर भारत में जंगली जाति को मार-काटकर और ज़मीन छीनकर स्वयं यहाँ बस गये, केवल अहमक़ों की बात है। आश्चर्य तो इस बात का है कि हमारे भारतीय विद्वान् भी उन्हींके स्वर में स्वर मिलाते हैं और यही सब झूठी बातें हमारे बाल-बच्चों को पढ़ायी जाती हैं—यह घोर अन्याय है।

मैं स्वयं अल्पज्ञ हूँ, विद्वत्ता का दावा नहीं करता; किन्तु जो समझता हूँ, उसे ही लेकर मैंने पेरिस की कांग्रेस में इसका प्रतिवाद किया था। यूरोपीय एवं भारतीय विद्वानों से मैंने इसकी चर्चा की है। मौक़ा आने पर फिर इस सम्बन्ध में प्रश्न उठाना चाहूँगा। यह मैं तुम लोगों से और अपने पण्डितों से कहता हूँ कि अपनी पुस्तकों का अध्ययन करके इस समस्या का निर्णय करो।

यूरोपियनों को जिस देश में मौक़ा मिलता है, वहाँ के आदिम निवासियों का नाश करके स्वयं मौज से रहने लगते हैं, इसलिए उनका कहना है कि आर्य लोगों ने भी वैसा ही किया है! वे बुभुक्षित पाश्चात्य 'अन्न अन्न' चिल्लाते हुए, किसको मारें, किसको लूटें, कहते हुए घूमते रहते हैं और कहते है, आर्य लोगों ने भी वैसा ही किया है!! मैं पूछना चाहता हूँ कि इस धारणा का आधार क्या है? क्या सिर्फ़ अन्दाज़ ही? तुम अपना अन्दाज़-अनुमान अपने घर में रखो।

किस वेद अथवा सूक्त में अथवा और कहीं तुमने देखा है कि आर्य दूसरे देशों से भारत में आये? इस बात का प्रमाण तुम्हें कहाँ मिला है कि उन लोगों ने जंगली जातियों को मार-काटकर यहाँ निवास किया? इस व्यर्थ अहमक़पन की क्या ज़रूरत है? तुमने तो रामायण पढ़ी ही नहीं, फिर व्यर्थ ही रामायण के आधार पर यह सफ़ेद झूठ क्यों गढ़ रहे हो?

रामायण आर्य जाति द्वारा अनार्य-विजय का उपाख्यान नहीं है

रामायण क्या है—आर्यों के द्वारा दक्षिणी जंगली जातियों की विजय!!

हाँ, यह ठीक है कि राम सुसभ्य आर्य राजा थे, पर उन्होंने किसके साथ लड़ाई की थी? लंका के राजा रावण के साथ। ज़रा रामायण पढ़कर तो देखो, वह रावण सभ्यता में राम के देश से बढ़ा-चढ़ा था, कम नहीं! लंका की सभ्यता अयोध्या की सभ्यता से अधिक थी, कम नहीं; इसके अलावा वानरादि दक्षिणी जातियाँ कहाँ जीत ली गयीं? वे सब तो श्री राम के दोस्त बन गये थे। किस गुह का या किस बाली नामक राजा का राज्य राम ने छीन लिया? कुछ कहो तो सही?

सम्भव है कि दो-एक स्थानों पर आर्य तथा जंगली जातियों का युद्ध हुआ हो। हो सकता है कि दो-एक धूर्त मुनि राक्षसों के जंगल में धूनी रमाकर बैठे हों, ध्यान लगाकर आँखें बन्द कर इस आसरे में बैठे हों कि कब राक्षस उनके ऊपर पत्थर या हाड़-मांस फेंकते हैं? ज्यों ही ऐसी घटनाएँ हुई कि वे लोग राजाओं के पास फ़रियाद करने पहुँच गये। राजा जिरह-बख्तर पहनकर, लोहे के हथियार लेकर घोड़े पर चढ़कर आते थे; फिर जंगली जातियाँ हाड़-पत्थर लेकर उनसे कब तक लड सकती थीं? राजा उन्हें मार-पीटकर चले जाते थे। यह सब होना सम्भव है। किन्तु ऐसा होने पर भी यह कहाँ लिखा है कि जंगली जातियाँ अपने घरों से भगा दी गयी।

आर्य सभ्यता रूपी वस्त्र का करघा है विशाल नद-नदी, उष्णप्रधान समतल क्षेत्र, नाना प्रकार की आर्यप्रधान सुसभ्य, अर्धसभ्य, असभ्य जातियाँ इसकी कपास हैं, और इसका ताना है वर्णाश्रमाचार। इसका बाना है प्राकृतिक द्वन्द्वों का और संघर्ष का निवारण।

उपसंहार

यूरोपीय लोगो! तुमने कब किसी देश का भला किया है? अपने से अवनत जाति को ऊपर उठाने की तुममें शक्ति कहाँ है? जहाँ कहीं तुमने दुर्बल जाति को पाया, नेस्त-नाबूद कर दिया और उसकी निवास-भूमि में तुम खुद बस गये और वे जातियाँ एकदम मटियामेट हो गयीं! तुम्हारे अमेरिका का क्या इतिहास है? तुम्हारे आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड, प्रशान्त महासागर के द्वीप-समूह और अफ्रीका का क्या इतिहास है?

वे सब जंगली जातियाँ आज कहाँ हैं? एकदम सत्यानाश! जंगली पशुओं की तरह उन्हें तुम लोगों ने मार डाला। जहाँ तुम्हारी शक्ति काम नहीं कर सकी, सिर्फ़ वहीं अन्य जातियाँ जीवित हैं।

भारत ने तो ऐसा काम कभी भी नहीं किया। आर्य लोग बड़े दयालु थे, उनके

अखण्ड, समुद्रवत् विशाल हृदय में, दैवी प्रतिभा-सम्पन्न मस्तिष्क में उन सब आकर्षक प्रतीत होनेवाली पाशविक प्रणालियों ने किसी समय भी स्थान नहीं पाया। स्वदेशी अहमक़ो! यदि आर्य लोग जंगली लोगों को मार-पीटकर यहाँ वास करते, तो क्या इस वर्णाश्रम की सृष्टि होती?

यूरोप का उद्देश्य है—सबको नाश करके स्वयं अपने को बचाये रखना। आर्यों का उद्देश्य था—सबको अपने समान करना अथवा अपने से भी बड़ा करना। यूरोपीय सभ्यता का साधन—तलवार है, और आर्यों की सभ्यता का उपाय—वर्ण-विभाग। शिक्षा और अधिकार के तारतम्य के अनुसार सभ्यता सीखने की सीढ़ी थी—वर्ण-विभाग! यूरोप में बलवानों की जय और निर्बलों की मृत्यु होती है। भारत में प्रत्येक सामाजिक नियम दुर्बलों की रक्षा करने के लिए ही बनाया गया है।

मानव जाति की उन्नति के सम्बन्ध में ईसाई और मुसलमान धर्म की तुलना[1]

यूरोपीय लोग जिस सभ्यता की इतनी बड़ाई करते हैं, उसकी उन्नति का अर्थ क्या है? उसका अर्थ यही है कि सिद्धि अनुचित को उचित बना देती है। चोरी, झूठ अथवा स्टैन्ली द्वारा भूखा मुसलमान अपने समान व्यवहारवाले रक्षकों का एक ग्रास अन्न चोरी करने के अपराध में कोड़े एवं फाँसी की सजा पाता है,—यही बात सब बातों के औचित्य का विधान करती है; 'दूर हटो, मैं वहाँ आना चाहती हूँ', इस प्रकार की प्रसिद्ध यूरोपीय नीति—जिसका प्रमाण यह है कि जिस जगह यूरोपियनों का आगमन हुआ, वहीं आदिम निवासी जातियों का विनाश हुआ—यही उस नीति के औचित्य का विधान करता है! इस सभ्यता के अग्रगामी लन्दन नगरी में व्यभिचार को और पेरिस में स्त्री तथा लड़कों को असहाय अवस्था में छोड़कर भाग जाना एवं आत्महत्या करने को 'मामूली धृष्टता' समझते हैं—इत्यादि।

इस समय मुसलमानों की पहली तीन शताब्दियों के ओज तथा उनकी सभ्यता के विस्तार के साथ ईसाई धर्म की पहली तीन शताब्दियों की तुलना करो। पहली तीन शताब्दियों में ईसाई धर्म संसार को अपना परिचय ही न दे सका और जिस समय कॉन्स्टेंटाइन (Constantine) की तलवार ने इसे राज्य के बीच में स्थान

---

[1] स्वामी जी के देहावसान के बाद उनके काग़ज़-पत्रों में यह अन्तिमांश मिला था। यह एवं पूर्ववर्ती समग्र लेख मूल बंगला से अनूदित हैं। स०

दिया, तब से भी ईसाई धर्म ने आध्यात्मिक या सांसारिक सभ्यता के विस्तार में किस समय क्या सहायता की है? जिन यूरोपीय पण्डितों ने पहले-पहल यह सिद्ध किया कि पृथ्वी घूमती है, ईसाई धर्म ने उनको क्या पुरस्कार दिया था? किस समय किस वैज्ञानिक का ईसाई धर्म ने समर्थन किया? क्या ईसाई धर्म का साहित्य दीवानी या फ़ौजदारी, विज्ञान, शिल्प अथवा व्यवसाय-कौशल के अभाव को पूरा कर सकेगा? आज तक ईसाई धर्म धार्मिक ग्रन्थों के अतिरिक्त दूसरे प्रकार की पुस्तकों के प्रचार की आज्ञा नहीं देता। आज जिस मनुष्य का विद्या या विज्ञान में प्रवेश है, वह क्या निष्कपट रूप से ईसाई ही बना रह सकता है? ईसाइयों के नव व्यवस्थान में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से किसी भी विज्ञान या शिल्प की प्रशंसा नहीं है। किन्तु ऐसा कोई विज्ञान या शिल्प नहीं है, जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से क़ुरान शरीफ़ या हदीस में अनेक वाक्यों से अनुमोदित या उत्साहित न किया गया हो। यूरोप के सर्वप्रधान मनीषी वाल्टेयर, डारविन, बुकनर, फ़्लामारीयन, विक्टर ह्यूगो आदि पुरुषों को वर्तमान ईसाई धर्म द्वारा निन्दा की गयी एवं उन्हें अभिशाप दिया गया। किन्तु सभी महात्माओं को इस्लाम धर्म ने आस्तिक माना, कहा केवल यही कि इनमें पैग़म्बर के प्रति विश्वास न था। सभी धर्मों की उन्नति के बाधक तथा साधक कारणों की यदि परीक्षा ली जाय, तो देखा जायगा कि इस्लाम जिस स्थान पर गया है, वहाँ के आदिम निवासियों की उसने रक्षा की है। वे जातियाँ अभी भी वहाँ वर्तमान हैं। उनकी भाषा और जातीय विशेषत्व आज भी मौजूद है।

ईसाई धर्म कहाँ ऐसा कार्य दिखा सकता है? स्पेन देश के अरबी, आस्ट्रेलिया और अमेरिका के आदिम निवासी लोग अब कहाँ है? यूरोपीय ईसाइयों ने यहूदियों की इस समय क्या दशा की है? एक दान-प्रणाली को छोड़कर यूरोप की कोई भी कार्य-पद्धति ईसाई धर्मग्रंथ (Gospels) से अनुमोदित नहीं है, बल्कि उसके विरुद्ध ही है। यूरोप में जो कुछ भी उन्नति हुई है, वह सभी ईसाई धर्म के विरुद्ध विद्रोह के द्वारा। आज यूरोप में यदि ईसाई धर्म की शक्ति प्रबल होती, तो यह शक्ति पास्टचुर (Pasteur) और कॉक (Coch) की तरह के वैज्ञानिकों को पशुओं की तरह भून डालती और डारविन के शिष्यों को फाँसी पर लटका देती। वर्तमान यूरोप में ईसाई धर्म और सभ्यता अलग चीज़ें हैं। सभ्यता, इस समय अपने पुराने शत्रु ईसाई धर्म के नाश के लिए, पादरियों को मार भगाने और उनके हाथों से विद्यालय तथा धर्मार्थ चिकित्सालयों को छीन लेने के लिए कटिबद्ध हो गयी है। यदि मूर्ख किसानों का दल न होता, तो ईसाई धर्म अपने घृणित जीवन को एक क्षण भी क़ायम न रख सकता और स्वयं समूल

उखाड़ फेंका जाता, क्योंकि शहर के रहनेवाले दरिद्र लोग इस समय भी ईसाई धर्म के प्रकट शत्रु है। इसके साथ इस्लाम धर्म की तुलना करो, तो प्रतीत होगा कि मुसलमानों के देश की सारी पद्धतियाँ इस्लाम धर्म के अनुसार प्रचलित हुई हैं और इस्लाम के धर्मप्रचारकों का सभी राजकर्मचारी बहुत सम्मान करते हैं तथा दूसरे धर्मों के प्रचारक भी उनसे सम्मानित होते है।

प्राच्य और पाश्चात्य

पाश्चात्य देशों में इस समय एक साथ ही लक्ष्मी और सरस्वती दोनों की कृपा हो गयी है। केवल भोग की चीज़ों को ही एकत्र करके वे शान्त नहीं होते, वरन् सभी कामों में एक सुन्दरता देखना चाहते हैं। खान-पान, घरद्वार सभी में सुन्दरता की खोज है। जब धन था, तो हमारे देश में भी एक दिन यही भाव था। इस समय एक ओर दरिद्रता है, दूसरी ओर हम लोग इतो नष्टस्ततो भ्रष्टः होते जा रहे है। जाति के जो गुण थे, वे मिटते चले जा रहे हैं, और पाश्चात्य देश से भी कुछ नही पा रहे हैं। चलने-फिरने, उठने-बैठने, सभी के लिए हमारा एक नियम था, वह नष्ट हो रहा है और हम लोग पाश्चात्य नियमों को अपनाने में भी असमर्थ हैं। पूजा-पाठ प्रभृति आदि जो कुछ था, उसे तो हम लोग जल में प्रवाहित किये दे रहे हैं, पर समयोपयोगी किसी नवीन नियम का अभी भी निर्माण नहीं हो रहा है। हम इस समय दुर्दशा के बीच में पड़े हैं, भावी बगाल अभी भी अपने पैरों पर नहीं खड़ा हुआ है! यहाँ सबसे अधिक दुर्दशा कलाओं की हुई है। पहले सभी वृद्धाएँ दीवालों को रंग-बिरंगा रँगती थीं, आँगन को फूल-पत्तों के चित्रों से सजाती थी, खाने-पीने की चीजों को भी कलात्मक ढंग से सजाती थी; वह सब या तो चूल्हे में चला गया है या शीघ्र ही जा रहा है! नयी चीजें अवश्य सीखनी होंगी और करनी भी होंगी, पर क्या पुरानी चीज़ों को जल में डुबाकर? नयी बातें तो तुमने खाक सीखी हैं, केवल बकवाद करना जानते हो! काम की विद्या तुमने कौन सी सीखी है? आज भी दूर के गाँवों में लकड़ी के और ईंटो के पुराने काम देख आओ। कलकत्ते के बढ़ई एक जोड़ा दरवाजा तक नहीं तैयार कर सकते। दरवाजा क्या—सिटकिनी तक नहीं बना सकते। बढ़ईपना तो अब केवल अंग्रेज़ी औज़ारों को खरीदने में ही रह गया है! यही अवस्था सब चीज़ों मे उपस्थित हो गयी है। हमारा जो कुछ था, वह सब तो जा रहा है, और विदेशों से भी सीखी है केवल बकवास! खाली किताबें ही तो पढ़ते हो! हमारे देश में बंगाली और विलायत में आयरिश (आयरलैण्डवाले) दोनों ही एक धारा में बह रहे हैं। खाली बकबक करते हैं। वक्तृता झाड़ने में ये दोनों जातियाँ

खूब निपुण हैं; किन्तु काम करने में एक कौड़ी भी नहीं; अभागे दिन-रात आपस में ही मार-काटकरके प्राण देते हैं!

साफ़-सुथरा बनने-ठनने में इस देश (पाश्चात्य) का इतना अधिक अभ्यास हो गया है कि ग़रीब से ग़रीब आदमी की भी इस ओर दृष्टि रहती है। दृष्टि भी किसी मतलब से ही रहती है—कारण, साफ़-सुथरा कपड़ा-लत्ता न पहनने से कोई उन्हें कामकाज ही न देगा। नौकर, मज़दूरिन, रसोइया सबका कपड़ा दिन-रात लकालक रहता है। घरद्वार झाड़-झूड़, धो-पोंछकर साफ़-सुथरा किया रहता है। इनकी प्रधान विशेषता यह है कि इधर-उधर कभी कोई चीज़ नहीं फेंकेंगे। रसोईघर झकाझक—कूड़ा-करकट जो कुछ फेंकना है, बर्तन में फेंकेंगे, फिर उस स्थान से दूर ले जाकर फेंकेंगे। न आँगन में और न रास्ते में ही फेंकेंगे।

जिनके पास धन है, उनका घर देखने की चीज़ होती है—रात-दिन सब झकाझक रहता है। इसके बाद देश-विदेशों की नाना प्रकार की कारीगरी की चीज़ों को एकत्र कर रखा है। इस समय हमें उनकी तरह कारीगरी की चीज़ें एकत्र करने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु जो चीज़ें नष्ट हो रही हैं, उनके लिए तो थोड़ा यत्न करना पड़ेगा या नहीं? उनकी तरह का चित्रकार या शिल्पकार स्वयं होने के लिए अभी भी बहुत देर है। इन दोनों कामों में हम लोग बहुत दिनों से ही अपटु हैं। हमारे देवी-देवता तक सुन्दर होते है, यह तो जगन्नाथ जी को ही देखने से पता लग जाता है! बहुत प्रयत्न से उनकी नक़ल करने पर कहीं एकाध रविवर्मा पैदा होते हैं। इसकी अपेक्षा देशी ढंग के चित्र बनाना अधिक अच्छा है—उनके कामों में फिर झकाझक रंग है। इन सबको देखने से रविवर्मा के चित्रों का लज्जा से सिर नीचा हो जाता है! उनकी अपेक्षा जयपुर के सुनहले चित्र और दुर्गा जी के चित्र आदि देखने में अधिक सुन्दर है। यूरोपियनों की पत्थर की कारीगरी आदि की बातें दूसरे प्रबन्ध में कही जायँगी। यह एक बहुत बड़ा विषय है।

भारत का ऐतिहासिक क्रमविकास

ॐ तत् सत्

ॐ नमो भगवते रामकृष्णाय

नासतो सत् जायते !—असत् से सत् का आविर्भाव नहीं हो सकता।...

सत् का कारण असत् कभी नहीं हो सकता। शून्य से किसी वस्तु का उद्भव सम्भव नहीं। कार्य-कारणवाद सर्वशक्तिमान है और ऐसा कोई देश-काल ज्ञात नहीं है, जब इसका अस्तित्व नहीं था। यह सिद्धान्त भी उतना ही प्राचीन है, जितनी आर्य जाति, इस जाति के मन्त्रद्रष्टा कवियों ने उसका गौरव गान गाया है, इसके दार्शनिकों ने उसको सूत्रबद्ध किया है, और उसको वह आधारशिला बनायी, जिस पर आज का भी हिन्दू अपने जीवन की समग्र योजना स्थिर करता है।

आरम्भ में इस जाति में एक अपूर्व जिज्ञासा थी, जिसका शीघ्र ही निर्भीक विश्लेषण में विकास हो गया। यद्यपि आरंभिक प्रयासों का परिणाम एक भावी धुरन्धर शिल्पी के अनभ्यस्त हाथों के प्रयास जैसा भले ही हो, किन्तु शीघ्र ही उसका स्थान विशिष्ट विज्ञान, निर्भीक प्रयत्नों एवं आश्चर्यजनक परिणामों ने ले लिया।

इस निर्भीकता ने इन आर्य ऋषियों को स्वनिर्मित यज्ञ-कुण्डों की हर एक ईंट के परीक्षण के लिए प्रेरित किया, उन्हें अपने धर्मग्रन्थों के शब्द शब्द के विश्लेषण, पेषण और मंथन के लिए उकसाया। इसी कारण उन्होंने कर्मकाण्ड को व्यवस्थित किया, उसमें परिवर्तन और पुनः परिवर्तन किया, उसके विषय में शंकाएँ उठायीं, उसका खण्डन किया और उसकी समुचित व्याख्या की। देवी-देवताओं के बारे में गहरी छानबीन हुई और उन्होंने सार्वभौम, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी सृष्टिकर्ता को, अपने पैतृक स्वर्गस्थ परम पिता को, केवल एक गौण स्थान प्रदान किया; या 'उसे' व्यर्थ कहकर पूर्णरूपेण बहिष्कृत कर दिया गया और उसके बिना ही एक ऐसे विश्व-धर्म का सूत्रपात किया गया, जिसके अनुयायियों की संख्या आज भी अन्य धर्मावलम्बियों की अपेक्षा अधिक है। विविध प्रकार की यज्ञ-वेदियों के निर्माण में ईंटों के विन्यास के आधार पर उन्होंने ज्यामिति-शास्त्र का विकास किया और अपने ज्योतिष के उस ज्ञान से सारे विश्व को चकित कर दिया, जिसकी उत्पत्ति पूजन एवं अर्घ्यदान का समय निर्धारित करने के प्रयास में हुई। इसी

कारण अन्य किसी अर्वाचीन या प्राचीन जाति की तुलना में गणित को इस जाति का योगदान सर्वाधिक है। उनके रसायन शास्त्र, औषधियों में धातुओं के मिश्रण, संगीत के स्वरों के सरगम के ज्ञान तथा उनके धनुषीय यंत्रों के आविष्कारों से आधुनिक यूरोपीय सभ्यता के निर्माण में विशेष सहायता मिली है। उज्ज्वल दन्त-कथाओं द्वारा, बाल मनोविकास के विज्ञान का आविष्कार इन लोगों ने किया। इन कथाओं को प्रत्येक सभ्य देश की शिशुशालाओं या पाठशालाओं में सभी बच्चे चाव से सीखते हैं और उनकी छाप जीवन भर बनी रहती है।

विश्लेषणात्मक सूक्ष्म प्रवृत्ति के पूर्व एवं पश्चात् इस जाति की एक अन्य बौद्धिक विशेषता थी—काव्यानुभूति, जो मखमली म्यान की तरह इस प्रवृत्ति को आच्छादित किये हुए थी। इस जाति का धर्म, इसका दर्शन, इसका इतिहास, इसका आचरण-शास्त्र, राजनीति, सब कुछ काव्य-कल्पना की एक क्यारी में सँजोये गये हैं और इन सबको एक चमत्कार-भाषा में, जिसे संस्कृत या 'पूर्णांग' नाम से सम्बोधित किया गया तथा अन्य किसी भाषा की अपेक्षा जिसकी व्यञ्जना-शक्ति बेजोड़ है, व्यक्त किया गया था। गणित के कठोर तथ्यों को भी व्यक्त करने के लिए श्रुतिमधुर छंदों का उपयोग किया गया था।

विश्लेषणात्मक शक्ति एवं काव्य-दृष्टि की निर्भीकता, ये ही हिन्दू जाति के निर्माण की दो अन्तर्वर्ती शक्तियाँ है, जिन्होंने इस जाति को आगे बढ़ने की प्रेरणा दी। ये दोनों मिलकर मानो राष्ट्रीय चरित्र के मुख्य स्वर हो गये। इनका संयोग इस जाति को सदा इन्द्रियों से परे जाने के लिए प्रेरित करता रहा है—वह उनके उस गंभीर चिंतन का रहस्य है, जो उनके शिल्पियों द्वारा निर्मित इसपात की उस छुरी की भाँति है, जो लोहे का छड़ काट सकती थी, किंतु इतनी लचीली थी कि उसे वृत्ताकार मोड़ा जा सकता था।

सोना-चाँदी में भी उन्होंने कविता ढाली। मणियों का अद्भुत संयोजन, संग-मर्मर में चमत्कारपूर्ण कौशल, रंगों में रागिनी, महीन पट जो वास्तविक संसार की अपेक्षा स्वप्नलोक के अधिक प्रतीत होते हैं—इन सबके पीछे इसी राष्ट्रीय चरित्र-लक्षण की अभिव्यक्ति के सहस्रों वर्षों की साधना निहित है।

कला एवं विज्ञान, यहाँ तक कि पारिवारिक जीवन के तथ्य भी काव्यात्मक भावों से परिवेष्ठित हैं, जो इस सीमा तक आगे बढ़ जाते हैं कि ऐन्द्रिय अतीन्द्रिय का स्पर्श कर ले, स्थूल यथार्थता भी अयथार्थता की गुलाबी आभा से अनुरंजित हो जाय।

हमें इस जाति की जो प्राचीनतम झलकें मिलती हैं, उनसे प्रकट होता है कि इस जाति में यह चारित्रिक विशेषता एक उपयोगी उपकरण के रूप में पहले से ही विद्यमान थी। प्रगति-पथ पर अग्रसर होने में धर्म एवं समाज के अनेक रूप

पीछे छूट गये होंगे, तब कहीं हमें इस जाति का वह रूप उपलब्ध होता है, जो आप्त वेद ग्रन्थों में वर्णित है।

सुव्यवस्थित देवमंडल, विशद् कर्मकाण्ड, व्यवसाय-वैभिन्नय के कारण समाज का पैतृक वर्णों में विभाजन जीवन की अनेकानेक आवश्यकताएँ एवं सुखोपभोग के साधन आदि पहले से ही इसमें मौजूद है।

अधिकांश आधुनिक विद्वान् इस बात पर सहमत हैं कि भारतीय जलवायु एवं अन्य परिस्थितिपरक रीति-रिवाज़ तब तक इस जाति पर कोई प्रभाव नहीं डाल सका था।

सदियों तक प्रगति-पथ पर अग्रसर होने के बाद हमें एक ऐसी मानव-गोष्ठी मिलती है, जो उत्तर में हिमालय के हिम तथा दक्षिण के ताप से परिवेष्टित है और जिसके मध्य विशाल मैदान एव अनंत वन है, जिनमें विराट् सरिताएँ उत्ताल लहरों में प्रवाहित है। यहाँ हमे विभिन्न जातियों की झलक मिलती है—द्रविड़, तातार, एव आदिवासी, जिन्होंने अपने अंशानुसार रक्त, भाषा, रीति-रिवाज़ तथा धर्मों में योगदान दिया। अन्त में हमारे सम्मुख एक महान् राष्ट्र का आविर्भाव होता है, जिसने अपने आर्य-वैशिष्ट्य को अब तक सुरक्षित रखा है, जो स्वांगीकरण के कारण अधिक शक्तिशाली, व्यापक एव सुसगठित हो गया है। यहाँ हम देखते हैं कि केन्द्रीय आत्मसात्कारी प्रमुख अंश ने अपना रूप और चरित्र सम्पूर्ण समुदाय को प्रदान किया है, और इसके साथ ही बड़े गर्व के साथ अपने 'आर्य' नाम से चिपका रहा, एव किसी भी दशा में अन्य जातियों को अपने आर्य वर्ग के अन्तर्गत सम्मिलित करने के लिए प्रस्तुत नहीं था, यद्यपि वह उन जातियों को अपनी सभ्यता से लाभान्वित करने के लिए तैयार था।

भारतीय जलवायु ने इस जाति की प्रतिभा को एक और उच्चतर दिशा प्रदान की। उस भूमि पर जहाँ प्रकृति अनुकूल थी एवं जहाँ प्रकृति पर विजय पाना सरल था, राष्ट्र-मानस ने चिन्तन के क्षेत्र में जीवन की महत्तर समस्याओं से उलझना एव उन्हें जीतना प्रारम्भ किया। स्वभावतः भारतीय समाज में विचारक, पुरोहित सर्वोत्तम वर्ग के हो गये, तलवार चलानेवाले क्षत्रिय नहीं। इतिहास के उस अरुणोदय काल में ही पुरोहितों ने कर्मकाण्ड को विशद् बनाने में अपनी सारी शक्ति लगा दी, और जब राष्ट्र के लिए विधि-विधानों एव निर्जीव कर्मकाण्डों का बोझ अत्यन्त भारी हो गया, तब प्रथम दार्शनिक चिन्तन का सूत्रपात हुआ। राजन्य वर्ग इन घातक विधि-विधानों को उन्मूलित करने में अग्रणी रहा।

एक ओर अधिकांश पुरोहित आर्थिक स्वार्थों से प्रेरित होकर उस विशिष्ट धर्म-व्यवस्था की सुरक्षा के लिए विवश थे, जिसके कारण समाज के लिए उनका

अस्तित्व अनिवार्य था और जाति-परम्परा में उन्हें सर्वश्रेष्ठ स्थान मिला था। दूसरी ओर, राजन्य वर्ग केवल विधि-विधानों के संचालन का ज्ञान रखनेवाले पुरोहितों को सर्वप्रथम स्थान देने के लिए तैयार नहीं था। उन्हींकी सशक्त दक्षिण भुजा से राष्ट्र की रक्षा एवं पथ-प्रदर्शन होता था, और अब उन्होंने चिन्तन के क्षेत्र में भी अपने को अग्रगामी पाया। इनके अलावा पुरोहित एवं क्षत्रिय दोनों वर्गों के अन्य कुछ ऐसे लोग थे, जो कर्मकाण्डियों एवं दार्शनिकों का समान रूप से उपहास करते थे। उन्होंने आध्यात्मिकता को धोखा एवं पुरोहित-प्रपंच घोषित किया तथा भौतिक सुख-प्राप्ति को ही जीवन का सर्वोत्तम ध्येय ठहराया। कर्मकाण्डों से ऊबकर एवं दार्शनिकों की जटिल व्याख्या से विभ्रान्त होकर लोग अधिकाधिक संख्या में जड़वादियों से जा मिले। यही जाति-समस्या का सूत्रपात था एवं भारत में कर्मकाण्ड, दर्शन तथा जड़वाद के मध्य उस त्रिभुजात्मक संग्राम का मूल भी यही था, जिसका समाधान हमारे इस युग तक सम्भव नहीं हो पाया है।

इस समस्या के समाधान का प्रथम प्रयास था—सर्वसमन्वय के सिद्धान्त का उपयोग, जिसने आदि काल से ही मनुष्य को अनेकत्व में भी विभिन्न स्वरूपों में लक्षित एक ही सत्य के दर्शन की शिक्षा दी। इस सम्प्रदाय के महान् नेता क्षत्रिय वर्ग के स्वयं श्री कृष्ण एवं उनकी उपदेशावली गीता ने, जैनियों, बौद्धों एवं इतर जन सम्प्रदायों द्वारा लायी गयी उथल-पुथल के फलस्वरूप विविध क्रांतियों के बाद भी अपने को भारत का 'अवतार' एवं जीवन का यथार्थतम दर्शन सिद्ध किया। यद्यपि थोड़े समय के लिए तनाव कम हो गया, लेकिन उसके मूल में निहित सामाजिक अभावों का—जाति परम्परा में क्षत्रियों द्वारा सर्वप्रथम होने का दावा एवं पुरोहितों के विशेषाधिकार की सर्वविदित असहिष्णुता का—जो अनेक कारणों में से दो थे—समाधान इससे नहीं हो सका। जातिभेद एवं लिंगभेद को ठुकराकर कृष्ण ने आत्मज्ञान एव आत्म-साक्षात्कार का द्वार सबके लिए समान रूप से खोल तो दिया, लेकिन उन्होंने इस समस्या को सामाजिक स्तर पर ज्यों का त्यों बना रहने दिया। पुनः यह समस्या आज तक चलती आ रही है, यद्यपि सामाजिक समानता सर्वसुलभ बनाने के लिए बौद्धों एवं वैष्णवों ने महान् संघर्ष किये।

आधुनिक भारत सभी मनुष्यों की आध्यात्मिक समता को स्वीकार तो करता है, लेकिन सामाजिक भेद को उसने कठोरतापूर्वक बनाये रखा है।

इस तरह ई० पूर्व सातवीं शती में हम देखते हैं कि नये सिरे से हर एक क्षेत्र में संघर्ष पुनः छेड़ा गया और अन्त में छठी शती में शाक्य मुनि बुद्ध के नेतृत्व में इस संघर्ष ने परम्परागत व्यवस्था को पराभूत कर लिया। विशेषाधिकारी

पुरोहितपंथी के विरोध में बौद्धों ने वेदों के प्राचीन कर्मकाण्ड के कण कण को उड़ा दिया, वैदिक देवों को अपने मानवीय सन्तों के किंकरों का स्थान प्रदान किया एवं 'स्रष्टा एवं सर्वाविनायक' को पुरोहितों का आविष्कार तथा अन्धविश्वास घोषित किया।

पशु-बलि को आवश्यक बतानेवाले कर्मकाण्डों, वंशानुक्रमिक जाति-प्रथा, एकान्तिक पुरोहित पन्थ एवं अविनश्वर आत्मा के प्रति आस्था के विरुद्ध खड़ा होकर वैदिक धर्म का सुधार करना बौद्ध धर्म का ध्येय था। वैदिक धर्म का नाश करने या उसकी सामाजिक व्यवस्था को उलट देने का उन्होंने कोई प्रयास नहीं किया। संन्यासियों को एक शक्तिशाली मठवासी भिक्षु समुदाय में एवं ब्रह्मवादिनियों को भिक्षुणियों के वर्ग में संगठित करके तथा होमाग्नि की जगह सन्तों की प्रतिमा-पूजा स्थापित कर बौद्धों ने एक शक्तिशाली परम्परा का सूत्रपात किया।

सम्भव है कि सदियों तक इन सुधारकों को अधिकांश भारतीयों का समर्थन मिला हो। पुरानी शक्तियों का पूर्णतः ह्रास नहीं हुआ था, लेकिन शताब्दियों तक बौद्धों के प्रभावाधिक्य के युग में इसमें विशेष परिवर्तन अवश्य हुआ।

प्राचीन भारत में बौद्धिकता एवं आध्यात्मिकता ही राष्ट्रीय जीवन की केन्द्र-बिन्दु थी, राजनीतिक गतिविधियाँ नहीं। आज की भाँति अतीत में भी बौद्धिकता तथा आध्यात्मिकता की तुलना में सामाजिक और राजनीतिक शक्तियाँ गौण रहीं। ऋषियों एवं आध्यात्मिक उपदेशकों के आश्रमों के इर्द-गिर्द राष्ट्रीय जीवन का प्रस्फुटन हुआ। इसीलिए उपनिषदों में भी हमें पांचालों, काश्यों (बनारस), मैथिलों एवं मगधियों आदि की समितियों का वर्णन अध्यात्म दर्शन तथा संस्कृति के केन्द्र के रूप में मिलता है। फिर ये ही केन्द्र क्रमशः आर्यो की विभिन्न शाखाओं की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं के संगम बन गये।

महान् महाकाव्य महाभारत में राष्ट्र पर प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए कुरुवंशियों और पांचालों के बीच छिड़े युद्ध का वर्णन मिलता है। इस युद्ध में ये एक दूसरे के विनाश का कारण बने। आध्यात्मिक प्रभुता पूरब में मागधों, मैथिलों के चारों ओर चक्कर लगाती रही एवं वहीं केन्द्रीभूत हो गयी और कुरु-पांचाल युद्ध के बाद एक प्रकार से मगध के नरेशों का प्रभुत्व जम गया।

बौद्ध धर्म के सुधारों की भूमि एवं प्रधान कार्यक्षेत्र भी यही पूर्वीय प्रदेश था। और जब मौर्य राजाओं ने अपने कुल पर लगाये गये कलंक से विवश होकर इस नये आन्दोलन को अपना संरक्षण एवं संचालन प्रदान किया, तो यह नया पुरोहित वर्ग भी पाटलिपुत्र साम्राज्य के राजनीतिक सत्ता का साथ देने लगा। बौद्ध धर्म की जनप्रियता एवं इसके नये ओज के कारण मौर्यवंशी नरेश भारत के सर्वश्रेष्ठ

सम्राट् बन गये। मौर्य सम्राटों की प्रभुता ने बौद्ध धर्म को विश्वव्यापी धर्म बना दिया, जैसा कि हम आज उसे देख रहे हैं।

वैदिक धर्म अपने प्राचीन रूपों की एकांतता के कारण बाहरी सहायता नहीं ले सका। लेकिन फिर भी इस प्रवृत्ति ने इस धर्म को विशुद्ध एवं उन हेय तत्त्वों से मुक्त रखा, जिनको बौद्ध धर्म ने अपनी प्रचार-प्रवृत्ति के उत्साह में आत्मसात कर लिया था।

आगे चलकर परिस्थिति के अनुकूल बनने की अपनी तीव्र प्रवणता के कारण भारतीय बौद्ध धर्म ने अपनी सारी विशेषता खो दी, एवं जन-धर्म बनने की अपनी तीव्र अभिलाषा के कारण कुछ ही सदियों में, मूल धर्म की बौद्धिक शक्तियों की तुलना में पंगु हो गया। इसी बीच वैदिक पक्ष पशु-बलि जैसे अपने अधिकांश आपत्तिजनक तत्त्वों से मुक्त हो गया, एवं इसने मूर्तियों का उपयोग, मन्दिर के उत्सवों तथा अन्य प्रभावोत्पादक अनुष्ठानों के विषय में अपनी प्रतिद्वन्द्वी दुहिता—बौद्ध धर्म—से पाठ ग्रहण किया और पहले से ही पतनोन्मुख बौद्ध साम्राज्य को अपने में आत्मसात कर लेने के लिए तैयार हो गया।

और सिदियन (Scythian) आक्रमण एवं पाटलिपुत्र साम्राज्य के पूर्ण पतन के साथ ही वह नष्ट-भ्रष्ट हो गया।

अपने मध्य एशिया की जन्मभूमि पर बौद्ध प्रचारकों के आक्रमण से ये आक्रमणकारी रुष्ट थे और इन्हें ब्राह्मणों की सूर्योपासना में अपने सूर्य-धर्म के साथ एक महान् समानता मिली। और जब ब्राह्मण वर्ग नवागन्तुकों की अनेक रीतियों को अंगीकार करने एवं उनका आध्यात्मीकरण करने के लिए तैयार हो गया, तो आक्रमणकारी प्राणपण से ब्राह्मण धर्म के साथ एक हो गये।

इसके बाद अन्धकारपूर्ण यवनिका एवं उसकी सदा परिवर्ती छायाओं का सूत्रपात हुआ। युद्ध के कोलाहल की, जनहत्या के ताण्डव की परिपाटी। तत्पश्चात् एक नयी पृष्ठभूमि पर एक दूसरे दृश्य का आविर्भाव होता है।

मगध-साम्राज्य ध्वस्त हो गया था। उत्तर भारत का अधिकांश छोटे-मोटे सरदारों के अधीन था, जो सदा एक दूसरे से लड़ते-भिड़ते रहते थे। केवल पूरब तथा हिमालय के कुछ प्रान्तों एव सुदूर दक्षिण को छोड़कर अन्य प्रदेशों से बौद्ध धर्म लुप्तप्राय हो गया था। आनुवंशिक पुरोहित वर्ग के अधिकारों के विरुद्ध सदियों तक संघर्ष करने के बाद इस राष्ट्र ने अब अपने को जो दो पुरोहित वर्गों के चंगुल में जकड़ा पाया, वे हैं परम्परागत ब्राह्मण वर्ग एवं नये शासन के एकान्तिक भिक्षुगण, जिनके पीछे बौद्ध संगठन की सम्पूर्ण शक्ति थी और जिनकी जनता के साथ कोई सहानुभूति नहीं थी।

अतीत के अवशेषों से ही एक ऐसा नवजाग्रत भारत आविर्भूत हुआ, जिसके लिए वीर राजपूतों के शौर्य एवं रक्त का मूल्य चुकाया गया था, जिसकी मिथिला के उसी ऐतिहासिक विचार-केन्द्र के एक ब्राह्मण की निर्दय तीक्ष्ण बुद्धि ने व्याख्या की थी, जिसका पथ-प्रदर्शन शंकराचार्य एवं उनके अनुयायियों के द्वारा संगठित दार्शनिक चेतना ने किया तथा मालव-दरबार के साहित्य एवं कला ने जिसको सौन्दर्य से मंडित किया।

इसका कार्य-भार गुरुत्वपूर्ण था, इसकी समस्याएँ पूर्वजों के सम्मुख आयी किन्हीं भी समस्याओं की तुलना में कहीं अधिक व्यापक थीं। एक ही रक्त एवं भाषावाली, समान सामाजिक एवं धार्मिक महत्त्वाकांक्षाओंवाली, अपेक्षाकृत छोटी एवं सुगठित यह जाति, जो अपने ऐक्य-रक्षार्थ अपने चारों ओर एक अनुल्लंघनीय दीवार खड़ी करती रही थी, अब बौद्ध धर्म के प्रभुत्व-काल में मिश्रित एवं बहुगुणित होकर एक विशाल जाति बन गयी थी। यह अपनी विभिन्न उपजातियों, वर्णों, भाषाओं, आध्यात्मिक प्रवृत्तियों एवं महत्त्वाकांक्षाओं के कारण अनेक विरोधी दलों में विभक्त हो गयी। इन सबको एक विशाल राष्ट्र में सुसंगठित एवं सुयोजित करना था। बौद्ध धर्म का आगमन भी इसी समस्या के समाधान के लिए हुआ था, और यह काम उसके हाथों में उस समय गया था, जब यह समस्या इतनी कठिन नहीं थी।

अब तक प्रश्न था––प्रवेश पाने के लिए प्रयत्नशील आर्येतर जातियों का आर्यीकरण एवं इस प्रकार के तत्त्वों से एक विशाल आर्य-परिवार का संगठन। अनेक सुविधाओं एवं समझौतों के बावजूद भी बौद्ध धर्म पर्याप्त सफल हुआ एवं भारत का राष्ट्रीय धर्म बना रहा। लेकिन एक ऐसा समय आया, जब विविध निम्नस्तरीय जातियों के सम्पर्क में आराधना के वासनामय स्वरूपों को अपनाने का प्रलोभन आर्य धर्म के केन्द्रीय वैशिष्ट्य के लिए खतरनाक हो गया और उनका सुदीर्घ सम्पर्क आर्य सभ्यता को नष्ट कर सकता था। अतः आत्मरक्षा की सहज प्रतिक्रिया का उदय हुआ और अपनी जन्मभूमि के ही अधिकांश भागों में एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में बौद्ध धर्म का अस्तित्व समाप्त हो गया।

उत्तर में कुमारिल तथा दक्षिण में शंकर एवं रामानुज द्वारा एक अल्पांतरिक क्रम में संचालित प्रतिक्रियावादी आन्दोलन ने विभिन्न सम्प्रदायों एवं मतों की महान् राशि बनकर हिन्दू धर्म में ही एक अंतिम रूप ले लिया है। पिछले हज़ार या अधिक वर्षों से उसका प्रधान लक्ष्य आत्मसात करना रहा है और बीच बीच में कभी सुधारों का विस्फोट होता रहा है। प्रथमतः यह प्रतिक्रिया वैदिक कर्मकाण्डों को पुनरुज्जीवित करना चाहती थी, इस प्रयास के विफल हो जाने पर इसने

उपनिषदों को या वेदों के तात्त्विक अंशों को अपना आधार बनाया। उसने व्यास-संकलित मीमांसा दर्शन और कृष्ण की 'गीता' को सर्वोपरि प्रधानता दी; अन्य परवर्ती सभी आन्दोलनों ने इसी क्रम का अनुगमन किया है। शंकर का आन्दोलन उच्च बौद्धिक मार्ग से आगे बढ़ा, लेकिन जन-समाज को इससे कोई लाभ नहीं पहुँचा, क्योंकि इसने जाति-पाँति के जटिल नियमों का अक्षरशः पालन किया, जनता की सामान्य भावनाओं को बहुत कम स्थान दिया और केवल संस्कृत को ही विचार के आदान-प्रदान का माध्यम बनाया। उधर रामानुज एक अत्यन्त व्यावहारिक दर्शन लेकर आये। उन्होंने भावनाओं को अधिक प्रश्रय दिया, आध्यात्मिक साक्षात्कार के पहले जन्मसिद्ध अधिकारों को निषिद्ध किया और सामान्य भाषा में उपदेश दिया। फलतः जनता को वैदिक धर्म की ओर प्रवृत्त करने में उन्हें पूरी सफलता मिली।

उत्तर में कर्मकाण्ड के विरुद्ध हुई प्रतिक्रिया के तुरन्त बाद मालव साम्राज्य का प्रताप जादू की तरह फैल गया। थोड़े ही समय में उसके पतन के बाद उत्तर भारत मानों चिर निद्रा में लीन हो गया। इन्हें अफ़गानिस्तान के दर्रों से होकर आये मुसलमान घुड़सवारों के वज्रनाद ने बड़े बुरे ढग से जाग्रत किया। किन्तु दक्षिण में शंकर एवं रामानुज की धार्मिक क्रान्ति के उपरान्त एकीकृत जातियों और शक्तिशाली साम्राज्यों की स्थापना चिर परिचित भारतीय अनुक्रम में हुई।

जब समुद्र के एक छोर से दूसरे छोर तक उत्तर भारत पराभूत होकर मध्य एशियाई विजेताओं के चरणों में पड़ा था, उस समय देश का दक्षिण भाग भारतीय धर्म एवं सभ्यता का शरणस्थल बना रहा। सदियों तक मुसलमानों ने दक्षिण पर विजय प्राप्त करने का प्रयास जारी रखा, किन्तु वे वहाँ अपना पैर कभी मजबूती से जमा पाये, यह नहीं कहा जा सकता। जब मुग़लों का बलशाली एवं सुसंगठित साम्राज्य अपना विजय-अभियान पूरा करनेवाला था, दक्षिण के कृषक लड़ाकू घुड़सवार पहाड़ियों-पठारों से निकलकर जल-प्रवाह की भाँति छाने लगे, जो रामदास द्वारा प्रचारित एवं तुकाराम के पदों में निहित धर्म के लिए प्राण देने को कटिबद्ध थे। थोड़े समय में ही मुग़लों के साम्राज्य का केवल नाम शेष रह गया।

मुसलमानी काल में उत्तर भारत के आन्दोलनों की यही प्रवृत्ति रही कि जन-साधारण विजेताओं के धर्म को अंगीकार न करने पायें। इसके फलस्वरूप सबके लिए सामाजिक तथा आध्यात्मिक समानता का सूत्रपात हो पाया।

रामानन्द, कबीर, दादू, चैतन्य या नानक आदि के द्वारा संस्थापित सम्प्रदायों के सभी सन्त मानव मात्र की समानता के प्रचार के लिए सयत्न थे, यद्यपि उनके दार्शनिक दृष्टिकोणों में भिन्नता अवश्य थी। जनसाधारण पर इस्लाम धर्म की

त्वरित विजय को रोकने में ही इनकी अधिकांश शक्ति व्यय होती थी, और उनमें अब नये विचारों एवं दृष्टिकोण प्रदान करने की वह क्षमता न रह पायी थी। यद्यपि वे जन-समुदाय को पुराने धर्म के दायरे में ही रखने के लक्ष्य में स्पष्टतया सफल रहे, तथापि वे मुसलमानों की धर्मान्धता के प्रकोप को भी मंद करने में सफल हुए, लेकिन वे कोरे सुधारवादी ही रहे, जो केवल जीने की अनुमति पाने के लिए ही संघर्ष करते रहे।

तो भी उत्तर में एक महान् पैग़म्बर का आविर्भाव हुआ। वह थे सिक्खों के अन्तिम गुरु गोविन्द सिंह, जो सर्जनक्षम एवं प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे। सिक्खों का सुविख्यात राजनीतिक संगठन उनकी आध्यात्मिक साधना का अनुगामी हुआ। भारत के इतिहास में साधारणतः देखा गया है कि धार्मिक उथल-पुथल के बाद सदा ही एक राजनीतिक एकता स्थापित हो जाती है, जो न्यूनाधिक रूप में समस्त देश में व्याप्त हो जाती है। इस एकता के फलस्वरूप उसको जन्म देने-वाला धार्मिक दृष्टिकोण भी शक्तिशाली बनता है। लेकिन मराठा या सिक्ख साम्राज्य के पूर्व प्रवर्तित धार्मिक महत्त्वाकांक्षा पूर्णतया प्रतिक्रियावादी थी। पूना या लाहौर के दरबार में उस बौद्धिक गरिमा की एक किरण भी नहीं मिलती, जिससे मुग़ल दरबार घिरा रहता था; मालवा या विजयनगर की बौद्धिक जग-मगाहट की तो बात ही क्या! बौद्धिक विकास की दृष्टि से यह काल भारतीय इतिहास का सबसे अधिक अन्धकारपूर्ण युग था। ये दोनों अल्पजीवी साम्राज्य घृणास्पद मुसलमानी शासन को उलट देने में सफल होने के तुरन्त बाद ही अपनी सारी शक्ति खो बैठे, क्योंकि ये दोनों ही संस्कृति से पूर्ण घृणा करनेवाले तथा सामान्य धर्मान्धता के प्रतिनिधि रह गये थे।

फिर से एक बार अस्त-व्यस्तता का युग आ गया। मित्र-शत्रु, मुग़ल साम्राज्य एवं उसके विध्वंसक, तब तक शान्तिप्रिय रहनेवाले विदेशी व्यापारी फ़्रांसीसी और अंग्रेज इस पारस्परिक लड़ाई में जुट गये। पचास वर्षों से भी अधिक समय तक लड़ाई, लूटमार, मारकाट आदि के अतिरिक्त और कुछ नहीं हुआ। और जब, धूल और धुआँ दूर हो गया, इंग्लैण्ड शेष सब पर विजयी के रूप में प्रकट हुआ। इंग्लैण्ड के शासन-काल में आधी शताब्दी तक शान्ति-सुव्यवस्था एवं विधान क़ायम रहा। समय ही इसका साक्षी होगा कि यह सुव्यवस्था प्रगति की थी या नहीं।

अंग्रेज़ी राज्य-काल में भारतीय जनता में कुछ ही धार्मिक आन्दोलन हुए। इनकी परम्परा भी वही थी, जो दिल्ली साम्राज्य के प्रभुत्व-काल में उत्तर भारत के सम्प्रदायों की थी। ये तो मृत या मृतप्राय जनों की आवाज़ें हैं—आतंकित जनों

की कातर वाणी, जो जीने की अनुमति माँग रही है। ज़िन्दा रहने का अधिकार मिल जाय, तो ये लोग विजेताओं की रुचि के अनुसार अपनी आध्यात्मिक या सामाजिक स्थिति को यथासम्भव बदलने के लिए सदा इच्छुक रहते थे, विशेषकर अंग्रेज़ी शासन के अधीनस्थ सम्प्रदाय। इन दिनों विजयी जाति के साथ आध्यात्मिक असमानता की अपेक्षा सामाजिक असमानता बहुत अधिक थी। गोरे शासकों का समर्थन प्राप्त करना ही इस शताब्दी के हिन्दू सम्प्रदायों ने अपने सामने महान् सत्य का आदर्श बना लिया था। इन सम्प्रदायों की ज़िन्दगी भी कुकुरमुत्तों की सी हो जाय, तो आश्चर्य क्या ! विशाल भारतीय जनता धार्मिक क्षेत्र में इन सम्प्रदायों से अलग रहती है। हाँ, उनके विलोप के बाद जनता की प्रसन्नता के रूप में उनको एक जनप्रिय स्वीकृति मिल जाती है।

किंतु शायद अभी कुछ समय तक इस अवस्था में कोई परिवर्तन सम्भव नहीं है।[1]

---

१. यह लेख मूल अंग्रेज़ी से अनूदित है। स०

बालक गोपाल की कथा

"माँ ! मुझे अकेले जंगल में से होकर पाठशाला जाने में डर लगता है, दूसरे लड़कों को तो घर से पाठशाला और पाठशाला से घर ले जानेवाले नौकर या कोई न कोई और हैं, फिर मेरे लिए ऐसा क्यों नहीं हो सकता ?"—जाड़े की एक शाम, पाठशाला जाने की तैयारी करते हुए ब्राह्मण बालक गोपाल ने अपनी माँ से कहा। पाठशाला उन दिनों सुबह और शाम के समय लगा करती थी। शाम को पाठशाला के बंद होते होते अँधेरा हो जाता था और रास्ता जंगल के बीच से होकर था।

गोपाल की माँ विधवा थी। गोपाल जब छोटा सा बच्चा था, तभी उसका बाप मर गया था। उसने सांसारिक वस्तुओं की कभी परवाह नहीं की थी और सदा अध्ययन-अध्यापन, पूजा-पाठ करने तथा इस ओर दूसरों को भी प्रवृत्त करने में रत रहा। इस प्रकार उसने एक सच्चे ब्राह्मण का जीवन यापन किया। इस बेचारी विधवा ने संसार के प्रति जो उसका थोड़ा सा भी लगाव था, उसे भी त्याग दिया। अब उसकी सम्पूर्ण आत्मा ईश्वरोन्मुख थी, और वह प्रार्थना, व्रत तथा संयम द्वारा धैर्यपूर्वक उस महान् मुक्तिदूत मृत्यु की प्रतीक्षा कर रही थी, जो उसे सुख-दुःख, अच्छे-बुरे के सनातन संगी अपने पति से दूसरे जीवन में मिला देगी। वह अपनी छोटी सी कुटिया में रहती थी। एक छोटे से धान के खेत से, जो उसके पति को दक्षिणा में मिला था, उसे खाने भर को काफ़ी चावल मिल जाता था; और उसकी कुटिया के चारों तरफ़ बँसवाड़ियों से और नारियल, आम तथा लीची के पेड़ों से घिरी जो थोड़ी जमीन थी उसमें गाँववालों की मदद से उसे साल भर तक काफ़ी सब्ज़ी मिल जाती थी। इसके अलावा शेष समय में वह रोज़ घण्टों चरखा काता करती थी।

इसके बहुत पहले कि बाल रवि की अरुण रश्मियाँ नारियल के शीर्ष-पत्रों का स्पर्श करें और घोंसलों में चिड़ियों का कलरव शुरू हो, वह जग जाती थी, और ज़मीन पर बिछे चटाई और कम्बल के अपने बिस्तरे पर बैठकर प्राचीन सती-साध्वियों तथा ऋषि-मुनियों एवं नारायण, शिव, तारा आदि देवी-देवताओं और सर्वोपरि अपने उन हृदयाराध्य श्री कृष्ण का नाम-जप करने लगती थी, जिन्होंने संसार को उपदेश देने तथा उसके परित्राण के लिए गोपाल रूप धारण किया था। और वह यह सोच सोचकर मगन होती जाती थी कि इस तरह वह एक दिन अपने

पति के पास जा पहुँची है और उसके साथ ही उस अपने हृदयाराध्य गोपाल के पास भी, जहाँ उसका पति पहले ही पहुँच चुका है।

दिन का उजाला होने के पहले ही वह पास के सोते में स्नान कर लेती थी। स्नान करते समय वह प्रार्थना करती जाती थी कि श्री कृष्ण की कृपा से उसका मन और शरीर दोनों ही निर्मल रहें। इसके बाद वह अपने ताज़े-धुले श्वेत सूती वस्त्र धारण करती थी। फिर थोड़े से फूल चुनती और पाटी पर थोड़ा सा चंदन घिसकर और तुलसी की कुछ सुगंधित पत्तियाँ लेकर अपनी कुटिया के एकान्त पूजा-कक्ष में चली जाती थी। इसी पूजा-कक्ष में उसके आराध्य गोपाल निवास करते थे—रेशमी मंडप के नीचे काष्ठनिर्मित मखमल से मढ़े सिंहासन पर प्रायः फूलों से ढँकी हुई बाल कृष्ण की एक पीतल की प्रतिमा स्थापित थी। उसका मातृ-हृदय भगवान् को पुत्र-रूप में कल्पित करके ही सन्तुष्ट हो सकता था। अनेक बार वह अपने विद्वान् पति से उन वेदवर्णित निर्गुण निराकार अनन्त परमेश्वर के विषय में सुन चुकी थी। उसने यह सम्पूर्ण चित्त से सुना था और इससे वह केवल एक ही निष्कर्ष तक पहुँच सकी थी कि जो वेदों में लिखा है, वह अवश्य ही सत्य है। किन्तु आह! कहाँ वह व्यापक एवं अनन्त दूरी पर रहनेवाला ईश्वर और कहाँ एक दुर्बल, अज्ञान स्त्री! लेकिन इसके साथ यह भी तो लिखा था कि 'जो मुझे जिस रूप में भजता है, मैं उसे उसी रूप में मिलता हूँ। क्योंकि सब संसारवासी मेरे ही बनाये हुए मार्गों पर चल रहे हैं।' और यह कथन ही उसके लिए पर्याप्त था। इससे अधिक वह कुछ नहीं जानना चाहती थी। और इसीलिए उसके हृदय की सम्पूर्ण भक्ति, निष्ठा एवं प्रेम की भावना गोपाल श्री कृष्ण और उनके मूर्त विग्रह के प्रति अर्पित थी। उसने यह कथन भी सुना था: 'जिस भावना से तुम किसी हाड़-मांस के व्यक्ति की पूजा करते हो, उसी भावना से श्रद्धा एवं पवित्रता के साथ मेरी भी पूजा करो, तो मैं वह सब भी ग्रहण कर लूंगा।' अतः वह प्रभु को स्वामी के रूप में, एक प्रिय शिक्षक के रूप में और सबसे अधिक अपनी आँखों के तारे इकलौते पुत्र के रूप में पूजती थी।

यही समझकर वह उस प्रतिमा को नहलाती-धुलाती थी और धूपार्चन करती थी। और नैवेद्य? आह! वह बेचारी कितनी ग़रीब थी! लेकिन आँखों में आँसू भरकर वह अपने पति के वे वचन याद करती थी, जो वे उसे धर्मग्रन्थों से पढ़कर सुनाया करते थे: 'प्रेमपूर्वक पत्र-पुष्प, फल-जल जो भी मुझे अर्पित किया जाता है, मैं उसे स्वीकार करता हूँ'[1]; और भेंट चढ़ाते समय कहती थी: 'हे प्रभु!

---

१. पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥गीता ९।२६॥

संसार के समस्त पुष्प तुम्हारे लिए ही खिलते हैं, मेरे ये थोड़े से साधारण पुष्प स्वीकार करो; तुम जो सारे संसार का भरण-पोषण करते हो, मेरे फलों की यह दीन भेंट स्वीकार करो। मेरे प्रभु, मेरे गोपाल, मैं दुर्बल हूँ, अज्ञानी हूँ। नहीं जानती कि किस विधि से तुम्हारी अर्चा करूँ। तुम्हारे लिए मेरी पूजा पवित्र हो, मेरा प्रेम निःस्वार्थ हो, और यदि मेरी भक्ति में कुछ भी गुण हो, तो वह तुम्हारे लिए ही हो, मुझे केवल प्रेम और प्रेम दो—प्रेम, जिसे दूसरी किसी वस्तु की चाह नहीं, जो केवल प्रेम के अतिरिक्त और कुछ नहीं माँगता।' संयोग से उसी समय प्रांगण में याचक अपनी सुबह की फेरी में गा रहा था :

'मानव ! मेरे निकट तेरे ज्ञान-गांभीर्य का कोई मल्य नहीं, मैं तो केवल तेरे प्रेम के आगे नत हूँ।

'यह तेरा प्रेम ही है, जिससे मेरा सिंहासन हिल उठता है और मैं विह्वल हो जाता हूँ।

'ज़रा देखो तो कि प्रेम के कारण ही उस सर्वेश्वर, निराकार, मुक्त प्रभु को भी तेरे संग लीला करने और रहने के लिए मानव-शरीर धारण करना पड़ता है !

'वृन्दावन-कुंज के गोपों के पास भला कौन सी विद्या थी ? गाय दुहनेवाली गोपियाँ कौन सा ज्ञान-विज्ञान जानती थीं ? उन्होंने मुझे केवल अपने प्रेम के मोल से खरीद लिया।'

इस प्रकार उस मातृ-हृदय ने उस अलौकिक तत्त्व में दिव्य चरवाहे के रूप में अपने पुत्र गोपाल को पाया। उसकी आत्मा जो यंत्रवत् ही सांसारिक पदार्थों की ओर उन्मुख होती थी, दूसरे शब्दों में उसकी आत्मा जो दैवी आकाश में निरन्तर मँडराती हुई किसी भी लौकिक वस्तु के सम्पर्क से स्खलित हो सकती थी, वह मानो इस बालक में अपने लिए एक लौकिक आश्रय पा गयी। केवल यही एक चीज़ थी, जिस पर वह अपना समस्त लौकिक सुख एवं अनुराग केन्द्रित कर सकती थी। उसकी प्रत्येक चेष्टा, प्रत्येक विचार, प्रत्येक सुख और उसका जीवन तक, क्या उस बालक के लिए ही नहीं था, जिसके कारण वह अब भी जीवित थी ?

वर्षों तक एक माँ की ममता के साथ वह रोज़ अपने बच्चे को दिन दिन बढ़ते हुए देखती रही। और अब जब वह स्कूल जाने लायक़ हो गया है, उसे अब भी उसकी पढ़ाई-लिखाई का सामान जुटाने के लिए कितना कठिन श्रम करना पड़ता है ! हालाँकि ये सब सामान बहुत थोड़े थे। उस देश में जहाँ के लोग मिट्टी के दीपक के प्रकाश में और कुश-काँस की चटाई पर निरन्तर विद्याध्ययन करते हुए संतोषपूर्वक सारा जीवन बिता देते हैं, वहाँ एक विद्यार्थी की आवश्यकताएँ ही कितनी ? फिर भी कुछ तो थीं ही; पर इतने के जुगाड़ के लिए भी बेचारी

माँ को कई दिन तक घोर परिश्रम करना पड़ता था। गोपाल के लिए एक धोती, एक चादर और चटाई का बस्ता, जिसमें लिखने का अपना ताड़-पत्र और सरकंडे की क़लम लपेटकर वह पढ़ने पाठशाला जाता था, और स्याही-दावात—इन सबको खरीदने के लिए उसे अपने चरखे पर कई कई दिनों तक काम करना पड़ता था। और एक शुभ दिन गोपाल ने जब पहले-पहल लिखने का श्रीगणेश किया, उस समय का उसका आनन्द केवल एक माँ का हृदय—एक ग़रीब माँ का हृदय—ही जान सकता है!

लेकिन आज उसके मन पर एक दुश्चिन्ता छायी हुई है! गोपाल को अकेले जंगल में से होकर जाने में डर लग रहा है। इसके पहले कभी उसे अपने वैधव्य की, अपने एकाकीपन और निर्धनता की अनुभूति इतने कटु रूप में नहीं हुई थी। एक क्षण के लिए सब कुछ अंधकारमय हो गया, किन्तु तभी उसे प्रभु के शाश्वत आश्वासन का स्मरण हो आया कि 'जो सब चिन्ताएँ त्यागकर मेरे शरणागत होते हैं, मैं उनकी समस्त आवश्यकताएँ पूर्ण कर देता हूँ।'[1] और इस आश्वासन मे पूर्णतया विश्वास करनेवालों में एक उसकी भी आत्मा थी।

अतः माता ने अपने आँसू पोंछ लिये और अपने बच्चे से कहा कि डरो नही! जंगल में मेरा एक दूसरा बेटा रहता है और गायें चराता है। उसका भी नाम गोपाल है। जब भी तुम्हें जंगल में जाते समय डर लगे, अपने भैया को पुकार लिया करना।

बच्चा भी तो आखिर उसी माँ का बेटा था, उसे विश्वास हो गया।

उसी दिन पाठशाला से घर लौटते समय जंगल में जब गोपाल को डर लगा, तब उसने अपने चरवाहे भाई गोपाल को पुकारा, "गोपाल भैया! क्या तुम यहाँ हो? माँ ने कहा था कि तुम हो और मैं तुम्हें पुकार लूँ। मैं अकेले डर रहा हूँ।" और पेड़ों के पीछे से एक आवाज आयी, 'डरो मत छोटे भैया, मैं यहीं हूँ, निर्भय होकर घर चले जाओ।'

इस तरह रोज़ वह बालक पुकारा करता था और रोज़ वही आवाज उसे उत्तर देती थी। माँ ने यह सब आश्चर्य एवं प्रेम के भाव से सुना और गोपाल को सलाह दी कि अब की बार वह अपने जंगलवाले भाई को सामने आने के लिए कहे।

दूसरे दिन जब वह बालक जंगल से गुज़र रहा था, उसने अपने भाई को पुकारा। सदा की भाँति ही आवाज आयी। लेकिन बालक ने भाई से कहा कि वह सामने आये। उस आवाज ने उत्तर दिया : 'आज मैं बहुत व्यस्त हूँ भैया, नहीं आ सकता।'

---

१. अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥गीता॥ ९।२२॥

लेकिन बालक ने हठ किया, तब वह पेड़ों की छायाओं से एक ग्वाले के वेष में सिर पर मोरपंख का मुकुट पहने और हाथ में मुरली लिए बाहर निकल आया। वे दोनों ही गोपाल आपस में मिलकर बड़े खुश हुए। वे घण्टों जंगल में खेलते रहे,—पेड़ों पर चढ़ते, फल-फूल बटोरते, पाठशाला जाने में देर हो गयी। तब अनिच्छा-पूर्वक बालक गोपाल पाठशाला के लिए चल पड़ा। वहाँ उसे अपना कोई पाठ याद न रहा, क्योंकि उसका मन तो इसमें लगा था कि कब वह जंगल में जाकर अपने भाई के साथ खेले।

इसी तरह महीनों बीत गये। माँ बेचारी यह सब रोज़ रोज़ सुनती थी और ईश्वर-कृपा के आनन्द में अपना वैधव्य, अपनी ग़रीबी सब कुछ भूल जाती थी, और हज़ार बार अपनी निर्धनता को धन्य मानती थी।

इसी समय पाठशाले के गुरुजनों को अपने पितरों के सम्मानार्थ कुछ धार्मिक कृत्य करने थे। इन ग्राम-शिक्षकों को, जो निःशुल्क रूप से कुछ बालकों को इकट्ठा करके पाठशाला चलाते थे, खर्च के लिए यथावसर प्राप्त होनेवाली भेंटों पर ही निर्भर रहना पड़ता था। प्रत्येक शिष्य को भेंट में धन अथवा वस्तुएँ लानी होती थीं। और विधवा-पुत्र अनाथ गोपाल को?—दूसरे लड़के जब यह कहते कि वे भेंट में क्या क्या लायेंगे, तब वे गोपाल के प्रति तिरस्कार से मुसकराया करते थे।

उस रात गोपाल का मन बहुत भारी था। उसने अपनी माँ से गुरु जी को भेंट में देने के लिए कुछ माँगा। लेकिन बेचारी माँ के पास भला क्या रखा था! लेकिन उसने हमेशा की तरह इस बार भी अपने गोपाल पर ही निर्भर रहने का निश्चय किया, और अपने पुत्र से बोली कि वह वनवासी अपने भाई से गुरु को भेंट देने के लिए कुछ माँगे।

दूसरे दिन सदा की भाँति जब गोपाल जंगल में अपने चरवाहे भाई से मिला और जब वे थोड़ी देर तक खेल-कूद चुके, तब गोपाल ने अपने भाई से बताया कि उसे क्या दुःख है और अपने गुरु जी को देने के लिए कोई भेंट माँगी। चरवाहे बालक ने कहा, "भैया गोपाल! तुम तो जानते ही हो कि मैं एक मामूली चर-वाहा हूँ और मेरे पास धन नहीं है, लेकिन यह मक्खन की हँड़िया तुम लेते जाओ और अपने गुरु जी को भेंट कर दो!"

गोपाल इस बात से बहुत खुश हुआ कि अब उसके पास भी गुरु जी को भेंट देने के लिए कोई चीज़ हो गयी है, लेकिन इस बात की उसे और भी ख़ुशी थी कि यह भेंट उसे अपने वनवासी भाई से प्राप्त हुई है। वह खुश खुश गुरु के घर की तरफ़ बढ़ा और जहाँ बहुत से लड़के गुरु जी को अपनी अपनी भेंट दे रहे थे, वहीं सबसे पीछे उत्सुकता से खड़ा हो गया। सबके पास भेंट देने को विभिन्न प्रकार की

अनेक वस्तुएँ थीं और किसीको भी बेचारे अनाथ बालक की भेंट की तरफ़ देखने तक की फ़ुरसत न थी। यह उपेक्षा अत्यन्त असह्य थी। गोपाल की आँखों में आँसू आ गये। तभी सौभाग्य से गुरु जी की दृष्टि उसकी ओर गयी। उन्होंने गोपाल के हाथ से मक्खन की हाँड़ी ले ली और उसे एक बड़े बरतन में उँड़ेल दिया। लेकिन आश्चर्य कि हाँड़ी फिर भर गयी! तब फिर उन्होंने उसे उँड़ेला और वह फिर भर गयी। और इस तरह से होता गया: जब तक वे मक्खन उँड़ेलकर खाली करें कि वह फिर भर जाती थी।

इससे सभी लोग चकित रह गये। तब गुरु जी ने अनाथ बालक को गोद में उठा लिया और मक्खन की हाँड़ी के बारे में पूछा। गोपाल ने अपने वनवासी चरवाहे भाई के बारे में सब कुछ बता दिया कि कैसे वह उसकी पुकार का जवाब दिया करता था, कैसे वह उसके संग खेला करता था और अन्त में बताया कि कैसे उसने मक्खन की हाँड़ी दी।

गुरु जी ने गोपाल से कहा कि वह उसे जंगल में ले चलकर अपने भाई को दिखलाये। गोपाल के लिए इससे बढ़कर खुशी की बात और क्या हो सकती थी।

उसने अपने भाई को पुकारा कि वह सामने आये। लेकिन उस दिन उत्तर में कोई आवाज़ नहीं आयी। उसने कई बार पुकारा। कोई उत्तर नहीं। और वह जंगल में अपने भाई से बात करने के लिए घुसा। उसे भय था कि उसके गुरु जी कहीं उसे झूठा न मान लें। तब बहुत दूर से आवाज़ आयी:

'गोपाल! तुम्हारी माँ और तुम्हारे प्रेम एवं विश्वास के कारण ही मैं तुम लोगों के पास आया था, लेकिन अपने गुरु जी से कह दो कि उन्हें अभी बहुत दिनों तक इन्तज़ार करना होगा।'[1]

---

१. यह लेख मूल अंग्रेजी से अनूदित है। स०

हमारी वर्तमान समस्या[1]

भारत का प्राचीन इतिहास एक देवतुल्य जाति के अलौकिक उद्यम, अद्भुत चेष्टा, असीम उत्साह, अप्रतिहत शक्तिसमूह, और सर्वोपरि, अत्यन्त गम्भीर विचारों से परिपूर्ण हैं। 'इतिहास' शब्द का अर्थ यदि केवल राजे-रजवाड़ों की कथाएँ उनके काम-क्रोध-व्यसनादि के द्वारा समय समय पर डाँवाडोल और उनकी सुचेष्टा या कुचेष्टा से रंग बदलते हुए समाज का चित्र माना जाय, तो कहना होगा कि इस प्रकार का इतिहास सम्भवतः भारत का है ही नहीं। किन्तु भारत के समस्त धर्मग्रन्थ, काव्य-सिन्धु दर्शन शास्त्र और विविध वैज्ञानिक पुस्तकें अपने प्रत्येक पद और पंक्ति से, राजादि पुरुषविशेषों का वर्णन करनेवाली पुस्तकों की अपेक्षा सहस्रों गुना अधिक स्पष्ट रूप से, भूख-प्यास-काम-क्रोधादि से परिचालित, सौन्दर्य-तृष्णा से आकृष्ट, महान् अप्रतिहत बुद्धिसम्पन्न उस बृहत् जनसंघ के अभ्युदय के क्रमविकास का गुणगान कर रही हैं, जिस जन-समाज ने सभ्यता के प्रत्यूष के पहले ही नाना प्रकार के भावों का आश्रय ले, नानाविध पथों का अवलम्बन कर इस गौरव की अवस्था को प्राप्त किया था। प्राचीन भारतवासियों ने प्रकृति के साथ युग-युगान्तरव्यापी संग्राम में जो असंख्य जय-पताकाएँ संग्रह की थीं, वे झंझावात के झकोरे में पड़कर यद्यपि आज जीर्ण हो गयी हैं, किन्तु फिर भी वे भारत के अतीत गौरव की जय-घोषणा कर रही हैं।

इस जाति ने मध्य एशिया, उत्तर यूरोप अथवा उत्तरी ध्रुव के निकटवर्ती बर्फीले प्रदेशों से धीरे धीरे आकर पवित्र भारतभूमि को तीर्थ में परिणत किया था। अथवा यह तीर्थभूमि भारत ही उनका आदिम निवास-स्थान था—यह निश्चय करने का अब तक भी कोई साधन उपलब्ध नहीं।

अथवा, भारत की ही, या भारत की सीमा के बाहर किसी देश में रहनेवाली एक विराट् जाति ने नैसर्गिक नियम के अनुसार स्थान-भ्रष्ट होकर यूरोपादि देशों में उपनिवेश स्थापित किये, और इस जाति के मनुष्यों का रंग गौर था या

---

१. स्वामी जी ने यह निबन्ध, १४ जनवरी, १८९९ ई० से प्रकाशित होनेवाले रामकृष्ण मिशन के बंगला पाक्षिक पत्र 'उद्बोधन' (जिसने बाद में मासिक रूप धारण कर लिया था) के उपोद्घात के रूप में लिखा था।

काला, आँखें नीली थीं या काली, वाल सुनहरे थे या काले—इन वातों को निश्चयात्मक रूप से जानने के लिए कतिपय यूरोपीय भाषाओं के साथ संस्कृत भाषा के सादृश्य के अतिरिक्त कोई यथेष्ट प्रमाण अभी तक नहीं मिला है। वर्तमान भारतवासी उन्हीं लोगों के वशज हैं या नहीं, अथवा भारत की किस जाति में किस परिमाण में उनका रक्त है, इन प्रश्नों की मीमांसा भी सहज नहीं।

चाहे जो हो, इस अनिश्चितता से भी हमारी कोई विशेष हानि नहीं।

पर एक बात ध्यान में रखनी होगी, और वह यह कि जो प्राचीन भारतीय जाति सभ्यता की रश्मियों से सर्वप्रथम उन्मीलित हुई और जिस देश में सर्वप्रथम चिन्तनशीलता का पूर्ण विकास हुआ, उस जाति और उस स्थान में उसके लाखों वंशज—मानस-पुत्र—उसके भाव एवं चिन्तनराशि के उत्तराधिकारी अव भी मौजूद हैं। नदी, पर्वत और समुद्र लाँघकर, देश-काल की वाधाओं को नगण्य कर, स्पष्ट या अज्ञात अनिर्वचनीय सूत्र से भारतीय चिन्तन की रुधिरधारा अन्य जातियों की नसों में वही और अव भी वह रही है।

शायद हमारे हिस्से में सार्वभौम पैतृक सम्पत्ति कुछ अधिक है।

भूमध्य सागर के पूर्वी कोने में सुन्दर द्वीपमाला-परिवेष्टित, प्रकृति के सौन्दर्य से विभूषित एक छोटे देश में, थोड़े से किन्तु सर्वांग-सुन्दर, सुगठित, मजवूत, हलके शरीरवाले, किन्तु अटल अध्यवसायी, पार्थिव सौंदर्य सृष्टि के एकाधिराज, अपूर्व क्रियाशील प्रतिभाशाली मनुष्यों की एक जाति थी।

अन्यान्य प्राचीन जातियाँ उनको 'यवन' कहती थीं। किन्तु वे अपने को 'ग्रीक' कहते थे।

मानव जाति के इतिहास में यह मुट्ठी भर अलौकिक वीर्यशाली जाति एक अपूर्व दृष्टान्त है। जिस किसी देश के मनुष्यों ने समाजनीति, युद्धनीति, देश-शासन, शिल्प-कला आदि पार्थिव विद्याओं में उन्नति की है या जहाँ अव भी उन्नति हो रही है, वहीं यूनान की छाया पड़ी है। प्राचीन काल की वात छोड़ दो; आधुनिक समय में भी आधी शताब्दी से इन यवन गुरुओं का पदानुसरण कर यरोपीय साहित्य के द्वारा यूनानवालों का जो प्रकाश आया है, उसी प्रकाश से अपने गृहों को आलोकित कर हम आधुनिक वंगाली स्पर्धा का अनुभव कर रहे हैं।

समग्र यूरोप आज सव विषयों में प्राचीन यूनान का छात्र और उत्तराधिकारी है; यहाँ तक कि, इंग्लैण्ड के एक विद्वान् ने कहा भी है, 'जो कुछ प्रकृति ने उत्पन्न नहीं किया है, वह यूनानवालों की सृष्टि है।'

हृदय कहाँ है, जो भगवान् के सौन्दर्य और महिमा के चिन्तन में अपने शरीर को भी भूल जाता है! जो ऐसे हैं भी, वे समग्र भारत की जनसंख्या की तुलना में मुट्ठी भर ही हैं। इन थोड़े से मनुष्यों की मुक्ति के लिए करोड़ों नर-नारियों को सामाजिक और आध्यात्मिक चक्र के नीचे क्या पिस जाना होगा?

और इस प्रकार पिसे जाने का फल भी क्या होगा?

क्या तुम देखते नहीं कि इस सत्त्व गुण के बहाने से देश धीरे धीरे तमोगुण के समुद्र में डूब रहा है? जहाँ महा जड़बुद्धि पराविद्या के अनुराग के छल से अपनी मूर्खता छिपाना चाहते हैं; जहाँ जन्म भर का आलसी वैराग्य के आवरण को अपनी अकर्मण्यता के ऊपर डालना चाहता है; जहाँ क्रूर कर्मवाले तपस्यादि का स्वाँग करके निष्ठुरता को भी धर्म का अंग बनाते हैं; जहाँ अपनी कमज़ोरी के ऊपर किसीकी भी दृष्टि नहीं है, किन्तु प्रत्येक मनुष्य दूसरों के ऊपर दोषारोपण करने को तत्पर हैं; जहाँ केवल कुछ पुस्तकों को कण्ठस्थ करना ही विद्या है, दूसरों के विचारों को दुहराना ही प्रतिभा है, और इन सबसे बढ़कर केवल पूर्वजों के नाम-कीर्तन में ही जिसकी महत्ता रहती है, वह देश दिन पर दिन तमोगुण में डूब रहा है, यह सिद्ध करने के लिए हमको क्या और प्रमाण चाहिए!

अतएव सत्त्व गुण अब भी हमसे बहुत दूर है। हममें जो परमहंस-पद प्राप्त करने योग्य नहीं हैं, या जो भविष्य में योग्य होना चाहते हैं, उनके लिए रजोगुण की प्राप्ति ही परम कल्याणप्रद है। बिना रजोगुण के क्या कोई सत्त्व गुण प्राप्त कर सकता है? बिना भोग का अन्त हुए योग हो ही कैसे सकता है? बिना वैराग्य के त्याग कहाँ से आयेगा?

दूसरी ओर रजोगुण ताड़ के पत्ते की आग की तरह शीघ्र ही बुझ जाता है। सत्त्व का अस्तित्व नित्य वस्तु के निकटतम है, सत्त्व प्रायः नित्य सा है। रजोगुणवाली जाति दीर्घजीवी नहीं होती, सत्त्व गुणवाली जाति चिरंजीवी सी होती है। इतिहास इस बात का साक्षी है।

भारत में रजोगुण का प्रायः सर्वथा अभाव है। इसी प्रकार पाश्चात्य देशों में सत्त्व गुण का अभाव है। इसलिए यह निश्चित है कि भारत से बही हुई सत्त्व-धारा के ऊपर पाश्चात्य जगत् का जीवन निर्भर है; और यह भी निश्चित है कि बिना तमोगुण को रजोगुण के प्रवाह से दबाये, हमारा ऐहिक कल्याण नहीं होगा और बहुधा पारलौकिक कल्याण में भी विघ्न उपस्थित होंगे।

इन दोनों शक्तियों के सम्मिलन और मिश्रण की यथासाध्य सहायता करना इस 'उद्बोधन' पत्र का उद्देश्य है।

पर भय यह है कि इस पाश्चात्य वीर्य-तरंग में चिरकाल से अर्जित कहीं हमारे अमूल्य रत्न तो न बह जायँगे? और उस प्रबल भँवर में पड़कर भारत-भूमि भी कहीं ऐहिक सुख प्राप्त करने की रण-भूमि में तो न बदल जायगी? असाध्य, असम्भव एवं जड़ से उखाड़ देनेवाले विदेशी ढंग का अनुकरण करने से हमारी 'न घर के न घाट के' जैसी दशा तो न हो जायगी—और हम 'इतो नष्ट-स्ततो भ्रष्टः' के उदाहरण तो न बन जायँगे? इसलिए हमको अपने घर की सम्पत्ति सर्वदा सम्मुख रखनी होगी, जिससे जन-साधारण तक अपने पैतृक धन को सदा देख और जान सकें, हमको ऐसा प्रयत्न करना होगा और इसीके साथ साथ बाहर से प्रकाश प्राप्त करने के लिए हमको निर्भीक होकर अपने घर के सब दरवाज़े खोल देने होंगे। संसार के चारों ओर से प्रकाश की किरणें आयें, पाश्चात्य का तीव्र प्रकाश भी आये! जो दुर्बल, दोषयुक्त है, उसका नाश होगा ही। उसे रखकर हमें क्या लाभ होगा? जो वीर्यवान, बलप्रद है, वह अविनाशी है; उसका नाश कौन कर सकता है?

कितने पर्वत-शिखरों से कितनी ही हिम नदियाँ, कितने ही झरने, कितनी जल-धाराएँ निकलकर विशाल सुर-तरंगिणी के रूप में महावेग से समुद्र की ओर जा रही हैं! कितने विभिन्न प्रकार के भाव, देश-देशान्तर के कितने साधु-हृदयों और ओजस्वी मस्तिष्कों से निकलकर कितने शक्ति-प्रवाह नर-रंगक्षेत्र, कर्म-भूमि भारत में छा रहे हैं! रेल, जहाज़ जैसे वाहन और बिजली की सहायता से, अंग्रेज़ों के आधिपत्य में, बड़े ही वेग से नाना प्रकार के भाव और रीति-रिवाज़ सारे देश में फैल रहे हैं। अमृत आ रहा है और उसीके साथ साथ विष भी आ रहा है। क्रोध, कोलाहल और रक्तपात आदि सभी हो चुके हैं—पर इस तरंग को रोकने की शक्ति हिन्दू समाज में नहीं है। यंत्र द्वारा लाये हुए जल से लेकर हड्डियों से साफ़ की हुई शक्कर तक सब पदार्थों का बहुत मौखिक प्रतिवाद करते हुए भी हम सब चुपचाप उन्हें उदरस्थ कर रहे हैं। क़ानून के प्रबल प्रभाव से अत्यन्त यत्न से रक्षित हमारी बहुत सी रीतियाँ धीरे धीरे दूर होती जा रही हैं—उनकी रक्षा करने की शक्ति हममें नहीं है। हममें शक्ति क्यों नहीं है? क्या सत्य वास्तव में शक्तिहीन है? **सत्यमेव जयते नानृतम्**—'सत्य की ही जय होती है, न कि झूठ की'—यह वेदवाणी क्या मिथ्या है? अथवा जो आचार पाश्चात्य शासन-शक्ति के प्रभाव में बहे चले जा रहे है, वे आचार ही क्या अना-चार थे? यह भी विशेष रूप से एक विचारणीय विषय है।

बहुजनहिताय बहुजनसुखाय—निःस्वार्थ भाव से, भक्तिपूर्ण हृदय से इन सब प्रश्नों की मीमांसा के लिए यह 'उद्बोधन' सहृदय प्रेमी विद्वत् समाज का आह्वान

करता है एवं द्वेषबुद्धि छोड़, व्यक्तिगत, सामाजिक अथवा साम्प्रदायिक कुवाक्य-प्रयोग से विमुख होकर सब सम्प्रदायों की सेवा के लिए ही अपना शरीर अर्पण करता है।

कर्म करने का अधिकार मात्र हमारा है, फल प्रभु के हाथ में है। हम केवल प्रार्थना करते हैं—'हे तेजस्वरूप! हमको तेजस्वी बनाओ; हे वीर्यस्वरूप! हमको वीर्यवान बनाओ; हे बलस्वरूप! हमको बलवान बनाओ।'

हिन्दू धर्म और श्री रामकृष्ण[1]

शास्त्र शब्द से अनादि अनन्त 'वेद' का तात्पर्य है। धार्मिक व्यवस्थाओं में मतभेद होने पर एकमात्र वेद ही सर्वमान्य प्रमाण है।

पुराणादि अन्य धर्मग्रन्थों को स्मृति कहते हैं। ये भी प्रमाण में ग्रहण किये जाते हैं, किन्तु तभी तक, जब तक वे श्रुति के अनुकूल कहें, अन्यथा नहीं।

'सत्य' के दो भेद हैं: पहला, जो मनुष्य की पंचेन्द्रियों से एवं तदाश्रित अनुमान से ग्रहण किया जाय, और दूसरा, जो अतीन्द्रिय सूक्ष्म योगज शक्ति द्वारा ग्रहण किया जाय।

प्रथम उपाय से संकलित ज्ञान को 'विज्ञान' कहते हैं और दूसरे प्रकार से संकलित ज्ञान को 'वेद' कहते हैं।

अनादि अनन्त अलौकिक वेद-नामधारी ज्ञानराशि सदा विद्यमान है। सृष्टिकर्ता स्वयं इसीकी सहायता से इस जगत् की सृष्टि, स्थिति और उसका नाश करता है।

यह अतीन्द्रिय शक्ति, जिनमें आविर्भूत अथवा प्रकाशित होती है, उनका नाम ऋषि है, और उस शक्ति के द्वारा वे जिस अलौकिक सत्य की उपलब्धि करते हैं, उसका नाम 'वेद' है।

यह ऋषित्व और वेद-दृष्टि का लाभ करना ही यथार्थ धर्मानुभूति है। जब तक यह प्राप्त न हो, तब तक 'धर्म' केवल बात की बात है, और यही मानना पड़ेगा कि धर्मराज्य की प्रथम सीढ़ी पर भी हमने पैर नहीं रखा।

समस्त देश, काल और पात्र में व्याप्त होने के कारण वेद का शासन अर्थात् वेद का प्रभाव देश विशेष, काल विशेष अथवा पात्र विशेष तक सीमित नहीं।

सार्वजनीन धर्म की व्याख्या करनेवाला एकमात्र वेद ही है।

अलौकिक ज्ञान-प्राप्ति का साधन यद्यपि हमारे देश के इतिहास-पुराणादि और म्लेच्छादि देशों की धर्म-पुस्तकों में थोड़ा-बहुत अवश्य वर्तमान है, फिर भी, अलौकिक ज्ञानराशि का सर्वप्रथम पूर्ण और अविकृत संग्रह होने के कारण, आर्य जाति में प्रसिद्ध वेद-नामधारी, चार भागों में विभक्त अक्षर-समूह ही सब प्रकार

---

१. इसका मूल बंगला है। स०

से सर्वोच्च स्थान का अधिकारी है, समस्त जगत् का पूजार्ह है तथा आर्य एवं म्लेच्छ सबके धर्मग्रन्थों की प्रमाणभूमि है।

आर्य जाति द्वारा आविष्कृत उक्त वेद नामक शब्दराशि के सम्बन्ध में यह भी जान लेना होगा कि उसका जो अंश लौकिक, अर्थवाद अथवा इतिहास सम्बन्धी बातों की विवेचना नहीं करता, वही अंश वेद है।

ये वेद ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड दो भागों में विभक्त हैं। कर्मकाण्ड में वर्णित क्रिया और उसके फल मायाधिकृत जगत् में ही सीमित होने के कारण देश, काल और पात्र के अधीन होकर परिवर्तित हुए हैं, होते हैं तथा होते रहेंगे। सामाजिक रीति-नीति भी इसी कर्मकाण्ड के ऊपर प्रतिष्ठित है; इसलिए समय समय पर इसका भी परिवर्तन होता रहा है और होता रहेगा। लोकाचार यदि सत्शास्त्र और सदाचार के प्रतिकूल न हो, तो वह भी मान्य है। सत्शास्त्रनिन्दित और सदाचार-विरोधी लोकाचार के अधीन हो जाना ही आर्य जाति के अधःपतन का एक प्रधान कारण है।

निष्काम कर्म, योग, भक्ति और ज्ञान की सहायता से मुक्ति दिलानेवाला होने के कारण, तथा मायारूपी समुद्र को पार कराने में नेता के पद पर प्रतिष्ठित और देश-काल-पात्र आदि के द्वारा अप्रतिहत होने के कारण, ज्ञानकाण्ड अथवा वेदान्त भाग ही सार्वलौकिक, सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक धर्म का एकमात्र उपदेष्टा है।

मन्वादि शास्त्रों ने कर्मकाण्ड का आश्रय ग्रहण कर देश-काल-पात्र भेद से मुख्यतः समाज का कल्याण करनेवाले कर्मों की शिक्षा दी है। पुराणों ने वेदान्त के छिपे हुए तत्त्वों को प्रकाश में लाकर, अवतारादि महान् चरित्रों का वर्णन करते हुए इन तत्त्वों की विस्तृत व्याख्या की है, और उनमें से प्रत्येक ने अनन्त भावमय भगवान् के किसी एक भाव को प्रधान मानकर उसीका उपदेश दिया है।

किन्तु जब कालवश सदाचारभ्रष्ट, वैराग्यहीन, एकमात्र लोकाचारनिष्ठ और क्षीणबुद्धि आर्य सन्तान इन सब भावविशेषों की विशेष शिक्षा के लिए अवस्थित आपातविरोधी दिखनेवाले एवं अल्पबुद्धि मनुष्यों के लिए विस्तृत भाषा में स्थूल रूप से वैदान्तिक सूक्ष्म तत्त्वों का प्रचार करनेवाले इन पुराणादि तन्त्रों में वर्णित मर्मों को भी ग्रहण करने में असमर्थ हो गयी—और, इसके फलस्वरूप, जिस समय उसने अनन्त भावसमष्टि अखण्ड सनातन धर्म को शत शत खण्डों में विभक्त कर, साम्प्रदायिक ईर्ष्या और क्रोध की ज्वाला को प्रज्वलित कर उसमें परस्पर की आहुति देने की सतत चेष्टा करते हुए इस धर्मभूमि भारत को प्रायः नरक-भूमि में परिणत कर दिया,—उस समय, आर्य जाति का प्रकृत धर्म क्या है और सतत विवदमान, आपातप्रतीयमान अनेकशः विभक्त, सर्वथा प्रतिद्वन्द्वी आचार-

युक्त सम्प्रदायों से घिरे, स्वदेशियों का भ्रान्ति-स्थान एवं विदेशियों का घृणास्पद हिन्दू धर्म नामक युग-युगान्तरव्यापी विखण्डित एवं देश-काल के योग से इधर-उधर बिखरे हुए धर्मखण्डसमष्टि के बीच यथार्थ एकता कहाँ है, यह दिखलाने के लिए —तथा कालवश नष्ट इस सनातन धर्म का सार्वलौकिक, सार्वकालिक और सार्वदेशिक स्वरूप अपने जीवन में निहित कर, संसार के सम्मुख सनातन धर्म के सजीव उदाहरणस्वरूप अपने को प्रदर्शित करते हुए लोक-कल्याण के लिए श्री भगवान् रामकृष्ण अवतीर्ण हुए।

सृष्टि, स्थिति और लयकर्ता के अनादि-वर्तमान सहयोगी शास्त्र संस्कार-रहित ऋषि-हृदय में किस प्रकार प्रकाशित होते हैं, यह दिखलाने के लिए और इसलिए कि इस प्रकार से शास्त्रों के प्रमाणित होने पर धर्म का पुनरुद्धार, पुनः-स्थापन और पुनःप्रचार होगा, वेदमूर्ति भगवान् ने अपने इस नूतन रूप में बाह्य शिक्षा की प्रायः सम्पूर्ण रूप से उपेक्षा की है।

वेद अर्थात् प्रकृत धर्म की और ब्राह्मणत्व अर्थात् धर्मशिक्षा के तत्त्व की रक्षा के लिए भगवान् बारम्बार शरीर धारण करते हैं, यह तो स्मृति आदि में प्रसिद्ध ही है।

ऊपर से गिरनेवाली नदी की जलराशि अधिक वेगवती होती है; पुनरुत्थित तरंग अधिक ऊँची होती है। उसी प्रकार प्रत्येक पतन के बाद आर्य समाज भी श्री भगवान् के करुणापूर्ण नियन्त्रण में नीरोग होकर पूर्वापेक्षा अधिक यशस्वी और वीर्यवान हुआ है—इतिहास इस बात का साक्षी है।

प्रत्येक पतन के बाद पुनरुत्थित समाज अन्तर्निहित सनातन पूर्णत्व को और भी अधिक प्रकाशित करता है; और सर्वभूतों में अवस्थित अन्तर्यामी प्रभु भी अपने स्वरूप को प्रत्येक अवतार में अधिकाधिक अभिव्यक्त करते हैं।

बार बार यह भारतभूमि मूर्च्छापन्न अर्थात् धर्मलुप्त हुई है और बारम्बार भारत के भगवान् ने अपने आविर्भाव द्वारा इसे पुनरुज्जीवित किया है।

किन्तु प्रस्तुत दो घड़ी में ही बीत जानेवाली वर्तमान गम्भीर विषाद-रात्रि के समान और किसी भी अमानिशा ने अब तक इस पुण्यभूमि को आच्छन्न नहीं किया था। इस पतन की गहराई के सामने पहले के सब पतन गोष्पद के समान जान पड़ते हैं।

इसीलिए इस प्रबोधन की समुज्ज्वलता के सम्मुख पूर्व युग के समस्त उत्थान उसी प्रकार महिमाविहीन हो जायँगे, जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश के सामने तारा-गण। और इस पुनरुत्थान के महावीर्य की तुलना में प्राचीन काल के समस्त उत्थान बालकेलि से जान पड़ेंगे।

सनातन धर्म के समस्त भाव-समूह अपनी इस पतनावस्था में, अधिकारी के अभाव से, अब तक इधर-उधर छिन्न-भिन्न होकर पड़े रहे है---कुछ तो छोटे छोट सम्प्रदायों के रूप में और शेष सब लुप्तावस्था में।

किन्तु आज, इस नव उत्थान में नवीन बल से बली मानव-सन्तान, विखण्डित और बिखरी हुई अध्यात्म विद्या को एकत्र कर उसकी धारणा और अभ्यास करने में समर्थ होगी तथा लुप्त विद्या के भी पुनः आविष्कार में सक्षम होगी। इसके प्रथम निदर्शनस्वरूप परम कारुणिक श्री भगवान् पूर्व सभी युगों की अपेक्षा अधिक पूर्णता प्रदर्शित करते हुए, सर्वभाव-समन्वित एवं सर्वविद्यायुक्त होकर युगावतार के रूप में अवतीर्ण हुए हैं।

इसीलिए इस महायुग के उषाकाल में सभी भावों का मिलन प्रचारित हो रहा है, और यही असीम अनन्त भाव, जो सनातन शास्त्र और धर्म में निहित होते हुए भी अब तक छिपा हुआ था, पुनः आविष्कृत होकर उच्च स्वर से जन-समाज में उद्घोषित हो रहा है।

यह नव युगधर्म समस्त जगत् के लिए, विशेषतः भारत के लिए, महा कल्याण-कारी है; और इस युगधर्म के प्रवर्तक श्री भगवान् रामकृष्ण पहले के समस्त युगधर्म-प्रवर्तकों के पुनः संस्कृत प्रकाश हैं। हे मानव, इस पर विश्वास करो और इसे हृदय में धारण करो।

मृत व्यक्ति फिर से नहीं जीता। बीती हुई रात फिर से नहीं आती। विगत उच्छ्वास फिर नहीं लौटता। जीव दो बार एक ही देह धारण नहीं करता। हे मानव, मुर्दे की पूजा करने के बदले हम जीवित की पूजा के लिए तुम्हारा आह्वान करते हैं; बीती हुई बातों पर माथापच्ची करने के बदले हम तुम्हें प्रस्तुत प्रयत्न के लिए बुलाते हैं। मिटे हुए मार्ग के खोजने में व्यर्थ शक्ति-क्षय करने के बदले अभी बनाये हुए प्रशस्त और सन्निकट पथ पर चलने के लिए आह्वान करते हैं। बुद्धिमान, समझ लो!

जिस शक्ति के उन्मेष मात्र से दिग्दिगन्तव्यापी प्रतिध्वनि जाग्रत हुई है, उसकी पूर्णावस्था को कल्पना से अनुभव करो; और व्यर्थ सन्देह, दुर्बलता और दासजाति-सुलभ ईर्ष्या-द्वेष का परित्याग कर, इस महायुग-चक्र-परिवर्तन में सहायक बनो।

हम प्रभु के दास हैं, प्रभु के पुत्र हैं, प्रभु की लीला के सहायक है—यही विश्वास दृढ़ कर कार्यक्षेत्र में उतर पड़ो।

चिन्तनीय बातें

१

देव-दर्शन के लिए एक व्यक्ति आकर उपस्थित हुआ। ठाकुर जी का दर्शन पाकर उसके हृदय में यथेष्ट श्रद्धा एवं भक्ति का संचार हुआ, और ठाकुर जी के दर्शन से जो कुछ अच्छा उसे मिला, शायद उसे चुका देने के लिए उसने राग अलापना आरम्भ किया। दालान के एक कोने में एक खम्भे के सहारे बैठे हुए चौवे जी ऊँघ रहे थे। चौवे जी उस मन्दिर के पुजारी हैं, पहलवान हैं और सितार भी वजाया करते है—सुबह-शाम एक एक लोटा भाँग चढ़ाने में निपुण है तथा उनमें और भी अनेक सद्गुण है। चौवे जी के कानों में सहसा एक विकट आवाज़ के गूँज जाने से उनका नशा-समुत्पन्न विचित्र संसार पल भर के लिए उनके बयालीस इंचवाले विशाल वक्षःस्थल के भीतर 'उत्थाय हृदि लीयन्ते' हुआ! तरुण-अरुण-किरण-वर्ण नशीले नेत्रों को इधर-उधर घुमाकर अपने मन की चंचलता का कारण ढूंढ़ने में व्यस्त चौवे जी को पता लगा कि एक व्यक्ति ठाकुर जी के सामने अपने ही भाव में मस्त होकर किसी उत्सव-स्थान पर वरतन माँजने की ध्वनि की भाँति कर्णकटु स्वर में नारद, भरत, हनुमान और नायक इत्यादि संगीत कला के आचार्यों का नाम ज़ोर ज़ोर से ऐसे उच्चारण कर रहा है, मानो पिण्डदान दे रहा हो। अपने नशे के आनन्द में प्रत्यक्ष विघ्न डालनेवाले व्यक्ति से मर्माहत चौवे जी ने जबरदस्त परेशानीभरे स्वर में पूछा, "अरे भाई, उस वेसुर वेताल में क्या चिल्ला रहे हो?" तुरन्त उत्तर मिला, "सुर-तान की मुझे क्या परवाह? मैं तो ठाकुर जी के मन को तृप्त कर रहा हूँ।" चौवे जी वोले, "हुँ, ठाकुर जी को क्या तूने ऐसा मूर्ख समझ रखा है? अरे पागल, तू तो मुझे ही तृप्त नहीं कर पा रहा है, ठाकुर जी क्या मुझसे भी अधिक मूर्ख है?"

* * *

भगवान् ने अर्जुन से कहा है—"तुम मेरी शरण लो, वस और कुछ करने की आवश्यकता नहीं, मैं तुम्हारा उद्धार कर दूंगा।" भोलाचाँद ने जब लोगों से यह सुना, तो वड़ा खुश हुआ; रह रह कर वह विकट चीत्कार करने लगा, "मैं

प्रभु की शरण में आया हूँ, मुझे अब किसका डर? मुझे अब और कुछ करने की क्या ज़रूरत?" भोलाचाँद का खयाल यह था कि इन बातों को इस तरह चिल्ला चिल्लाकर कहने से ही यथेष्ट भक्ति होती है। और फिर उसके ऊपर बीच बीच में वह उस चीत्कार से यह भी बतलाता जाता था कि वह हमेशा ही प्रभु के लिए प्राण देने को प्रस्तुत है, और इस भक्ति-डोर में यदि प्रभु स्वयं ही न आ बँधे, तो फिर सब मिथ्या है। उसके 'पास बैठनेवाले दो-चार अहमक़ साथी भी यही सोचते है। किन्तु भोलाचाँद प्रभु के लिए अपनी एक भी ख़ुराफ़ात छोड़ने को तैयार नहीं है। अरे, मैं कहता हूँ कि ठाकुर जी क्या ऐसे ही अहमक़ हैं? इस पर तो भाई हम भी नहीं रीझते!

*　　　　*　　　　*

भोलापुरी एक बड़े वेदान्ती हैं—सभी बातों में वे अपने ब्रह्मत्व ज्ञान का परिचय दिया करते हैं। भोलापुरी के चारों ओर यदि लोग अन्नाभाव में हाहाकार करते हों, तो यह दृश्य उनको किसी प्रकार विचलित नहीं करता; वे सुख-दुःख की असारता समझा देते हैं। रोग, शोक एवं क्षुधा से चाहे समस्त लोग मरकर ढेर हो जायँ, तो उसमें उनकी कोई हानि नहीं। वे तुरन्त ही आत्मा के अविनश्वरत्व की चिन्ता करने लगते हैं! उनके सामने बलवान यदि दुर्बल को मार भी डाले, तो भोलापुरी जी कहते हैं, "आत्मा न मरती है और न मारती ही है", और इतना कहकर इस श्रुति-वाक्य के गम्भीर अर्थ-सागर में डूब जाते हैं! किसी भी प्रकार का कार्य करने में भोलापुरी जी बहुत नाराज़ होते हैं। तंग करने पर वे उत्तर देते हैं कि वे तो पूर्व जन्म में ही उन सब कार्यों को समाप्त कर आये हैं। किन्तु एक बात में आघात पहुँचने से भोलापुरी जी की आत्मैक्यानुभूति को बड़ी ही ठेस लगती है—जिस समय उनकी भिक्षा की मात्रा में किसी प्रकार की कमी हो या गृहस्थ लोग उनके इच्छानुसार दक्षिणा देने में आनाकानी करते हों, उस समय पुरी जी की राय में गृहस्थ के समान घृणित जीव संसार में और कोई नहीं। और जो गाँव उन्हें समुचित दक्षिणा नहीं देता, वह गाँव एक क्षण के लिए भी न जाने क्यों पृथ्वी के बोझ को बढ़ा रहा है—बस यही सोचकर वे आकुल हो जाते हैं।

ये भी ठाकुर जी को हमारी अपेक्षा अहमक़ समझते हैं!

*　　　　*　　　　*

"अरे भाई रामचरण, तुमने लिखना-पढ़ना नहीं सीखा, व्यापार-धन्धा करने की भी तुम्हारी कोई हैसियत नहीं, शारीरिक परिश्रम भी तुम्हारे वश का

नहीं, फिर इस पर नशा-भाँग और खुराफ़ात भी नहीं छोड़ते, बोलो तो सही किस प्रकार तुम अपनी जीविका चलाते हो?"

रामचरण ने उत्तर दिया, "जनाब, यह तो सीधी सी बात है; मैं सबको उपदेश देता हूँ?"

रामचरण ने ठाकुर जी को न जाने क्या समझ रखा है!

२

लखनऊ शहर में मुहर्रम की बड़ी धूम है। बड़ी मसजिद—इमामबाड़े में चमक-दमक और रोशनी की बहार का कहना ही क्या! बेशुमार लोग आ-जा रहे हैं। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी आदि अनेक जाति के स्त्री-पुरुषों की भीड़ की भीड़ आज मुहर्रम देखने को एकत्र हुई है। लखनऊ शिया लोगों की राजधानी है, आज हज़रत इमाम हसन-हुसैन के नाम का आर्तनाद आकाश तक में गूँज रहा है—वह हृदय दहलानेवाला मरसिया, उसके साथ फूट फूटकर रोना किसके हृदय को द्रवित न कर देगा? सहस्र वर्ष की प्राचीन करबला की कथा आज फिर जीवन्त हो उठी है। इन दर्शकों की भीड़ में दूर गाँव से दो भद्र राजपूत तमाशा देखने आये हैं। ठाकुर साहब—जैसा कि प्रायः गवँहे ज़मींदार लोग हुआ करते हैं—निरक्षर भट्ट हैं। लखनऊ की इसलामी सभ्यता, शीन-क़ाफ़ का शुद्ध उच्चारण, शाइस्ता ज़ुबान, ढीली शेरवानी, चुस्त पायजामा और पगड़ी, रंग-बिरंगे कपड़े का लिबास—ये सब आज भी दूर गाँवों में प्रवेश कर वहाँ के ठाकुर साहबों को स्पर्श नहीं कर पाये है। अतः ठाकुर लोग सरल और सीधे हैं और हमेशा जवाँमर्द, चुस्त, मुस्तैद और मज़बूत दिलवालों को ही पसन्द करते हैं।

दोनों ठाकुर साहब फाटक पार करके मसजिद के अन्दर प्रवेश करने ही वाले थे कि सिपाही ने उन्हें अन्दर जाने से मना किया। जब उन्होंने इसका कारण पूछा, तो सिपाही ने उत्तर दिया, "यह जो दरवाजे के पास मूरत खड़ी देख रहे हो, उसे पहले पाँच जूते मारो, तभी भीतर जा सकोगे।" उन्होंने पूछा, "यह मूर्ति किसकी है?" उत्तर मिला, "यह महापापी येज़िद की मूरत है। उसने एक हज़ार साल पहले हज़रत हसन-हुसैन को क़त्ल किया था, इसीलिए आज यह रोना और अफ़सोस ज़ाहिर किया जा रहा है।" सिपाही ने सोचा कि इस लम्बी व्याख्या को सुनकर वे लोग पाँच जूते क्या दस जूते मारेंगे। किन्तु कर्म की गति विचित्र है, राम ने उलटा समझा—दोनों ठाकुरों ने गले में दुपट्टा लपेटकर अपने को उस मूर्ति के चरणों पर डाल दिया और लोट-पोटकर गद्‌गद स्वर से स्तुति करने लगे, "अन्दर जाने का अब क्या काम है; दूसरे देवता को अब और क्या

देखेंगे ? शावाश ! वावा येजिद, देवता तो तू ही है ! सारे का अस मारेउ कि ई सव सार अवहिन तक रोवत हैं।"

* * *

सनातन हिन्दू धर्म का गगनचुम्वी मन्दिर है—उस मन्दिर के अन्दर जाने के मार्ग भी कितने हैं ! और वहाँ है क्या नहीं ? वेदान्ती के निर्गुण ब्रह्म से लेकर ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य, चूहे पर सवार गणेश जी, छोटे देवता जैसे षष्ठी, माकाल इत्यादि तथा और भी न जाने क्या क्या वहाँ मौजूद हैं। फिर वेद, वेदान्त, दर्शन, पुराण एवं तन्त्र में वहुत सी सामग्री है, जिसकी एक एक वात से भववन्धन टूट जाता है। और लोगों की भीड़ का तो कहना ही क्या, तैंतीस करोड़ लोग उस ओर दौड़ रहे हैं ! मुझे भी उत्सुकता हुई, मैं भी दौड़ने लगा। किन्तु यह क्या ! मैं तो जाकर देखता हूँ एक अद्भुत काण्ड ! ! कोई भी मन्दिर के अन्दर नहीं जा रहा है, दरवाजे के पास एक पचास सिरवाली, सौ हाथवाली, दो सौ पेटवाली और पाँच सौ पैरवाली एक मूर्ति खड़ी है ! उसीके पैरों के नीचे सव लोट-पोट हो रहे हैं। एक व्यक्ति से कारण पूछने पर उत्तर मिला, "भीतर जो सव देवता हैं, उनको दूर से लोट-पोट लेने से ही या दो फूल डाल देने से ही उनकी यथेष्ट पूजा हो जाती है। असली पूजा तो इनकी होनी चाहिए, जो दरवाज़े पर विद्यमान है; और जो वेद, वेदान्त, दर्शन, पुराण और शास्त्र सव देख रहे हो, उन्हें कभी कभी सुन लो, तो भी कोई हानि नहीं, किन्तु इनका हुक्म तो मानना ही पड़ेगा।" तव मैंने फिर पूछा, "इन देवता जी का भला नाम क्या है ?" उत्तर मिला, "इनका नाम 'लोकाचार' है।" मुझे लखनऊ के ठाकुर साहव की वात याद आ गयी, "शावाश ! भई 'लोकाचार', सारे का अस मारेउ।"

* * *

वौने क़द के कृष्णव्याल भट्टाचार्य महापण्डित हैं, विश्वब्रह्माण्ड के समाचार उनकी अंगुलियों पर रहते हैं, उनके शरीर में केवल अस्थि और चर्म मात्र ही अवशेष हैं; उनके मित्रगण कहते हैं कि कठोर तपस्या से ऐसा हुआ है, पर शत्रु-गण कहते हैं कि अन्नाभाव से यह हुआ है ! फिर कुछ मसखरे लोग यह भी कहते हैं कि साल में ढाई दर्जन वच्चे पैदा करने से शरीर की दशा ऐसी ही हो जाती है। खैर, जो कुछ भी हो, संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो कृष्णव्याल जी न जानते हों, विशेष रूप से चोटी से लेकर नौ द्वारों तक विद्युत्प्रवाह और

चुम्बक-शक्ति की गति के विषय में वे सर्वज्ञ हैं। और इस प्रकार के रहस्य-ज्ञाता होने के कारण दुर्गा-पूजा के काम में आनेवाली वेश्याद्वार की मिट्टी से लेकर क़ायदा-कानून सहित पुनर्विवाह एवं दस वर्ष की कुमारी के गर्भाधान तक—समस्त विषयों की वैज्ञानिक व्याख्या करने में वे अद्वितीय हैं। फिर वे प्रमाण भी ऐसे देते हैं, जिनको एक बालक तक समझ सकता है,—ऐसे सरल उन्होंने प्रमाण बना दिये हैं! कहता हूँ कि भारतवर्ष को छोड़कर और अन्यत्र धर्म नहीं है, भारत में ब्राह्मण को छोड़कर धर्म समझने का और कोई अधिकारी नहीं है और ब्राह्मणों में भी कृष्णव्याल के वशजों को छोड़कर शेष सब कुछ भी नहीं जानते, और कृष्णव्यालों में बौने क़दवाले ही सब कुछ है!!! इसलिए कृष्णव्याल जी जो कहते हैं, वही स्वतः प्रमाण है। विद्या की बहुत चर्चा हो रही है, लोग कुछ समझदार होते जा रहे हैं, वे सब चीज़ों को समझना चाहते हैं, चखना चाहते हैं, अतः कृष्णव्याल जी सबको भरोसा दे रहे हैं, "माभैः !—डरो मत, जो सब कठिनाइयाँ तुम लोगों के मन में उठ रही हैं, मैं उनकी वैज्ञानिक व्याख्या कर देता हूँ; तुम लोग जैसे थे, वैसे ही रहो। नाक में सरसों का तेल डालकर खूब सोओ। केवल मेरी 'दक्षिणा' देना न भूलना।" लोग कहने लगे —"जान बची! किस बुरी बला से सामना पड़ा था! नहीं तो उठकर बैठना पड़ता, चलना-फिरना पड़ता — क्या मुसीबत!" अतः उन्होंने 'ज़िन्दा रहो कृष्णव्याल' कहकर दूसरी करवट ले ली। हज़ारों साल की आदत क्या यों ही छूटती है? शरीर ऐसा क्यों करने देगा? हज़ारों वर्ष की मन की गाँठ क्या यों ही कट जाती है! इसीलिए कृष्णव्याल जी और उनके दलवालों की ऐसी इज़्जत है!

"शाबाश, भई 'आदत', सारे का अस मारेउ।"[1]

---

१. 'चिन्तनीय बातें' का मूल बंगला है। स०

रामकृष्ण और उनकी उक्तियाँ[1]

प्रोफ़ेसर मैक्स मूलर पाश्चात्य संस्कृतज्ञ विद्वानों के अग्रणी हैं। जो ऋग्वेद संहिता पहले किसीको भी सम्पूर्ण रूप से प्राप्य नहीं थी, वही आज ईस्ट इण्डिया कम्पनी के विपुल व्यय एवं प्रोफ़ेसर के अनेक वर्षों के परिश्रम से अति सुन्दर ढंग से मुद्रित होकर सर्वसाधारण को प्राप्य है। भारत के विभिन्न स्थानों से एकत्र किये गये हस्तलिखित ग्रन्थों में अधिकांश अक्षर विचित्र हैं एवं अनेक वाक्य अशुद्ध हैं। विशेष महापण्डित होने पर भी एक विदेशी के लिए उन अक्षरों की शुद्धि या अशुद्धि का निर्णय करना तथा सूत्ररूप में लिखे गये जटिल भाष्य का विशद अर्थ समझना कितना कठिन कार्य है, इसका अनुभव हमें सहज ही नहीं हो सकता। प्रोफ़ेसर मैक्स मूलर के जीवन में यह ऋग्वेद-प्रकाशन एक प्रधान कार्य है। इसके अतिरिक्त, यद्यपि वे आजीवन प्राचीन संस्कृत साहित्य के अध्ययन में ही रत रहे हैं तथा उन्होंने उसीमें अपना जीवन खपाया है, फिर भी यह बात नहीं कि उनकी कल्पना में भारत आज भी वेद-घोष-प्रतिध्वनित, यज्ञ-धूम से आच्छन्न आकाशवाला तथा वशिष्ठ-विश्वामित्र-जनक-याज्ञवल्क्य आदि से पूर्ण है तथा वहाँ का प्रत्येक घर ही गार्गी-मैत्रेयी से सुशोभित और श्रौत एवं गृह्यसूत्र के नियमों द्वारा परिचालित है। विजातियों तथा विधर्मियों से पददलित, लुप्ताचार, लुप्तक्रिय, म्रियमाण आधुनिक भारत के किस कोने में कौन कौन सी नयी घटनाएँ हो रही हैं, इसकी सूचना भी प्रोफ़ेसर महोदय सदैव सचेत रहकर लेते रहे हैं। 'प्रोफ़ेसर महोदय ने भारत की ज़मीन पर कभी पैर नहीं रखा है', यह कहकर इस देश के बहुत से ऐंग्लो-इण्डियन, भारतीय रीति-नीति एवं आचार-व्यवहार के विषय में उनके मतों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। किन्तु इन ऐंग्लो-इण्डियनों को यह जान लेना उचित है कि आजीवन इस देश में रहने पर भी अथवा इस देश में जन्म ग्रहण करने पर भी, जिस श्रेणी में वे स्वयं रह रहे हैं, केवल उसीका विशेष विवरण जानने के अतिरिक्त अन्य श्रेणियों के विषय में वे पूर्णतः अनभिज्ञ ही हैं। विशेषतः, जाति-प्रथा में विभाजित इस वृहत् समाज में एक जाति के लिए अन्य जातियों के

---

१. प्रोफ़ेसर मैक्स मूलर द्वारा लिखित 'रामकृष्ण : हिज़ लाइफ़ ऐण्ड सेइंग्स' नामक पुस्तक पर स्वामी जी द्वारा लिखी गयी बंगला समालोचना का अनुवाद। स०

आचार और रीति को जानना बड़ा ही कठिन है। कुछ दिन हुए, किसी प्रसिद्ध ऐंग्लो-इण्डियन कर्मचारी द्वारा लिखित 'भारताविवास' नामक पुस्तक में इस प्रकार का एक अध्याय मैंने देखा है, जिसका शीर्षक है—'देशीय परिवार-रहस्य'। मनुष्य के हृदय में रहस्य जानने की इच्छा प्रबल होती है. शायद इसी उत्सुकता से मैंने उस अध्याय को जब पढ़ा, तो देखा कि ऐंग्लो-इण्डियन दिग्गज अपने किसी भंगी, भंगिन एवं भंगिन के यार के बीच घटी हुई किसी विशेष घटना का वर्णन करके देशवासियों के जीवन-रहस्य के बारे में अपने स्वजातिवृन्द की एक बड़ी भारी उत्सुकता मिटाने के लिए विशेष प्रयत्नशील है; और ऐसा भी प्रतीत होता है कि ऐंग्लो-इण्डियन समाज में उस पुस्तक का आदर देखकर वे अपने को पूर्ण रूप से कृतकृत्य समझते हैं। शिवा वः सन्तु पन्थानः—और क्या कहें? किन्तु श्री भगवान् ने कहा है 'संगात्संजायते' इत्यादि। जाने दो, यह अप्रासंगिक बात है। फिर भी, आधुनिक भारत के विभिन्न प्रदेशों की रीति-नीति एवं सामयिक घटनाओं के सम्बन्ध में प्रोफ़ेसर मैक्स मूलर के ज्ञान को देखकर हमें विस्मित रह जाना पड़ता है, यह हमारा प्रत्यक्ष अनुभव है।

विशेष रूप से धर्म सम्बन्धी मामलों में भारत में कहाँ कौन सी नयी तरंग उठ रही है, इसका अवलोकन प्रोफ़ेसर ने तीक्ष्ण दृष्टि से किया है तथा पाश्चात्य जगत् उस विषय में जानकारी प्राप्त कर सके, इसके लिए भी उन्होंने विशेष प्रयत्न किया है। देवेन्द्रनाथ ठाकुर एवं केशवचन्द्र सेन द्वारा परिचालित ब्राह्म समाज, स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिष्ठित आर्य समाज, थियोसॉफ़ी सम्प्रदाय—ये सब प्रोफ़ेसर की लेखनी द्वारा प्रशंसित या निन्दित हुए हैं। प्रसिद्ध 'ब्रह्मवादिन्' तथा 'प्रबुद्ध भारत' नामक पत्रों में श्री रामकृष्ण देव के उपदेशों का प्रचार देखकर एवं ब्राह्म धर्म प्रचारक बाबू प्रतापचन्द्र मजूमदार लिखित श्री रामकृष्ण देव की जीवनी पढ़कर, प्रोफ़ेसर महोदय श्री रामकृष्ण के जीवन से विशेष प्रभावित और आकृष्ट हुए। इसी बीच 'इण्डिया हाउस' के लाइब्रेरियन टॉनी महोदय द्वारा लिखित 'रामकृष्ण चरित' भी इंग्लैण्ड की प्रसिद्ध मासिक पत्रिका (एशियाटिक क्वार्टर्ली रिव्यू) में प्रकाशित हुआ। मद्रास तथा कलकत्ते से अनेक विवरण संग्रह करके प्रोफ़ेसर ने 'नाइन्टीन्थ सेन्चुरी' नामक अंग्रेजी भाषा की सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्रिका में श्री रामकृष्ण के जीवन तथा उपदेशों के बारे में कुछ लेख लिखा। उसमें उन्होंने यह व्यक्त किया कि अनेक शताब्दियों तक प्राचीन मनीषियों तथा आधुनिक काल में पाश्चात्य विद्वानों के विचारों को प्रतिध्वनित मात्र करनेवाले भारत में नयी भाषा में नूतन महाशक्ति का संचार करके नवीन विचारधारा प्रवाहित करनेवाले इस नये महापुरुष ने उनके चित्त को सहज ही में आकृष्ट कर

लिया। प्रोफ़ेसर महोदय ने प्राचीन ऋषि, मुनि एवं महापुरुषों की विचारधाराओं का शास्त्रों में अध्ययन किया था और वे उन विचारों से भली भाँति परिचित थे, किन्तु प्रश्न उठता था कि क्या इस युग में भारत में पुनः वैसी विभूतियों का आविर्भाव सम्भव है? रामकृष्ण की जीवनी ने इस प्रश्न की मानो मीमांसा कर दी और उसने इन प्रोफ़ेसर महोदय की, जिनका प्राण भारत में ही बसता है, भारत की भावी उन्नतिरूपी आशा-लता की जड़ में जल-सिंचन कर नूतन जीवन-संचार कर दिया।

पाश्चात्य जगत् में कुछ ऐसे महात्मा हैं, जो निश्चित रूप से भारत के हितैषी है; किन्तु मैक्स मूलर की अपेक्षा भारत का अधिक कल्याण चाहनेवाला यूरोप में कोई है अथवा नहीं, यह मैं नहीं कह सकता। मैक्स मूलर केवल भारत-हितैषी ही नहीं, वरन् भारत के दर्शन शास्त्र और भारत के धर्म में भी उनकी प्रगाढ़ आस्था है, और उन्होंने सबके सम्मुख इस बात को बारम्बार स्वीकार किया है कि अद्वैत-वाद धर्मराज्य का श्रेष्ठतम आविष्कार है। जो पुनर्जन्मवाद देहात्मवादी ईसाइयों के लिए भयप्रद है, उसे भी स्वानुभूत कहकर वे उस पर दृढ़ विश्वास करते हैं; यहाँ तक कि उनकी यह धारणा है कि उनका पूर्व जन्म शायद भारत में ही हुआ था। और इस समय यही भय, कि भारत में आने पर उनका वृद्ध शरीर शायद सहसा समुपस्थित पूर्व स्मृतियों के प्रबल वेग को न सह सके, उनके भारत-आगमन में प्रधान प्रतिबन्धक है। फिर भी, जो गृहस्थ हैं—चाहे वे कोई भी हों—उन्हें सब ओर ध्यान रखकर चलना पड़ता है। जब एक सर्वत्यागी उदासीन किसी लोक-निन्दित आचार को विशुद्ध जानकर भी लोक-निन्दा के भय से उसका अनुष्ठान करने में काँपने लगता है तथा जब सांसारिक सफलताओं को 'शूकर-विष्ठा' जानता हुआ भी, प्रतिष्ठा के लोभ से एवं अप्रतिष्ठा के भय से एक कठोर तपस्वी अनेक कार्यों का परिचालन करता है, तब यदि सर्वदा लोकसंग्रह का इच्छुक पूज्य एवं आदरणीय गृहस्थ को बहुत ही सावधानी से अपने मन के भावों को प्रकाशित करना पड़ता हो, तो इसमें आश्चर्य ही क्या? फिर, योग, शक्ति इत्यादि गूढ़ विषयों के बारे में प्रोफ़ेसर बिल्कुल अविश्वासी हों, ऐसी बात भी नहीं।

'दार्शनिकों से पूर्ण भारतभूमि में जो अनेकानेक धर्म-तरंगें उठ रही हैं'—उन सबका संक्षिप्त विवरण मैक्स मूलर ने प्रकाशित किया है; किन्तु दुःख की बात यह है कि बहुत से लोगों ने 'उसके रहस्य को ठीक ठीक समझने में असमर्थ होने के कारण अत्यन्त अवांछनीय मत प्रकट किया है।' इस प्रकार की ग़लतफ़हमी को दूर करने के लिए, तथा 'भारत के अलौकिक अद्भुत क्रियासम्पन्न साधु-संन्यासियों के विरोध में इंग्लैण्ड तथा अमेरिका के समाचारपत्रों में प्रकाशित विवरण' के प्रतिवाद के

लिए, और 'साथ ही साथ यह दिखलाने के लिए कि भारतीय थियोसॉफ़ी, एसोटेरिक बौद्ध मत इत्यादि विजातीय नामवाले सम्प्रदायों में भी कुछ सत्य तथा कुछ जानने योग्य है',[१] प्रोफ़ेसर मैक्स मूलर ने अगस्त, सन् १८९६ ई० की 'नाइण्टीन्थ सेंचुरी' नामक मासिक पत्रिका में 'प्रकृत महात्मा' शीर्षक से श्री रामकृष्ण-चरित को यूरोपीय मनीषियों के सामने रखा। उन्होंने इसमें यह भी दिखलाया कि भारत केवल पक्षियों की तरह आकाश में उड़नेवाले, पैरों से जल पर चलनेवाले, मछलियों के समान पानी के भीतर रहनेवाले अथवा मन्त्र-तन्त्र, टोना-टोटका करके रोग-निवारण करनेवाले या सिद्धि-बल से धनिकों की वंश-रक्षा करनेवाले तथा ताँबे से सोना बनानेवाले साधुओं की निवास-भूमि ही नहीं, वरन् वहाँ प्रकृत अध्यात्म-तत्त्ववित्, प्रकृत ब्रह्मवित्, प्रकृत योगी और प्रकृत भक्तों की संख्या भी कम नहीं है, तथा समस्त भारतवासी अब भी ऐसे पशुवत् नहीं हो गये हैं कि इन अन्त में बतलाये गये नर-देवों (श्री रामकृष्ण प्रभृति) को छोड़कर ऊपर कथित बाजीगरों के चरण चाटने में दिन-रात लगे हुए हों।

यूरोप और अमेरिका के विद्वज्जनों ने अत्यन्त आदर के साथ इस लेख को पढ़ा, और उसके फलस्वरूप श्री रामकृष्ण देव के प्रति अनेक की प्रगाढ़ श्रद्धा हो गयी। और सुपरिणाम क्या हुआ ? पाश्चात्य सभ्य जातियों ने इस भारत को नरमांस-भोजी, नंगे रहनेवाले, बलपूर्वक विधवाओं को जला देनेवाले, शिशुघाती, मूर्ख, कापुरुष, सब प्रकार के पाप और अन्धविश्वासों से परिपूर्ण, पशुवत् मनुष्यों का निवास-स्थान समझ रखा था; इस धारणा को उनके मस्तिष्क में जमानेवाले हैं ईसाई पादरीगण, और कहने में शर्म लगती है तथा दुःख भी होता है कि इसमें हमारे कुछ देशवासियों का भी हाथ है। इन दोनों प्रकार के लोगों की प्रबल चेष्टा के कारण, जो एक घोर अन्धकारपूर्ण जाल पाश्चात्य देशवासियों के सामने फैला हुआ था, वह अब इस लेख के फलस्वरूप धीरे धीरे छिन्न-भिन्न होने लगा है। 'जिस देश में श्री भगवान् रामकृष्ण की तरह लोकगुरु आविर्भूत हुए हैं, वह देश क्या वास्तव में जैसा कलुषित और पापपूर्ण हम लोगों ने सुना है, उसी प्रकार का है ? अथवा कुचक्रियों ने हम लोगों को इतने दिनों तक भारत के तथ्य के सम्बन्ध में महान् भ्रम में डाल रखा था ?'—यह प्रश्न आज अपने आप ही पाश्चात्य लोगों के मन में उदित हो रहा है।

पाश्चात्य जगत् में भारतीय धर्म-दर्शन-साहित्य सम्राट् प्रोफ़ेसर मैक्स मूलर ने जिस समय श्री रामकृष्ण-चरित को अत्यन्त भक्तिपूर्ण हृदय से यूरोप तथा अमे-

---

१. 'रामकृष्ण : हिज़ लाइफ़ ऐण्ड सेइंग्स' : प्रो० मैक्स मूलर, पृष्ठ १–२।

रिकावासियों के कल्याणार्थ संक्षिप्त रूप से 'नाइण्टीन्थ सेंचुरी' नामक पत्रिका में प्रकाशित किया, उस समय पूर्वोक्त दोनों प्रकार के लोगों में जो भीषण अन्तर्दाह उत्पन्न हुआ, उसकी चर्चा अनावश्यक है।

मिशनरी लोग हिन्दू देवी-देवताओं का अत्यन्त अनुपयुक्त वर्णन करके यह प्रमाणित करने का भरसक प्रयत्न कर रहे थे कि इनके उपासकों में सच्चे धार्मिक व्यक्तियों का कभी आविर्भाव नहीं हो सकता। किन्तु नदी की प्रबल बाढ़ में जिस प्रकार तिनकों को ढेरी नहीं टिक सकती है, उसी प्रकार उनकी चेष्टाएँ भी बह गयी; और आज पूर्वोक्त स्वदेशी सम्प्रदाय श्री रामकृष्ण की शक्ति-सम्प्रसारण रूप प्रबल अग्नि को बुझाने के उपाय सोचते सोचते हताश हो गया है। ईश्वरीय शक्ति के सामने भला जीव की शक्ति कहाँ!

स्वभावतः, दोनों ओर से प्रोफ़ेसर महोदय पर प्रबल आक्रमण होने लगा; किन्तु ये वयोवृद्ध सज्जन हटनेवाले नहीं थे,—इस प्रकार के संग्राम में वे अनेक बार विजयी हुए थे। इस समय भी आततायियों को परास्त करने के लिए तथा इस उद्देश्य से कि श्री रामकृष्ण और उनके धर्म को सर्वसाधारण अच्छी तरह समझ सके, उन्होंने उनकी जीवनी और उपदेश ग्रन्थ-रूप में लिखने के लिए पहले से भी अधिक सामग्री सग्रह की तथा 'रामकृष्ण और उनकी उक्तियाँ' नामक पुस्तक प्रकाशित की। इस पुस्तक के 'रामकृष्ण' नामक अध्याय में उन्होंने निम्नलिखित बातें कही हैं:

'उक्त महापुरुष की इस समय यूरोप तथा अमेरिका में बहुत ख्याति एवं प्रतिष्ठा हुई है, वहाँ उनके शिष्यगण अदम्य उत्साह के साथ उनके उपदेशों का प्रचार कर रहे हैं और अनेक व्यक्तियों को, यहाँ तक कि, ईसाइयों में से भी बहुतों को श्री रामकृष्ण के मत में ला रहे हैं। यह बात हमारे लिए बहुत ही आश्चर्य-जनक है और इस पर हम कठिनता से विश्वास कर सकते हैं. . .तथापि प्रत्येक मानव-हृदय में धर्म-पिपासा बलवती होती है, प्रत्येक हृदय में प्रबल धर्म-क्षुधा विद्यमान रहती है, जो शीघ्र ही या कुछ देर में शान्त हो जाना चाहती है। इन सब क्षुधार्त व्यक्तियों के लिए रामकृष्ण का धर्म किसी प्रकार के बाह्य शासनाधीन न होने के कारण और, इसके फलस्वरूप, अत्यन्त उदार होने के कारण अमृत के समान ग्राह्य है। . . .अतएव, रामकृष्ण-धर्मावलम्बियों की एक बहुत बड़ी संख्या के बारे में हम जो सुनते हैं, वह शायद किसी अंश तक अतिरंजित भले ही हो, पर फिर भी, जो धर्म आधुनिक समय में इस प्रकार सिद्धि-लाभ कर चुका है, जो विस्तृत होने के साथ साथ अपने को सम्पूर्ण सत्यता के साथ संसार का प्राचीनतम धर्म एवं दर्शन कहकर घोषित करता है तथा जो वेदान्त अर्थात् वेद के सर्वोच्च उद्देश्य के नाम से

परिचित है, वह हमारे लिए अत्यन्त आदर और श्रद्धा के साथ विचारणीय एवं चिन्तनीय है।'

इस पुस्तक के आरम्भ में प्रोफ़ेसर महोदय ने 'महात्मा' पुरुष, आश्रम-विभाग, संन्यासी, योग, दयानन्द सरस्वती, पवहारी बाबा, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, राधास्वामी सम्प्रदाय के नेता राय शालिग्राम साहब बहादुर आदि का भी उल्लेख किया है।

प्रोफ़ेसर महोदय इस बात से विशेष सशंक थे कि साधारणतया समस्त ऐतिहासिक घटनाओं के वर्णन में, लेखक के व्यक्तिगत राग-विराग के कारण, कभी कभी जो त्रुटियाँ अपने आप घुस जाती हैं, वे कहीं इस जीवनी के अन्दर तो नहीं आ गयी हैं। इसलिए घटनाओं का संग्रह करने में उन्होंने विशेष सावधानी से काम लिया। प्रस्तुत लेखक (स्वामी विवेकानन्द) श्री रामकृष्ण का क्षुद्र दास है—इसके द्वारा संकलित रामकृष्ण-जीवनी के उपादान यद्यपि प्रोफ़ेसर की युक्ति एवं बुद्धिरूपी मथानी से भली भाँति मथ लिये गये हैं, परन्तु फिर भी उन्होंने (मैक्स मूलर ने) कह दिया है कि भक्ति के आवेश में कुछ अतिरंजना सम्भव है। और ब्राह्म धर्म-प्रचारक श्रीयुत बाबू प्रतापचन्द्र मजूमदार प्रभृति व्यक्तियों ने श्री रामकृष्ण के दोष दिखलाते हुए प्रोफ़ेसर को जो कुछ लिखा है, उसके प्रत्युत्तर मे उन्होंने जो दो-चार मीठी-कड़वी बातें कही हैं, वे दूसरों की उन्नति पर ईर्ष्या करनेवाली बंगाली जाति के लिए विशेष विचारणीय हैं—इसमें कोई सन्देह नही।

इस पुस्तक में श्री रामकृष्ण की जीवनी अत्यन्त संक्षेप में तथा सरल भाषा में वर्णित की गयी है। इस जीवनी में सावधान लेखक ने प्रत्येक बात मानो तौलकर लिखी है,—'प्रकृत महात्मा' नामक लेख में स्थान स्थान पर जिन अग्नि-स्फुलिंगों को हम देखते हैं, वे इस लेख में अत्यन्त सावधानी के साथ संयत रखे गये हैं। एक ओर है मिशनरियों की हलचल और दूसरी ओर, ब्राह्म समाजियों का कोलाहल,—इन दोनों के बीच से होकर प्रोफ़ेसर की नाव चल रही है। 'प्रकृत महात्मा' नामक लेख पर दोनों दलों द्वारा प्रोफ़ेसर पर अनेक भर्त्सना तथा कठोर वचनों की बौछार की गयी; किन्तु हर्ष का विषय है कि न तो उनके प्रत्युत्तर की चेष्टा की गयी है और न अभद्रता का दिग्दर्शन ही किया गया है,—गाली-गलौज करना तो इंग्लैण्ड के भद्र लेखक जानते ही नहीं। प्रोफ़ेसर महोदय ने, वयस्क महापण्डित को शोभा देनेवाले धीर-गम्भीर विद्वेष-शून्य एवं वज्रवत् दृढ़ स्वर में, इन महापुरुष के अलौकिक हृदयोत्थित अतिमानव भाव पर किये गये आक्षेपों का आमूल खंडन कर दिया है।

इन आक्षेपों को सुनकर हमें सचमुच आश्चर्य होता है। ब्राह्म समाज के गुरु स्वर्गीय आचार्य श्री केशवचन्द्र सेन के मुख से हमने सुना है कि 'श्री रामकृष्ण की

सरल मधुर ग्राम्य भाषा अत्यन्त अलौकिक तथा पवित्रता से पूर्ण है, हम जिन्हें कुछ अश्लील कहते हैं, ऐसे शब्दों का उसमें कहीं कहीं समावेश होने पर भी, उनके अपूर्व बालवत् कामगन्धहीन स्वभाव के कारण, उन सब शब्दों का प्रयोग दोषपूर्ण न होकर आभूषणस्वरूप हुआ है।' किन्तु खेद है कि यही एक प्रबल आक्षेप है!

दूसरा आक्षेप यह है कि उन्होंने सन्यास ग्रहण कर अपनी स्त्री के प्रति निष्ठुर व्यवहार किया था। इस पर प्रोफ़ेसर महोदय का उत्तर है कि उन्होंने स्त्री की अनुमति लेकर ही संन्यासव्रत धारण किया था, तथा जब तक वे इस लोक में रहे, तब तक उन्हींके सदृश उनकी चिर ब्रह्मचारिणी पत्नी भी पति को गुरु-रूप में ग्रहण करके अपनी इच्छा से, परम आनन्दपूर्वक उनके उपदेशानुसार भगवत्सेवा में लगी रहीं। प्रोफ़ेसर महोदय ने यह भी कहा है, 'शरीर-सम्बन्ध के बिना पति-पत्नी में प्रेम क्या असम्भव है? हमें हिन्दू के सत्य-संकल्प पर विश्वास करना ही पड़ेगा कि शरीर-सम्बन्ध न रखते हुए ब्रह्मचारिणी पत्नी को अमृतस्वरूप ब्रह्मानन्द का भागी बनाकर ब्रह्मचारी पति परम पवित्रता के साथ जीवन-यापन कर सकता है, यद्यपि इस विषय में उक्त व्रत धारण करनेवाले यूरोपनिवासी सफल नहीं हुए हैं।' ऐसे बहुमूल्य मन्तव्यों के लिए प्रोफ़ेसर महोदय पर आशीषों की वृष्टि हो! वे दूसरी जाति के तथा विदेशी होकर भी हमारे एकमात्र धर्म-सहायक ब्रह्मचर्य को समझ सकते हैं, एवं यह विश्वास करते हैं कि आज भी भारत में ऐसे दृष्टान्त विरले नहीं हैं,—जब कि हमारे अपने ही घर के वीर कहलानेवाले लोग पाणिग्रहण में शरीर-सम्बन्ध के अतिरिक्त और कुछ नहीं देख सकते!! यादृशी भावना यस्य!

फिर एक अभियोग यह है कि वे वेश्याओं से अत्यन्त घृणा नहीं करते थे। इस पर प्रोफ़ेसर ने बड़ा ही मधुर उत्तर दिया है। उन्होंने कहा है कि केवल रामकृष्ण ही नहीं, वरन् अन्यान्य धर्म-प्रवर्तक भी इस 'अपराध' के दोषी हैं! अहा! कैसी मधुर बात है!—यहाँ पर हमें श्री भगवान् बुद्धदेव की कृपापात्री वेश्या अम्बापाली और हज़रत ईसा की दयाप्राप्ता सामरीया नारी की बात याद आती है।

फिर एक अभियोग यह भी है कि उन्हें शराब पीने की आदत पर भी घृणा न थी। हरे! हरे! जरा सी शराब पीने पर उस आदमी की परछाईं भी अस्पृश्य है—यही हुआ न मतलब?—सचमुच, यह तो बहुत बड़ा अभियोग है! नशेबाज, वेश्या, चोर और दुष्टों को महापुरुष घृणा से क्यों नहीं भगा देते थे! और आँख मूँदकर, चलती भाषा में जिसे कहते हैं, नौबत की सुर की तरह ऊपर ही ऊपर उनसे बातें क्यों नहीं करते थे! और सबसे बड़ा अभियोग तो यह था कि उन्होंने आजन्म स्त्री-संग क्यों नहीं किया!!!

आक्षेप करनेवालों की इस विचित्र पवित्रता एवं सदाचार के आदर्शानुसार जीवन न गढ़ सकने से ही भारत रसातल में चला जायगा!! जाय रसातल में, यदि इस प्रकार की नीति का सहारा लेकर उसे उठना हो।

इस पुस्तक में जीवनी की अपेक्षा उक्ति-संग्रह[1] ने अधिक स्थान लिया है। इन उक्तियों ने समस्त संसार के अंग्रेज़ी पढ़नेवाले लोगों में से बहुतों को आकृष्ट कर लिया है, और यह बात इस पुस्तक की हाथों-हाथ बिक्री देखने से ही प्रमाणित हो जाती है। ये उक्तियाँ भगवान् श्री रामकृष्ण देव के श्रीवचन होने के कारण महान् शक्तिपूर्ण हैं, और इसीलिए ये निश्चय ही समस्त देशों में अपनी ईश्वरीय शक्ति का विकास करेंगी। **बहुजनहिताय बहुजनसुखाय** महापुरुष अवतीर्ण होते हैं—उनके जन्म-कर्म अलौकिक होते हैं और उनका प्रचार-कार्य भी अत्यन्त आश्चर्य-जनक होता है।

और हम सब? जिस निर्धन ब्राह्मण-कुमार ने अपने जन्म के द्वारा हमें पवित्र बनाया है, कर्म के द्वारा हमें उन्नत किया है एवं वाणी के द्वारा राजजाति (अंग्रेज़ों) की भी प्रीतिदृष्टि हमारी ओर आकृष्ट की है, हम लोग उनके लिए क्या कर रहे हैं? सच है, सभी समय मधुर नहीं होता, किन्तु तो भी समयविशेष में कहना ही पड़ता है—हममें से कोई कोई समझ रहे हैं कि उनके जीवन एवं उपदेशों द्वारा हमारा लाभ हो रहा है, किन्तु बस यहीं तक। इन उपदेशों को जीवन में परिणत करने की चेष्टा भी हमसे नहीं हो सकती—फिर श्री रामकृष्ण द्वारा उत्तोलित ज्ञान-भक्ति की महातरंग में अंग-विसर्जन करना तो बहुत दूर की बात है। जिन लोगों ने इस खेल को समझा है या समझने की चेष्टा कर रहे हैं, उनसे हमारा यह कहना है कि केवल समझने से क्या होगा? समझने का प्रमाण तो प्रत्यक्ष कार्य है। केवल ज़बान से यह कह देने से कि हम समझ गये या विश्वास करते हैं, क्या दूसरे लोग भी तुम पर विश्वास करेंगे? हृदय की समस्त भावनाएँ ही फलदायिनी होती हैं; कार्य में उनको परिणत करो—संसार देख तो ले।

जो लोग अपने को महापण्डित समझकर इस निरक्षर, निर्धन, साधारण पुजारी ब्राह्मण के प्रति उपेक्षा प्रदर्शित करते हैं, उनसे हमारा यह निवेदन है कि जिस देश के एक अपढ़ पुजारी ने अपने शक्ति-बल से अत्यन्त अल्प समय में अपने पूर्वजों के सनातन धर्म की जय-घोषणा सात समुद्र पार तक समस्त जगत् में प्रतिध्वनित कर दी है, उसी देश के आप सब लोग सर्वमान्य शूरवीर महापण्डित हैं—आप लोग

---

१. भगवान् श्री रामकृष्ण देव की सम्पूर्ण उक्तियाँ 'श्री रामकृष्ण वचनामृत' के रूप में तीन भागों में श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर द्वारा प्रकाशित की गयी हैं।

तो फिर इच्छा मात्र से स्वदेश एवं स्वजाति के कल्याण के लिए और भी अनेक अद्‌भुत कार्य कर सकते हैं। तो फिर उठिए, अपने को प्रकाश में लाइए, महाशक्ति के खेल दिखलाइए—हम सब पुष्प-चन्दन लेकर आप लोगों की पूजा करने के लिए खड़े हैं; हम तो मूर्ख, क्षुद्र, नगण्य भिक्षुक हैं; और आप सब महाराज, महावली, महाकुलवाले तथा सर्वविद्यासम्पन्न हैं—आप सब उठिए, आगे बढ़िए, मार्ग दिखलाइए, संसार के हित के लिए सर्वस्व त्याग करिए—हम दास की तरह आपके पीछे पीछे चलेंगे। और जो लोग श्री रामकृष्ण के नाम की प्रतिष्ठा एवं प्रभाव को देखकर दास जाति की तरह ईर्ष्या एवं द्वेष के वशीभूत होकर अकारण तथा विना किसी अपराध के वैमनस्य प्रकट कर रहे हैं, उनसे हमारा यही कहना है कि भाई, तुम्हारी ये सब चेष्टाएँ व्यर्थ हैं। यदि यह दिग्दिगन्तव्यापी महाधर्म-तरंग—जिसके शुभ्र शिखर पर इस महापुरुष की मूर्ति विराजमान है—हमारे धन, यश या प्रतिष्ठा-लाभ की चेष्टा का फल हो, तो फिर तुम्हारे या अन्य किसीके लिए कोई प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है, महामाया के अप्रतिहत नियम के प्रभाव से शीघ्र ही यह तरंग महाजल में अनन्त काल के लिए विलीन हो जायगी! और यदि जगदम्बा-परिचालित इस महापुरुष की निःस्वार्थ प्रेमोच्छ्‌वासरूपी इस तरंग ने जगत् को प्लावित करना आरम्भ कर दिया हो, तो फिर हे क्षुद्र मानव, तुम्हारी क्या हस्ती कि माता के शक्ति-संचार का रोध कर सको?

ज्ञानार्जन

ज्ञान के आदि स्रोत के सम्बन्ध में विविध सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं। उपनिषदों में हम पढ़ते हैं कि देवताओं में प्रथम और प्रधान ब्रह्मा जी ने शिष्यों में उस ज्ञान का प्रचार किया, जो शिष्य-परम्परा द्वारा अभी तक चला आ रहा है। जैनों के मतानुसार उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी कालचक्र के बीच कतिपय अलौकिक सिद्ध पुरुषों का—'जिनों' का प्रादुर्भाव होता है और उनके द्वारा मानव समाज में ज्ञान का पुनः पुनः विकास होता है। इसी प्रकार बौद्धों का भी विश्वास है कि बुद्ध नाम से अभिहित किये जानेवाले सर्वज्ञ महापुरुषों का बारम्बार आविर्भाव होता रहता है। पुराणों में वर्णित अवतारों के अवतीर्ण होने के अनेकानेक प्रयोजनों में से आध्यात्मिक प्रयोजन ही मुख्य है। भारत के बाहर, हम देखते हैं कि महामना स्पितामा ज़रथुष्ट्र मर्त्यलोक में ज्ञानालोक लाये। इसी प्रकार हज़रत मूसा, ईसा तथा मुहम्मद ने भी अलौकिक शक्तिसम्पन्न होकर मानव समाज के बीच अलौकिक रीतियों से अलौकिक ज्ञान का प्रचार किया।

केवल कुछ व्यक्ति ही 'जिन' हो सकते है, उनके अतिरिक्त और कोई भी 'जिन' नही हो सकता, बहुत से लोग केवल मुक्ति तक ही पहुँच सकते हैं। बुद्ध नामक अवस्था की प्राप्ति सभी को हो सकती है। ब्रह्मादि केवल पदवी विशेष हैं, प्रत्येक जीव इन पदों को प्राप्त कर सकता है। जरथुष्ट्र, मूसा, ईसा, मुहम्मद ये सभी महापुरुष थे। किसी विशेष कार्य के लिए ही इनका आविर्भाव हुआ था। पौराणिक अवतारों का आविर्भाव भी इसी प्रकार हुआ था। उस आसन की ओर जनसाधारण का लालसापूर्ण दृष्टिपात करना अनधिकार चेष्टा है।

आदम ने फल खाकर ज्ञान प्राप्त किया। 'नूह' (Noah) ने जिहोवा देव की कृपा से सामाजिक शिल्प सीखा। भारत में देवगण या सिद्ध पुरुष ही समस्त शिल्पों के अधिष्ठाता माने गये हैं; जूता सीने से लेकर चण्डी-पाठ तक प्रत्येक कार्य अलौकिक पुरुषों की कृपा से ही सम्पन्न होता है। 'गुरु बिन ज्ञान नहीं', श्री गुरुमुख से निःसृत हुए बिना, श्री गुरु की कृपा हुए बिना शिष्य-परम्परा में इस ज्ञान-धन के संचार का और कोई उपाय नहीं है।

फिर दार्शनिक—वैज्ञानिक—कहते हैं, ज्ञान मनुष्य की स्वभावसिद्ध सम्पत्ति है—आत्मा की प्रकृति है; यह मानवात्मा ही अनन्त ज्ञान का आधार

है, उसे कौन सिखला सकता है? इस ज्ञान के ऊपर जो एक आवरण पड़ा हुआ है, वह सुकर्म के द्वारा केवल हट जाता है; अथवा यह 'स्वतःसिद्ध ज्ञान' अनाचार से संकुचित हो जाता है तथा ईश्वर की कृपा एवं सदाचार के द्वारा पुनः प्रसारित होता है; और यह भी लिखा है कि अष्टांग योगादि के द्वारा, ईश्वर की भक्ति के द्वारा, निष्काम कर्म के द्वारा अथवा ज्ञान-चर्चा के द्वारा अन्तर्निहित अनन्त शक्ति एवं ज्ञान का विकास होता है।

दूसरी ओर आधुनिक लोग अनन्त स्फूर्ति के आधारस्वरूप मानव-मन को देख रहे हैं। सबकी यह धारणा है कि उपयुक्त देश-काल-पात्र के अनुसार ज्ञान की स्फूर्ति होगी। फिर, पात्र की शक्ति से देश-काल की विडम्बना का अतिक्रमण किया जा सकता है। कुदेश या कुसमय में पड़ जाने पर भी योग्य व्यक्ति बाधाओं को दूर कर अपनी शक्ति का विकास कर सकता है। अब तो, पात्र के ऊपर, अधिकारी के ऊपर जो सब उत्तरदायित्व लाद दिया गया था, वह भी कम होता जा रहा है। कल की बर्बर जातियाँ भी आज अपने प्रयत्न से सभ्य एवं ज्ञानवान होती जा रही हैं—निम्न श्रेणी के लोग भी अप्रतिहत शक्ति से उच्चतम पदों पर प्रतिष्ठित हो रहे है। नरमांस का आहार करनेवाले माता-पिता की सन्तान भी विनयशील एवं विद्वान् हुई है। सन्थालों के वंशज भी अंग्रेज़ों की कृपा से अन्य भारतीय विद्यार्थियों के साथ होड़ ले रहे है। वंशानुगत गुणों पर प्रतिष्ठित अधिकार भी दिनोंदिन आधारहीन प्रमाणित होता जा रहा है।

एक सम्प्रदाय के लोग ऐसे हैं, जिनका विश्वास है कि प्राचीन महापुरुषों का उद्देश्य वंश-परम्परा से केवल उन्हींको प्राप्त हुआ है, एवं सब विषयों के ज्ञान का एक निर्दिष्ट भांडार अनन्त काल से विद्यमान है और वह भांडार उनके पूर्वजों के ही अधिकार में था। अतः वे ही उसके उत्तराधिकारी हैं, जगत् के पूज्य हैं। यदि इन लोगों से पूछा जाय कि जिनके ऐसे पूर्वज नहीं हैं, उनके लिए क्या उपाय है?—तो उत्तर मिलता है, 'कुछ भी नहीं।' पर इनमें से जो अपेक्षाकृत दयालु है, वे उत्तर देते हैं—"हमारी चरण-सेवा करो, उस सुकृत के फलस्वरूप अगले जन्म में हमारे वंश में जन्म ग्रहण करोगे।" और इन लोगों से यदि यह कहा जाय, 'आधुनिक काल में जो अनेक आविष्कार हो रहे हैं, उन्हें तो तुम लोग नहीं जानते हो और न कोई ऐसा प्रमाण ही मिलता है कि तुम्हारे पूर्वजों को ये सब ज्ञात थे', तो वे कह उठते हैं, "हमारे पूर्वजों को ये सब ज्ञात थे, पर अब इनका लोप हो गया है। यदि इसका प्रमाण चाहिए, तो अमुक अमुक श्लोक देखो।"

यह कहने की जरूरत नहीं कि प्रत्यक्षवादी आधुनिक लोग इन सब बातों पर विश्वास नहीं करते।

अपरा एवं परा विद्या में विभेद अवश्य है, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान में विभिन्नता अवश्य है; यह हो सकता है कि एक का पथ दूसरे का न हो सके, एक उपाय के अवलम्बन से सब प्रकार के ज्ञान-राज्य का द्वार न खुल सके, किन्तु वह अन्तर केवल उच्चता के तारतम्य में है, केवल अवस्थाओं के भेद में है। उपायों के अनुसार ही लक्ष्य-प्राप्ति होती है। वास्तव में वही एक अखण्ड ज्ञान समस्त ब्रह्माण्ड में परिव्याप्त है।

इस प्रकार स्थिर सिद्धान्त हो जाने पर कि 'ज्ञान मात्र पर केवल कुछ विशेष पुरुषों का ही अधिकार है तथा ये सब विशेष पुरुष ईश्वर या प्रकृति या कर्म से निर्दिष्ट होकर यथासमय जन्म ग्रहण करते हैं, और इसके अतिरिक्त किसी भी विषय में ज्ञान-लाभ करने का और कोई उपाय नहीं है', समाज से उद्योग तथा उत्साह आदि का लोप हो जाता है, आलोचना के अभाव के कारण उद्भावना शक्ति का क्रमशः नाश हो जाता है तथा नूतन वस्तु की जानकारी में फिर किसीको उत्सुकता नहीं रह जाती, और यदि होने का उपाय भी हो, तो समाज उसे रोककर धीरे धीरे नष्ट कर देता है। यदि यही सिद्धान्त स्थिर हुआ कि सर्वज्ञ व्यक्ति विशेष के द्वारा ही अनन्त काल के लिए मानव के कल्याण का पथ निर्दिष्ट हुआ है, तो ऐसा होने से समाज, उन सब निर्देशों में तिल मात्र भी व्यतिक्रम होने पर सर्वनाश की आशंका से, कठोर शासन के द्वारा मनुष्यों को उस नियत मार्ग पर ले जाने की चेष्टा करता है। यदि समाज इसमें सफल हुआ, तो परिणामस्वरूप मनुष्य यन्त्रवत् बन जाता है। जीवन का प्रत्येक कार्य यदि पहले से निर्दिष्ट हुआ हो, तो फिर विचार-शक्ति की विशद आलोचना का प्रयोजन ही क्या? उद्भावना-शक्ति का प्रयोग न होने पर धीरे धीरे उसका लोप हो जाता है एवं तमोगुणपूर्ण जड़ता समाज को आ घेरती है, और वह समाज धीरे धीरे अवनत होने लगता है।

दूसरी ओर, सर्वप्रकार से निर्देशविहीन होने पर यदि कल्याण होना सम्भव होता, तो फिर सभ्यता एवं संस्कृति चीन, हिन्दू, मिस्र, बेबिलोन, ईरान, ग्रीस, रोम एवं अन्य महान् देशों के निवासियों को त्यागकर जुलू, हब्शी, हटेन्टॉट, सन्थाल, अन्दमान तथा आस्ट्रेलियानिवासी जातियों का ही आश्रय ग्रहण करती।

अतएव महापुरुषों द्वारा निर्दिष्ट पथ का भी गौरव है, गुरु-परम्परागत ज्ञान का भी एक विशेष प्रयोजन है, और यह भी एक चिरन्तन सत्य है कि ज्ञान में सर्वअन्तर्यामित्व है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेम के उच्छ्वास में अपने को भूलकर भक्तगण उन महापुरुषों के उद्देश्य को न अपनाकर उनकी उपासना को एक मात्र ध्येय समझने लगते हैं; तथा स्वयं हतश्री हो जाने पर मनुष्य स्वाभाविक-

तया पूर्वजों के ऐश्वर्य-स्मरण में ही समय बिताता है---यह भी एक प्रत्यक्ष प्रमाणित बात है। भक्तिपूर्ण हृदय सम्पूर्णतया पूर्व पुरुषों के चरणों पर आत्मसमर्पण कर स्वयं दुर्बल बन जाता है, और यही दुर्बलता फिर आगे चलकर शक्तिहीन गर्वित हृदय को पूर्वजों की गौरव-गाथा को ही जीवन का आधार बना लेने की शिक्षा देती है।

पूर्ववर्ती महापुरुषों को सभी विषयों का ज्ञान था, और समय के फेर से उस ज्ञान का अधिकांश अब लुप्त हो गया है---यह बात सत्य होने पर भी, यही सिद्धान्त निकलेगा कि उसके लोप होने के कारणस्वरूप आज के तुम लोगों के पास उस विलुप्त ज्ञान का होना या न होना एक सी ही बात है; और यदि तुम उसे पुनः सीखना चाहते हो, तो तुम्हें फिर से नया प्रयत्न करना होगा, फिर से परिश्रम करना होगा।

आध्यात्मिक ज्ञान, जो विशुद्ध हृदय में अपने आप ही स्फुरित होता है, वह भी चित्तशुद्धि-रूप बहु प्रयास एवं परिश्रमसाध्य है। आधिभौतिक ज्ञान के क्षेत्र में भी जो सब महान् सत्य मानव-हृदय में परिस्फुरित हुए हैं, अनुसन्धान करने पर पता चलता है कि वे सब सहसा उद्भूत दीप्ति की भाँति मनीषियों के मन में उदित हुए हैं, जंगली असभ्य मनुष्यों के मन में नहीं। इसीसे यह सिद्ध हो जाता है कि आलोचना, विद्या-चर्चा एवं मनन-रूप कठोर तपस्या ही उसका कारण है।

अलौकिकत्व-रूप जो सब अद्भुत विकास है, चिरोपार्जित लौकिक चेष्टा ही उसका कारण है; लौकिक और अलौकिक में भेद केवल प्रकाश के तारतम्य में है।

महापुरुषत्व, ऋषित्व, अवतारत्व या लौकिक विद्या में शूरत्व सभी जीवों में विद्यमान है। उपयुक्त गवेषणा एवं समयानुकूल परिस्थिति के प्रभाव से यह पूर्णता प्रकट हो जाती है। जिस समाज में इस प्रकार के पुरुषसिंहों का एक बार आविर्भाव हो गया है, वहाँ पुनः मनीषियों का अभ्युत्थान अधिक सम्भव है। जो समाज गुरु द्वारा प्रेरित है, वह अधिक वेग से उन्नति के पथ पर अग्रसर होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं; किन्तु जो समाज गुरुविहीन है, उसमें भी समय की गति के साथ गुरु का उदय तथा ज्ञान का विकास होना उतना ही निश्चित है।[1]

१. 'ज्ञानार्जन' का मूल बंगला है। स०

पेरिस प्रदर्शनी[1]

कई दिन तक पेरिस प्रदर्शनी में 'कांग्रे दे लिस्तोयार दि रिलिजिओ' अर्थात् धर्मेतिहास नामक सभा का अधिवेशन हुआ। उस सभा मे अध्यात्म विषयक एवं मतागत सम्बन्धी किसी भी प्रकार की चर्चा के लिए स्थान न था; केवल विभिन्न धर्मों का इतिहास अर्थात् उनके अगों का तथ्यानुसन्धान ही उसका उद्देश्य था। अतः इस सभा मे विभिन्न धर्मप्रचारक सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों का पूर्ण अभाव था। शिकागो महासभा एक विराट् चीज थी। अतः उस सभा में विभिन्न देशों की धर्मप्रचारक-मण्डलियों के प्रतिनिधि उपस्थित थे, पर पेरिस की इस सभा में केवल वे ही पण्डित आये थे, जो भिन्न भिन्न धर्मों की उत्पत्ति के विषय में आलोचना किया करते हैं। शिकागो धर्म-महासभा में रोमन कैथोलिकों का प्रभाव विशेष था और उन्होंने अपने सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा के लिए बड़ी आशा से उसका संचालन किया था। उन्हें आशा थी कि वे बिना विशेष विरोध का सामना किये ही प्रोटेस्टेण्टों पर अपना प्रभाव एवं अधिकार जमा लेंगे। उसी प्रकार समग्र ईसाई जगत्—हिन्दू, बौद्ध, मुसलमान तथा संसार के अन्य धर्म-प्रतिनिधियों के समक्ष अपनी गौरव-घोषणा कर और सर्वसाधारण के सम्मुख अन्य सब धर्मों की बुराइयाँ दर्शाकर उन्होंने अपने सम्प्रदाय को सुदृढ़ रूप से प्रतिष्ठित करने का निश्चय किया था। पर परिणाम कुछ और ही हो जाने के कारण ईसाई जगत् सर्वधर्मसमन्वय के सम्बन्ध में बिल्कुल हताश हो गया है। इसलिए रोमन कैथोलिक अब दुबारा इस प्रकार की धर्मसभा दुहराने के विशेष विरोधी हैं। फ्रांस देश कैथोलिक-प्रधान है, अतः यद्यपि अधिकारियों की यथेष्ट इच्छा थी कि यह सभा धर्मसभा हो, पर समग्र कैथोलिक जगत् के विरोध के कारण यह धर्मसभा न हो सकी।

जिस प्रकार समय समय पर कांग्रेस ऑफ़ ओरियेण्टलिस्ट अर्थात् संस्कृत, पाली और अरबी इत्यादि भाषाविज्ञ विद्वानों की सभा हुआ करती है, वैसी ही पेरिस की यह धर्मसभा भी थी, इसमें केवल ईसाई धर्म का पुरातत्त्व और जोड़ दिया गया था।

---

१. पेरिस प्रदर्शनी में अपने भाषण का विवरण स्वामी जी ने स्वयं बंगला में लिखकर 'उद्बोधन' पत्र के लिए भेजा था। स०

जम्बूद्वीप से केवल दो-तीन जापानी पण्डित आये थे। भारत से स्वामी विवेकानन्द उपस्थित थे।

अनेक पाश्चात्य संस्कृतज्ञों का यही मत है कि वैदिक धर्म की उत्पत्ति अग्नि-सूर्यादि प्राकृतिक आश्चर्यजनक जड़ वस्तुओं की उपासना से हुई है।

उक्त मत का खंडन करने के लिए स्वामी विवेकानन्द पेरिस धर्मेतिहास-सभा द्वारा निमन्त्रित हुए थे और उन्होंने उक्त विषय पर एक लेख पढ़ने के लिए अपनी सम्मति दी थी। किन्तु अत्यधिक शारीरिक अस्वस्थता के कारण वे लेख नहीं लिख सके थे; किसी प्रकार सभा में वे उपस्थित मात्र हो गये थे। स्वामी जी के वहाँ पर पदार्पण करते ही यूरोप के समस्त संस्कृतज्ञ पण्डितों ने उनका सादर प्रेम-पूर्वक स्वागत किया। इस भेंट के पहले ही वे लोग स्वामी जी द्वारा रचित पुस्तकों को पढ़ चुके थे।

उस समय उक्त सभा में ओपर्ट नामक एक जर्मन पण्डित ने शालग्राम-शिला की उत्पत्ति के विषय में एक लेख पढ़ा था। उसमें उन्होंने शालग्राम की उत्पत्ति 'योनि' चिह्न के रूप में निर्धारित की थी। उनके मतानुसार शिवलिंग पुरुष-लिंग का चिह्न है एवं उसी प्रकार शालग्राम शिला स्त्री-लिंग का प्रतीक है; शिवलिंग एवं शालग्राम दोनों ही लिंग-योनि पूजा के अंग हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने उपर्युक्त दोनों मतों का खण्डन किया और कहा कि यद्यपि शिवलिंग को नरलिंग कहने का अविवेकपूर्ण मत प्रचलित है, किन्तु शालग्राम के सम्वन्ध में यह नवीन मत तो नितान्त आकस्मिक एवं आश्चर्यजनक है।

स्वामी जी ने कहा कि शिवलिंग-पूजा की उत्पत्ति अथर्ववेद सहिता के 'यूप-स्तम्भ' के प्रसिद्ध स्तोत्र से हुई है। उस स्तोत्र में अनादि अनन्त स्तम्भ का अथवा स्कम्भ का वर्णन है; एवं यह स्कम्भ ही ब्रह्म है—ऐसा प्रतिपादित किया गया है। जिस प्रकार यज्ञ की अग्नि, शिखा, धूम, भस्म, सोमलता एवं यज्ञ-काष्ठ के वाहक वृष की परिणति महादेव की पिंगल जटा, नीलकंठ, अंगकान्ति एवं वाहनादि में हुई है, उसी प्रकार यूपस्कम्भ भी श्री शंकर में लीन होकर महिमान्वित हुआ है। अथर्ववेद संहिता में उसी प्रकार यज्ञ का उच्छिष्ट भी ब्रह्मत्व की महिमा के रूप में प्रतिपादित हुआ है।

लिंगादि पुराण में उक्त स्तोत्र का ही कथानक के रूप में वर्णन करके महास्तम्भ की महिमा एवं श्री शंकर के प्राधान्य की व्याख्या की गयी है।

फिर, एक और वात भी विचारणीय है। वौद्ध लोग श्री वुद्ध की स्मृति में स्मारक-स्तूपों का निर्माण किया करते थे, और जो लोग निर्धन होने के कारण वड़े वड़े स्मारक-स्तूपों का निर्माण नहीं कर सकते थे, वे स्तूप की एक छोटी सी प्रतिमा

भेंट करके श्री बुद्ध के प्रति अपनी श्रद्धा प्रदर्शित किया करते थे। इस प्रकार के उदाहरण आज भी काशी के मन्दिरों एवं भारत के अन्य तीर्थस्थानों में दीख पड़ते हैं, जहाँ पर लोग बड़े बड़े मन्दिरों का निर्माण करने में असमर्थ होकर मन्दिर की एक छोटी सी प्रतिमा ही निवेदित किया करते हैं। अतः, यह बिल्कुल सम्भव है कि बौद्धों के प्रादुर्भाव काल में धनवान हिन्दू लोग बौद्धों के समान उनके स्कम्भ की आकृतिवाला स्मारक निर्मित किया करते थे एवं निर्धन लोग अर्थाभाव के कारण छोटे पैमाने पर उनका अनुकरण करते थे; और फिर बाद में निर्धनो द्वारा भेंट की गयी वे छोटी छोटी प्रतिमाएँ उस स्कम्भ में अर्पित कर दी गयी।

बौद्ध-स्तूप का दूसरा नाम धातुगर्भ है। स्तूप के बीच शिलाखण्ड मे प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षुओं की भस्मादि वस्तुएँ सुरक्षित रखी जाती थी। उन वस्तुओं के साथ स्वर्ण इत्यादि अन्य धातुएँ भी रखी जाती थीं। शालग्राम-शिला उक्त अस्थि एवं भस्मादिरक्षक शिला का प्राकृतिक प्रतिरूप है। इस प्रकार, पहले बौद्धों द्वारा पूजित होकर, बौद्ध धर्म के अन्य अंगों की तरह वैष्णव सम्प्रदाय में इसका प्रवेश हुआ। नर्मदा नदी के किनारे तथा नेपाल में बौद्धों का प्रभाव दीर्घ काल तक स्थायी था। यहाँ यह बात भी विशेष ध्यान देने योग्य है कि प्राकृतिक नर्मदेश्वर शिवलिंग एवं नेपाल के शालग्राम ही विशेष रूप से पूज्य हैं।

शालग्राम के विषय में यौन-व्याख्या एक अत्यन्त अनहोनी बात है तथा पहले ही अप्रासंगिक है। शिवलिंग के बारे में यौन-व्याख्या अति आधुनिक है तथा उसकी उत्पत्ति भारत में उक्त बौद्ध सम्प्रदाय की घोर अवनति के समय ही हुई। उस समय के समस्त घृणास्पद बौद्धतन्त्र अब भी नेपाल और तिब्बत में बहुत प्रचलित हैं।

एक दूसरा भाषण स्वामी जी ने भारतीय धर्म के विस्तार के विषय में दिया। उसमें स्वामी जी ने यह बतलाया कि भारतखण्ड में बौद्ध इत्यादि जो विभिन्न धर्म हुए, उन सबकी उत्पत्ति वेद में ही है। समस्त धर्ममतों का बीज उसीमें निहित है। उन सब बीजों को प्रस्फुटित तथा विस्तृत करके बौद्ध इत्यादि धर्मों की सृष्टि हुई है। आधुनिक हिन्दू धर्म भी उन बीजों का ही विस्तार है,—और वे समाज के विस्तार या संकोच के साथ विस्तृत अथवा कहीं कही अपेक्षाकृत सकुचित होकर विद्यमान हैं। उसके बाद स्वामी जी ने बुद्धदेव से पहले श्री कृष्ण के आविर्भाव के सम्बन्ध में कुछ कहकर पाश्चात्य पण्डितों को यह बतलाया कि जिस प्रकार विष्णु-पुराण में वर्णित राजकुलों का इतिहास क्रमशः पुरातत्त्व के उद्घाटनों के साथ साथ प्रमाणित हो रहा है, उसी प्रकार भारत की समस्त कथाएँ भी सत्य हैं। उन्होंने यह कहा कि वे वृथा कल्पनापूर्ण लेख लिखने की अपेक्षा उन कथाओं का रहस्य

जानने की चेष्टा करें। पण्डित मैक्स मूलर ने एक पुस्तक में लिखा है कि कितना ही पारस्परिक सादृश्य क्यों न हो, पर जब तक यह प्रमाण नहीं मिलता कि कोई ग्रीक संस्कृत भाषा जानता था, तब तक यह सिद्ध नहीं होगा कि भारत की सहायता प्राचीन ग्रीस (यूनान देश) को मिली थी। किन्तु कतिपय पाश्चात्य विद्वान् भारतीय ज्योतिषशास्त्र के कई पारिभाषिक शब्दों के साथ ग्रीक ज्योतिष के शब्दों का सादृश्य देखकर एवं यह जानकर कि यूनानियों ने भारत में एक छोटा सा राज्य स्थापित किया था, कहते हैं कि भारत को साहित्य, ज्योतिष, गणित आदि समस्त विद्याओं में यूनानियों की सहायता प्राप्त हुई है। और केवल यही नहीं, एक साहसी लेखक ने तो यहाँ तक लिखा है कि समस्त भारतीय विद्या यूनानी विद्या का ही प्रतिबिम्ब है!

म्लेच्छा वै यवनास्तेषु एषा विद्या प्रतिष्ठिता।
ऋषिवत् तेऽपि पूज्यन्ते ॥[1]

इस एक श्लोक पर पाश्चात्य विद्वानों ने कितनी ही कल्पनाएँ की हैं! पर इस श्लोक से यह किस प्रकार सिद्ध हुआ कि आर्यो ने म्लेच्छों के निकट शिक्षा प्राप्त की थी? यह भी कहा जा सकता है कि उक्त श्लोक में आर्य आचार्यो के म्लेच्छ शिष्यों को उत्साहित करने के लिए विद्या के प्रति समादर प्रदर्शित किया गया है।

द्वितीयत:, **गृहे चेत् मधु विन्देत, किमर्थं पर्वतं व्रजेत्।**[2] आर्यो की प्रत्येक विद्या का बीज वेद में विद्यमान है एवं उक्त किसी भी विद्या की प्रत्येक संज्ञा वेद से आरम्भ करके वर्तमान समय के ग्रन्थों में भी दिखायी जा सकती है। फिर इस अप्रासंगिक यूनानी आधिपत्य की क्या आवश्यकता है?

तृतीयत:, आर्य ज्योतिष का प्रत्येक ग्रीक सदृश शब्द संस्कृत से सहज में ही व्युत्पन्न होता है, प्रत्यक्ष विद्यमान सहज व्युत्पत्ति को छोड़कर यूनानी व्युत्पत्ति को ग्रहण करने का पाश्चात्य पण्डितों को क्या अधिकार है, यह स्वामी जी नहीं समझ सके।

इसी प्रकार कालिदास इत्यादि कवियों के नाटकों में 'यवनिका' शब्द का उल्लेख देखकर, यदि उस समय के समस्त काव्य-नाटकों पर यूनानियों का प्रभाव

---

१. यवन या म्लेच्छ लोगों में यह विद्या प्रतिष्ठित है; अतः वे भी ऋषिवत् पूज्य हैं।

२. यदि घर में ही मधु मिल जाय, तो पहाड़ में जाने की क्या आवश्यकता?

सिद्ध कर दिया जाय, तो फिर सर्वप्रथम विचारणीय बात यह है कि आर्य नाटक ग्रीक नाटकों के सदृश हैं या नहीं। जिन्होंने दोनों भाषाओं में नाटक-रचना-प्रणाली की आलोचना की है, वे केवल यही कहेंगे कि उस प्रकार का सादृश्य केवल नाटककार के कल्पना-जगत् मात्र में ही है, वास्तविक जगत् में उसका किसी भी काल में अस्तित्व नहीं है। वह ग्रीक कोरस कहाँ है? वह ग्रीक यवनिका नाट्यमंच के एक तरफ़ है, पर आर्य नाटक में ठीक उसकी विपरीत दिशा में। उनकी रचना-प्रणाली एक प्रकार की है, आर्य नाटकों की दूसरे प्रकार की।

आर्य नाटकों का ग्रीक नाटकों के साथ सादृश्य बिल्कुल है ही नहीं। हाँ, शेक्सपियर के नाटकों के साथ उनका सामंजस्य कहीं अधिक है।

अतएव एक सिद्धान्त इस प्रकार का भी हो सकता है कि शेक्सपियर सब विषयों में कालिदास इत्यादि कवियों के निकट ऋणी हैं एवं समस्त पाश्चात्य साहित्य भारतीय साहित्य की छाया मात्र है।

अन्त में पण्डित मैक्स मूलर की आपत्ति का प्रयोग उलटे उन्हीं पर करके यह भी कहा जा सकता है कि जब तक यह सिद्ध नहीं होता कि किसी भी हिन्दू ने किसी भी काल में ग्रीक भाषा का ज्ञान प्राप्त किया था, तब तक भारत पर ग्रीक के प्रभाव की चर्चा करना भी उचित नहीं है।

उसी तरह आर्य शिल्पकला में भी ग्रीक प्रभाव दिखलाना भ्रम है।

स्वामी जी ने यह भी कहा कि श्री कृष्ण की आराधना बुद्ध की अपेक्षा अधिक प्राचीन है और यदि गीता महाभारत का समकालीन ग्रन्थ नहीं है, तो उसकी अपेक्षा निश्चय ही बहुत प्राचीन है—उससे नवीन नहीं। गीता एवं महाभारत की भाषा एक समान है। गीता में जिन विशेषणों का प्रयोग अध्यात्म विषय में हुआ है, उनमें से अनेक वनादि पर्व में वैषयिक सम्बन्ध में प्रयुक्त हुए हैं। स्पष्ट है कि इन सब शब्दों का प्रचार अत्यधिक रहा होगा। फिर, समस्त महाभारत तथा गीता का मत एक ही है; और जब गीता ने उस समय के सभी सम्प्रदायों की आलोचना की है, तो फिर केवल बौद्धों का ही उल्लेख क्यों नहीं किया?

बुद्ध के उपरान्त, विशेष प्रयत्न करके भी बौद्धों का उल्लेख किसी भी ग्रन्थ में से हटाया नहीं जा सका। कहानी, इतिहास, कथा अथवा व्यंगों में कहीं न कहीं बौद्ध मत का या बुद्ध का उल्लेख प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में अवश्य ही हुआ है,—गीता में क्या कोई ऐसा वर्णन दिखला सकता है? फिर, गीता एक धर्मसमन्वय ग्रन्थ है, इसमें किसी भी सम्प्रदाय का अनादर नहीं है; तो फिर उस ग्रन्थकार के आदरपूर्ण शब्दों से एक बौद्ध मत ही क्यों वंचित रहा—इसका कारण समझाने की ज़िम्मेदारी किस पर है?

गीता में किसीके भी प्रति उपेक्षा नहीं है। भय ?—इसका भी नितान्त अभाव है। जो भगवान् वेद-प्रचारक होकर भी वैदिक हठकारिता पर कठिन भाषा का प्रयोग करने में नही हिचकिचाये, उनका बौद्ध मत से डरने का क्या कारण हो सकता है?

पाश्चात्य पण्डित जिस प्रकार ग्रीक भाषा के एक एक ग्रन्थ पर अपना समस्त जीवन व्यतीत कर देते हैं, उसी प्रकार किसी प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ पर तो भला अपना जीवन उत्सर्ग करें; संसार में बहुत प्रकाश हो जायगा। विशेषतः, यह महाभारत भारतीय इतिहास का अमूल्य ग्रन्थ है। यह अतिशयोक्ति नहीं है कि अभी तक इस सर्वप्रधान ग्रन्थ का पाश्चात्य संसार में अच्छी तरह से अध्ययन हीं नहीं किया गया।

स्वामी जी के इस भाषण के बाद बहुत से व्यक्तियों ने अपनी अपनी राय प्रकट की। बहुत से लोगों ने कहा कि स्वामी जी जो कह रहे हैं, उसका अधिकांश हमारी राय से मिलता है और हम स्वामी जी से यह कहते हैं कि संस्कृत पुरातत्व का अब वह समय नही रह गया। आधुनिक संस्कृतज्ञ सम्प्रदाय के लोगों की राय अधिकांश स्वामी जी के सदृश ही है तथा भारत की कथाओं एवं पुराणादि में भी सच्चा इतिहास है, इस पर भी हम विश्वास करते हैं।

अन्त में वृद्ध सभापति महोदय ने अन्य सब विषयों का अनुमोदन करते हुए केवल गीता और महाभारत के समकालीन होने में अपना विरोध प्रकट किया। किन्तु उन्होंने प्रमाण केवल इतना ही दिया कि अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार गीता महाभारत का अंग नही है।

इस अधिवेशन की लिपि-पुस्तक में उक्त भाषण का सारांश फ्रेंच भाषा में मुद्रित होगा।

बंगला भाषा[1]

हमारे देश में प्राचीन काल से सभी विद्याओं के संस्कृत में ही विद्यमान रहने के कारण, विद्वानों तथा सर्वसाधारण के वीच एक अगाध समुद्र सा वना रहा है। बुद्ध के समय से लेकर श्री चैतन्य एवं श्री रामकृष्ण तक जो जो महापुरुष लोक-कल्याण के लिए अवतीर्ण हुए, उन सबने सर्वसाधारण की भाषा में जनता को उपदेश दिया है। पाण्डित्य अवश्य उत्तम है, परन्तु क्या पाण्डित्य का प्रदर्शन जटिल, अप्राकृतिक तथा कल्पित भाषा को छोड़ और किसी भाषा में नहीं हो सकता? वोलचाल की भाषा में क्या कलात्मक निपुणता नहीं प्रदर्शित की जा सकती? स्वाभाविक भाषा को छोड़कर एक अस्वाभाविक भापा को तैयार करने से क्या लाभ? घर में जिस भाषा में हम वातचीत करते है, उसीमें मन ही मन समस्त पाण्डित्य की गवेषणा भी करते हैं; तो फिर लिखने के समय ही हम जटिल भाषा का प्रयोग क्यों करने लगते हैं? जिस भाषा में तुम अपने मन में दर्शन या विज्ञान के बारे में सोचते हो, आपस में कथा-वार्ता करते हो, उसी भाषा में क्या दर्शन या विज्ञान नहीं लिखा जा सकता! यदि कहो, नही, तो फिर उस भाषा में तुम अपने मन में अथवा कुछ व्यक्तियों के साथ उन सव तत्त्वों पर विचार-परामर्श किस प्रकार करते हो? स्वाभाविक तौर पर जिस भाषा में हम अपने मन के विचारों को प्रकट करते हैं, जिस भाषा में हम अपना क्रोध, दु:ख एवं प्रेम इत्यादि प्रदर्शित करते हैं, उससे अधिक उपयुक्त भाषा और कौन हो सकती है! अत: हमें उसी भाव को, उसी शैली को वनाये रखना होगा। उस भाषा में जितनी शक्ति है, थोड़े से शब्दों में उसमें जिस प्रकार अनेक विचार प्रकट हो सकते हैं तथा उसे जैसे चाहो, घुमाया-फिराया जा सकता है, वैसे गुण किसी कृत्रिम भाषा में कदापि नहीं आ सकते। भाषा को ऐसी वनाना होगा—मानो शुद्ध इसपात, उसे जैसा चाहो मरोड़ लो, पर फिर से जैसे का तैसा; कहो तो एक चोट में ही पत्थर काट दे, लेकिन दाँत न टूटें। हमारी भाषा संस्कृत के समान बड़े बड़े निरर्थक शब्दों का प्रयोग करते करते तथा उसके आडम्बर की—और

---

१. श्री रामकृष्ण मठ द्वारा संचालित 'उद्बोधन' पत्र के सम्पादक को स्वामी जी द्वारा २० फ़रवरी, १९०० ई० को लिखे गये वंगला पत्र का अनुवाद। स०

केवल उसके इसी एक पहलू को—नक़ल करते करते अस्वाभाविक होती जा रही है। भाषा ही तो जाति की उन्नति का प्रधान लक्षण एवं उपाय है।

यदि यह कहो कि यह बात ठीक है, पर बंग देश में तो जगह जगह पर भाषा में बहुत हेर-फेर है, अतः कौन सी भाषा ग्रहण करनी चाहिए?—तो इसका उत्तर यह है कि प्राकृतिक नियमानुसार जो भाषा शक्तिशाली है तथा जिसका अधिक प्रचार है, उसीको अपनाना होगा। उदाहरणार्थ, कलकत्ते की ही भाषा को ले लो। पूर्व, पश्चिम किसी भी जगह से कोई आकर कलकत्ते के वातावरण में रहे, तो देखोगे कि कुछ ही दिनों में वह कलकत्ते की भाषा बोलने लगेगा। अतएव प्रकृति स्वयं ही यह दिखला देती है कि कौन सी भाषा लिखनी होगी। रेल तथा यातायात की जितनी अधिक सुविधा होगी, उतना ही पूर्व-पश्चिम का भेद दूर हो जायगा तथा चिटगाँव से लेकर वैद्यनाथ तक सभी लोग कलकत्ते की भाषा का प्रयोग करने लगेंगे। यह न देखो कि किस ज़िले की भाषा संस्कृत के अधिक निकट है, वरन् यह देखो कि कौन सी भाषा अधिक प्रचलित हो रही है। जब यह स्पष्ट है कि कलकत्ते की भाषा ही थोड़े दिनों में समस्त बंगाल की भाषा बन जायगी, तो फिर यदि पुस्तकों की और घरेलू बोलचाल की भाषा को एक बनाना हो, तो ऐसी दशा में समझदार व्यक्ति निश्चय ही कलकत्ते की भाषा को आधार-स्वरूप मानकर ग्रहण करेगा। यहाँ पर ग्राम्यगत ईर्ष्या-प्रतिद्वन्द्विता आदि को भी सदा के लिए नष्ट कर देना होगा। पूरे देश के कल्याण के लिए तुम्हें अपने गाँव अथवा ज़िले की प्रधानता को भूल जाना होगा।

भाषा विचारों की वाहक है। भाव ही प्रधान है, भाषा गौण है। हीरे और मोती से सुसज्जित घोड़े पर एक बन्दर को बैठाना क्या शोभा देता है? संस्कृत की ओर देखो। ब्राह्मणों की संस्कृत देखो, शबरस्वामी का मीमांसा-भाष्य देखो, पतंजलि का महाभाष्य देखो, फिर शंकर का मायाभाष्य देखो, और दूसरी ओर आधुनिक काल की संस्कृत देखो।—इसीसे तुम समझ सकोगे कि मनुष्य जब जीवित रहता है, तब उसकी भाषा भी जीवनप्रद होती है, और जब वह मृत्यु की ओर अग्रसर होता है, तब उसकी भाषा भी प्राणहीन होती जाती है। मृत्यु जितनी समीप आती है, नूतन विचार-शक्ति का जितना क्षय होता है, उतना ही, दो-एक सड़े भावों को फूलों के ढेर तथा चन्दनों से लादकर सुन्दर बनाने की चेष्टा की जाती है। बाप रे बाप, कैसी धूम है! दस पृष्ठ लम्बे लम्बे विशेषणों के बाद फिर कहीं आता है—**राजा आसीत**! कैसे विकट विशेषणों की भरमार है! कैसा अद्भुत बहादुर समास! कैसा सुन्दर श्लेष!—यह भी किसी भाषा में भाषा है? ये तो सब मृत भाषा के लक्षण हैं। ज्यों ही देश की

अवनति आरम्भ हुई कि ये सब चिह्न उदित हो गये, और ये केवल भाषा में ही नहीं, वरन् समस्त शिल्प-कलाओं में भी प्रकट हो गये। मकान बनाया गया— उसमें न कुछ ढंग था, न रूप-रंग; केवल खम्भों को कुरेद कुरेदकर नष्ट कर दिया गया। और गहना क्या पहनाया, सारे शरीर को छेद छेदकर एक अच्छी खासी ब्रह्मराक्षसी बना डाली, और इधर देखो, तो गहनों में नक्क़ाशी बेल-बूटों की भरमार का पूछना ही क्या!! गाना हो रहा है या रोना या झगड़ा—गाने में भाव क्या है, उद्देश्य क्या है—यह तो साक्षात् वीणापाणि भी शायद न समझ सकें; और फिर उस गाने में आलापों की भरमार का तो पूछना ही क्या! ओफ़! और वे चिल्लाते भी कैसे हैं—मानो कोई शरीर से अँतड़ियाँ खींच ले रहा हो! फिर उसके ऊपर मुसलमान उस्तादों की नक़ल करने का—उन्हींके समान दाँत पर दाँत चढ़ाकर नाक से आवाज़ निकालने का—भूत भी समाया हुआ है! आजकल इन सब बातों को सुधारने के उपक्रम दीख पड़ रहे हैं। अब लोग धीरे धीरे समझेंगे कि वह भाषा, वह शिल्प तथा वह संगीत, जो भावहीन है, प्राणहीन है, किसी भी काम का नहीं। अब लोग समझेंगे कि जातीय जीवन में ज्यों ज्यों स्फूर्ति आती जायगी, त्यों त्यों भाषा, शिल्प, संगीत इत्यादि आप ही आप भावमय एवं प्राणपूर्ण होते जायँगे; प्रचलित दो शब्दों से जितनी भावराशि प्रकट होगी, वह दो हज़ार छँटे हुए विशेषणों में भी न मिलेगी। तब देवता की मूर्ति को देखने से ही भक्तिभाव का उद्रेक होगा, आभूषणों से सज्जित नारियों को देखते ही देवी का बोध होगा एवं घर-द्वार-सम्पत्ति सभी कुछ प्राण-स्पन्दन से डगमग करने लगेंगी।

रचनानुवाद : पद्य-२
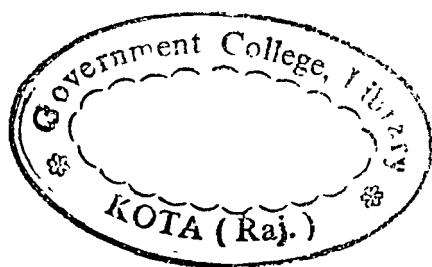
संन्यासी का गीत[1]

छेड़ो हे वह गान, अनंतोद्‌भव अवन्य वह गान,
विश्व-ताप से शून्य गह्वरों में गिरि के अम्लान
निभृत अरण्य प्रदेशों में जिसका शुचि जन्मस्थान,
जिनकी शांति न कनक काम-यश-लिप्सा का निःश्वास
भंग कर सका, जहाँ प्रवाहित सत् चित् की अविलास
स्रोतस्विनी, उमड़ता जिसमें वह आनन्द अयास,
गाओ, बढ़ वह गान, वीर संन्यासी, गूंजे व्योम,
ओम् तत्सत् ओम् !

तोड़ो सब शृंखला, उन्हें निज जीवन-बन्धन जान,
हों उज्ज्वल कांचन के अथवा क्षुद्र धातु के म्लान,
प्रेम-घृणा, सद्-असद्, सभी ये द्वन्द्वों के संधान !
दास सदा ही दास, समादृत वा ताड़ित—परतंत्र,
स्वर्ण निगड होने से क्या वे सुदृढ़ न बंधन-यंत्र ?
अतः उन्हें संन्यासी तोड़ो, छिन्न करो, गा यह मंत्र,
ओम् तत्सत् ओम् !

अंधकार हो दूर, ज्योति-छल जल-बुझ बारंबार,
दृष्टि भ्रमित करता, तह पर तह मोह तमस् विस्तार !
मिटे अजस्र तृषा जीवन की, जो आवागम द्वार,
जन्म-मृत्यु के बीच खींचती आत्मा को अनजान,
विश्वजयी वह आत्मजयी जो, मानो इसे प्रमाण,
अविचल अतः रहो संन्यासी, गाओ निर्भय गान,
ओम् तत्सत् ओम् !

'बोओगे पाओगे,' निश्चित कारण-कार्य-विधान !
कहते, 'शुभ का शुभ औ' अशुभ अशुभ का फल,' धीमान्
दुर्निवार यह नियम, जीव के नाम-रूप परिवान

---

१. थाउज़ेंड आइलैंड पार्क, न्यूयार्क में, जुलाई, १८९५ में रचित ।

बंधन हैं, सच है, पर दोनों नाम-रूप के पार
नित्य मुक्त आत्मा करती है बंधनहीन विहार!
तुम वह आत्मा हो संन्यासी, बोलो वीर उदार,
ओम् तत्सत् ओम्!

ज्ञानशून्य वे, जिन्हें सूझते स्वप्न सदा निःसार—
माता, पिता, पुत्र औ' भार्या, बांधव-जन, परिवार!
लिंगमुक्त है आत्मा! किसका पिता, पुत्र या दार?
किसका शत्रु, मित्र वह; जो है एक अभिन्न अनन्य,
उसी सर्वगत आत्मा का अस्तित्व, नहीं है अन्य!
कहो 'तत्त्वमसि' संन्यासी, गाओ हे, जग हो धन्य,
ओम् तत्सत् ओम्!

एकमात्र है केवल आत्मा, ज्ञाता, चिर निर्मुक्त,
नामहीन वह रूपहीन, वह है रे चिह्न अयुक्त,
उसके आश्रित माया, रचती स्वप्नों का भवपाश,
साक्षी वह, जो पुरुष प्रकृति में पाता नित्य प्रकाश!
तुम वह हो, बोलो संन्यासी, छिन्न करो तम-तोम,
ओम् तत्सत् ओम्!

कहाँ खोजते उसे सखे, इस ओर कि या उस पार?
मुक्ति नहीं है यहाँ, वृथा सब शास्त्र, देव-गृहद्वार!
व्यर्थ यत्न सब, तुम्हीं हाथ में पकड़े हो वह पाश
खींच रहा जो साथ तुम्हें! तो उठो, बनो न हताश,
छोड़ो कर से दाम, कहो, संन्यासी, विहँस रोम,
ओम् तत्सत् ओम्!

कहो, शांत हों सर्व, शांत हों सचराचर, अविराम,
क्षति न उन्हें हो मुझसे, मैं ही सब भूतों का ग्राम,
ऊँच-नीच द्यौ-मर्त्यविहारी, सबका आत्माराम!
त्याज्य लोक-परलोक मुझे, जीवन-तृष्णा, भवबंध,
स्वर्ग-मही-पाताल——सभी आशा-भय, सुख-दुःख-द्वन्द्व!
इस प्रकार काटो बंधन, संन्यासी, रहो अबन्ध,
ओम् तत्सत् ओम्!

देह रहे, जाये, मत सोचो, तन का चिन्ता-भार,
उसका कार्य समाप्त, ले चले उसे कर्मगति धार,

मेरा खेल ख़त्म हुआ[1]

समय की लहरों के साथ,
निरन्तर उठते और गिरते
मैं चला जा रहा हूँ।
ज़िन्दगी के ज्वार-भाटे के साथ साथ
ये क्षणिक दृश्य एक पर एक आते-जाते हैं।

आह, इस अप्रतिहत प्रवाह से
कितनी थकान हो आयी है मुझे,
ये दृश्य बिल्कुल नहीं भाते,
यह अनवरत बहाव और पहुँचना कभी नहीं,
यहाँ तक कि तट की दूर की झलक भी नहीं मिलती!
जन्म-जन्मान्तरों में, उन द्वारों पर व्याकुल प्रतीक्षा की,
किन्तु, हाय, वे नहीं खुले।
प्रकाश की एक किरण भी पाने में असफल ये आँखें
पथरा गयीं।
जीवन के ऊँचे और सँकरे पुल पर खड़े हो
नीचे झाँकता हूँ और देखता हूँ—
संघर्षरत, क्रन्दन करते और अट्टहास करते लोगों को।
किसलिए?
कोई नहीं जानता।
वह सामने देखो—
अन्धकार त्योरी चढ़ाये अड़ा है, और कहता है—
'आगे क़दम न रखो, यही सीमा है,
भाग्य को ललचाओ मत, सहन करो, जितना कर सको।

जाओ, उन्हींमें मिल जाओ
और यह जीवन का प्याला पीकर
उन जैसे ही पागल बन जाओ।

---

१. न्यूयार्क में १८९५ के वसन्त में लिखित।

वहुत देर से उम्र को ज्ञान मिलता है
जब पहिया हमें दूर पटक देता है,
नये स्फूर्त जीवन् अपनी शक्तियाँ इस चक्र को पिला देते हैं,
जो चलता रहता है अनवरत, दिन पर दिन, वर्ष पर वर्ष।
यह केवल है माया का एक खिलौना !
झूठी आशाओं, इच्छाओं और सुख-दुःख के अरों से बना
यह पहिया !

मैं भटका हूँ, पता नहीं, किधर चला जाऊँ,
मुझे इस आग से बचाओ !
रक्षा करो दयामयी माँ ! इन इच्छाओं में बहने से बचाओ।
अपना भयावना रौद्र मुख न दिखाओ माँ !
यह मेरे लिए असह्य है,
मुझ पर कृपा करो, दया करो,
माँ, मेरे अपराधों को सहन करो !

माँ, मुझे उस तट तक पहुँचाओ
जहाँ ये संघर्ष न हों,
इन पीड़ाओं, इन आँसुओं और भौतिक सुखों के परे,
जिस तट की महिमा को
ये रवि, शशि, उडुगन और विद्युत् भी अभिव्यक्ति न देते
महज़ उसके प्रकाश का प्रतिबिंब लिये फिरते हैं।

ओ माँ ! ये मृग-पिपासभरे स्वप्नों के आवरण
तुम्हें देखने से मुझे न रोक सकें,
मेरा खेल खत्म हो रहा है माँ !
ये शृंखला की कड़ियाँ तोड़ो,
मुक्त करो मुझे !

एक रोचक पत्र-व्यवहार

वहन मेरी,
दुःख न मानो,

जो प्रताड़न दिया मैंने।
जानती हो तुम भली विधि
किन्तु फिर भी चाहती हो, मैं कहूँ,
स्नेह करता मैं तुम्हें सम्पूर्ण मन से।

सरल शिशु वे मिले जो भी,
मित्र सर्वोत्तम रहे हैं,
साथ सुख-दुःख में रहेंगे सदा मेरे,
और मैं सव दिन रहूँगा साथ जिनके,
जिसे तुम भी जानती हो।

कीर्ति, यश, स्वर्गीय सुख, जीवन
सभी का त्याग संभव है, वहन!
मिल सकीं यदि वीर निर्भय
वहन चार—
श्रेष्ठ, पावन, अचल, उत्तम!

सर्प अपमानित हुआ, जव काढ़ता फन,
वायु से जव प्रज्वलित होता हुताशन
शब्द मरुस्थल-पवन में प्रतिध्वनित होता
जव कि आहतहृदय मृगपति है गरजता!

मेघ तव निज शक्ति भर
अति वृष्टि करता,
जव कलेजा फाड़कर
विजली तड़पती,
चोट जव लगती किसीकी आत्मा पर
तव महान् हृदय उसे भी झेल जाता
और अपना श्रेष्ठ अभिमत प्रकट करता।

नयन पथराये, हृदय हो शून्य अपना,
छले मैत्री, प्यार हो विश्वासघाती,

भाग्य भी सौ आपदाएँ लाद दे सिर
और बीहड़ तम तुम्हारा रोक ले पथ—

प्रकृति की त्योरियाँ चढ़ें, जैसे अभी वह कुचल देगी,
किन्तु मेरे आत्मन् हे, दिव्य हो तुम,
बढ़ो आगे, और आगे,
नहीं दाँयें और बाँयें तनिक देखो,
दृष्टि हो गन्तव्य पर ही।
देवदूत, मनुज, दनुज भी हूँ नहीं मैं,
देह या मस्तिष्क, नारी या पुरुष भी,
ग्रन्थ केवल मूक, विस्मित
देखते हैं प्रकृति मेरी, किन्तु मैं 'वह' हूँ।

बहुत पहले, बहुत पहले,
जब कि रवि, शशि और उडुगन भी नहीं थे,
इस धरा का भी न था अस्तित्व कोई,
बल्कि यह जब समय भी जन्मा नहीं था,
मैं सदा था, आज भी हूँ, और आगे भी रहूँगा।

धरा सुन्दर, सूर्य महिमावान शशि शीतल मधुर है,
जगमगाता व्योम, ये सब चल रहे हैं।
बँधे जो शाश्वत नियम में—
कार्य-कारण के चिरंतन बन्धनों में
ये रहेंगे, बन्धनों में ही मिटेंगे।
वायवी, स्वप्निल सहज आकर्षणों ने
बुने ताने और बाने—
बँधे-लिपटे चले जाते
धरा, स्वर्ग. नरक तथा सुख-दुःख इन्हींमें।

किन्तु यह जो काल या विस्तार, सीमा,
कार्य-कारण,
इन्द्रियों की चेतनाएँ,

भावना-अनुभूति, सूक्ष्म विचार सारे,
सामने जो भी
उन्हें मैं देखता हूँ—मात्र द्रष्टा सृष्टि का मैं।

तत्त्व केवल एक मैं ही,
है कहीं न अनेक, मैं ही एक,
अतः मुझमें ही सभी 'मुझ' हैं।
मैं स्वयं से घृणा कर सकता नहीं,
मैं स्वयं को त्याग भी सकता नहीं,
प्यार, प्यार ही है मुझे सम्भव!

उठो, जागो स्वप्न से, दो तोड़ बन्धन,
चलो निर्भय,
यह रहस्य, कुहेलिका, छाया डरा सकती न मुझको
क्योंकि मैं ही सत्य, जानो तुम सदा यह!

अस्तु, यहाँ तक मेरी कविता है। आशा करता हूँ कि तुम सकुशल हो। माँ और फ़ादर पोप से मेरा प्यार कहना। मैं मृत्युपर्यन्त व्यस्त हूँ, और मेरे पास प्रायः एक पंक्ति भी लिखने के लिए समय नहीं है। अतः भविष्य में पत्र लिखने में विलम्ब हो, तो क्षमा करना।

सदैव तुम्हारा,
विवेकानन्द

कुमारी एम० बी० एच० ने स्वामी जी के पास निम्नलिखित उत्तर भेजा:

संन्यासी, जिसको स्वामित्व मिला चिन्तन पर
अब कवि भी है,
शब्दों और विचारों में भी काफ़ी आगे,
किन्तु, जिसे ज़्यादा मुश्किल हो गयी छन्द में।

कहीं चरण छोटे हैं, कहीं बढ़ गये सहसा,
कविता के उपयुक्त छन्द
मिल सका न जिसको,

उसने सानेट, गीत आज़माये हैं
और प्रबन्ध लिखा है,
वहुत किया श्रम,
लेकिन, उसे अजीर्ण हो गया।

जब तक रही सनक कविता की,
उस फल-तरकारी से भी परहेज़ किया है
जिसे ल्योन ने, बड़े चाव से, वड़े ख्याल से
था तैयार किया स्वामी के स्वाद-हेतु ही।

एक दिवस, ज्यों ही वह लीन हुआ चिन्तन में
अकस्मात् कोई प्रकाश का पुंज छा गया,
गूँजी कोई शान्त और नन्हीं नन्हीं आवाज़ कहीं पर
जागे स्वामी के महान् स्वर और प्रेरणाप्रद शब्दों से
फूटी ज्वाला, लगी धधकने।

सचमुच रही धधकती ज्वाला,
जो आखिर मेरे सर आयी,
तबसे मैं अनुतप्त हो रही,
जाने किन घड़ियों में पत्र लिखा मैंने,
मुझको अति दुःख है,
और क्षमा पर क्षमा माँगती ही जाती हूँ।

तुमने, हम चारो वहनों को
जो कुछ लिख भेजा, भाई हे।
सदा रहेगा सर-आँखों पर
दिखा दिया है तुमने, उनको जीवन का चिर परम सत्य
यह 'सभी ब्रह्म है!'

फिर स्वामी:

एक वार, प्राचीन समय में,
गंगा-तट पर, एक पुरोहित—

वहुत वृद्ध, सन जैसे वालोंवाले थे, जो
प्रवचन करते हुए लगे समझाने सवको—
कैसे देव धरा पर आये,
कैसे सीता-राम यहाँ अवतरित हुए थे,
कैसे सीता वन में रहीं,
हरण हुआ, रोयीं वियोग में।
खत्म हुई रामायण तो श्रोताओं ने भी
एक एक कर अपने घर को क़दम वढ़ाये,
चिन्तन करते, रामायण सोचते-समझते।

एकाएक भीड़ से कोई
वोला वड़े ज़ोर से,
जो यह पूछ रहा था, नम्र भाव से
और प्रार्थना के ही स्वर में—
कृपा करो, वतला दो वावा,
आखिर, ये सीता-राम कौन थे,
तुमने जिनकी कथा सुनायी और उपदेश किया है।

मेरी हेल, वहन, तुम भी तो
कुछ ऐसे ही,
मेरे उपदेशों, व्याख्यानों, शब्दों-छन्दों
के अजीव से अर्थ लगातीं।

'सव कुछ ब्रह्म, कहा जो मैंने
उसका केवल यही अर्थ है, याद करो तुम—
'केवल ब्रह्म सत्य है और सभी कुछ झूठा,
विश्व स्वप्न है, यद्यपि सत्य दिखायी देता।'
मुझमें भी जो सत्य,
ब्रह्म है, शाश्वत, अविनश्वर, अखण्ड है,
वही सत्य है, मात्र सत्य है।
शाश्वत प्रेम और कृतज्ञता के साथ···

विवेकानन्द

कुमारी एम० बी० एच :

हो गया अब स्पष्ट अन्तर,
आपने जो कहा, वह तो ठीक बिल्कुल,
किन्तु, मेरी बुद्धि सीमित,
पूर्व का दर्शन समझने में मुझे कठिनाइयाँ हैं।

अगर, केवल ब्रह्म ही है सत्य,
मिथ्या है सभी कुछ,
विश्व भी है स्वप्न, भ्रम है,
तो भला, क्या वस्तु, जो है
ब्रह्म के अतिरिक्त ?

वे, 'अनेक' जिन्हें दिखायी दिया करता,
बहुत संशय-भयभरे हैं,
यहाँ जीवित वही है, जो
ब्रह्म को ही देखता हर वस्तु में।

मैं अजानी,
किन्तु, इतना मानती हूँ—
सत्य केवल ब्रह्म,
ब्रह्म में मैं, और
मुझमें ब्रह्म।

फिर स्वामी जी ने उत्तर दिया:

झक्की, तेज़ मिज़ाज, अनोखी,
सुन्दर है वह बाला, बेशक़,
अनुपम आत्मा,
जिसको मिस मेरी कहते हैं।
गहन भावनाएँ हैं जिसकी,
स्वयं प्रकट हो जाती हैं जो,
मुक्त हृदयवाली मिस मेरी,
सचमुच, वह तो ज्वालमयी है।

उसका चिन्तन अद्वितीय है,
वह संगीतमयी,
फिर भी कितनी पैनी है,
ठण्डे मनवाली वह बाला,
नहीं किसीकी सगी, भले ही
आये कोई, हृदय उसे दे, नयन बिछाये।
मेरी बहन, सुना है मैंने
रूपवान व्यक्तित्व तुम्हारा
बहुचर्चित है,
नहीं ठहर पाता है कोई भी सौन्दर्य तुम्हारे आगे।
फिर भी सावधान हो जाओ,
भौतिक बन्धन बहुत मधुर,
फिर भी बन्धन हैं, इनको मत स्वीकारो।

एक नया स्वर गूंजेगा
जब रूप तुम्हारा, गर्वीला व्यक्तित्व तुम्हारा,
कहीं एक जीवन कुचलेगा,
शब्द तुम्हारे टूक टूक कर देंगे मन को—
लेकिन, बहन, बुरा मत मानो,
यह जवाब, जैसे को तैसा,
संन्यासी भाई का यह केवल विनोद है।

अज्ञात देवदूत

(सन् १८९८, नवम्बर में कलकत्ता में लिखित)

१

जीवन के बोझ से जिसके कन्धे झुक गये थे,
घोर दुःखों के घेरे में जिसने सुख न जाना,
जो निर्जन अँधियारी राहों में चलता आया,
हृदय और मस्तिष्क को कहीं प्रकाश की झलक भी न मिली,
एक क्षण हँसने को न मिला,
जो वेदना और सुख, मृत्यु और जीवन, शुभ और अशुभ

में अन्तर न कर सका,
उसने एक शुभ रात्रि में देखा
कि एक प्रकाश-किरण उतरकर
उसके पास आ रही है,
पता नहीं, क्या है, कहाँ से ?
उसने इस प्रकाश को ईश्वर कहा
और उसे पूजा।
आशा, उसके पास एक अजनवी की तरह आयी,
और उसे अनुप्राणित किया,
जीवन ऐसा वन गया कि जिसकी
स्वप्न में भी कभी कल्पना नहीं की,
उसने समझा और
इस विश्व के परे भी देखा।
ऋषियों ने मुसकराकर इसे 'अन्धविश्वास' कहा,
किन्तु, उसने शक्ति और शान्ति का अनुभव किया था,
और नम्रतापूर्वक वोला,
'कितना शुभ है यह अन्धविश्वास।'

२

जिसने वैभव और सत्ता के मद में चूर होकर
स्वास्थ्य के साथ उपभोग किया
और मदान्ध होकर धरती को अपना क्रीड़ाक्षेत्र
और विवश मानव को अपना खिलौना वनाया,
हजारों सुख भोगे,
दिन और रात की चमचमाती रंगीनियाँ देखीं,
एक क्षण ऐसा भी देखा कि
उसकी दृष्टि धूमिल हो चली है,
अघायी हुई इन्द्रियाँ शिथिल हो रही हैं
और स्वार्थ की कठोर विकृत रचना ने
उसके हृदय को ढँक लिया है।
सुख, दुःख की तरह काटने को दौड़ रहा है,
जीवन, जैसे अनुभूति एवं संज्ञाहीन होकर

सड़ते हुए शव की भाँति उसकी वाहों में जकड़ गया है,
जिससे अवश्य ही घृणा है उसे,
किन्तु, जितना ही वह उस विकृत शव से
मुक्त होने का प्रयत्न करता है,
उतना ही वह उससे चिपकता जाता है।
विक्षिप्त मस्तिष्क से उसने मृत्यु के अनेक
स्वरूपों की कल्पना की,
और जीवन के आकर्षण सामने खड़े रहे।
फिर दुःख आया—और सम्पत्ति और वैभव चले गये,
तब पीड़ाओं और आँसुओं के वीच उसे लगा
कि सम्पूर्ण मानव जाति से उसका नाता है,
यद्यपि उसके मित्रों ने उसका उपहास किया।
उसके अधर कृतज्ञ भाव से वुदवुदाये—
'यह दुःख भी कितना शुभ है!'

३

वह, जिसे स्वस्थ काया मिली,
किन्तु, वह संकल्प-शक्ति न मिली,
जो गहन भावनाओं और आवेशों पर विजय पा सके,
फिर भी वह अधिकाधिक दायित्व वहन न कर सका और
सवके लिए भला रहा,
उसने देखा कि वह सुरक्षित है,
जव कि दूसरे, जीवन-सागर की उत्ताल तरंगों में
वचाव का असफल प्रयत्न करते रहे।
फिर वह स्वास्थ्य गया, मस्तिष्क विकृत हुआ
और मन कलुषों में वैसे ही लगा
जैसे सड़ी गली वस्तु पर मक्खियाँ।
भाग्य मुसकराया और उसका पाँव फिसला।
उसकी आँखें खुल गयीं और उसने समझा
कि ये कंकड़-पत्थर और पेड़-पौधे सदैव तद्वत् हैं
क्योंकि ये विधान का अतिक्रमण नहीं करते।
मनुष्य की ही यह शक्ति है कि वह

भाग्य से संघर्ष कर उसे जीत सकता है
और नियम-बन्धनों से ऊपर उठ सकता है।
उसकी वह निष्क्रिय प्रकृति बदली और
उसे जीवन नया नया लगा, व्यापक और व्यापक,
और वह दिन आया कि सामने प्रकाश फूटा
और शाश्वत शान्ति के कक्षों की झलक उसने पायी—
इन संघर्षो के समुद्र को चीरकर ही वह संभव है।
और तब उसने पीछे मुड़कर देखा,
अतीत का अकृतार्थ निष्फल जीवन,
तरु और प्रस्तर सम चेतनाविहीन;
दूसरी ओर उसका स्खलन-पतन—
जिसके लिए संसार ने त्याग दिया उसे;
अब उस पतन को भी उसने धन्य माना।
और वह प्रसन्न हृदय से बोला,
"यह पाप भी कितना शुभ सिद्ध हुआ!!"

धीरज रखो तनिक और हे वीर हृदय[1]!

भले ही तुम्हारा सूर्य बादलों से ढक जाय,
आकाश उदास दिखायी दे,
फिर भी धैर्य धरो कुछ हे वीर हृदय,
तुम्हारी विजय अवश्यंभावी है।

शीत के पहले ही ग्रीष्म आ गया,
लहर का दबाव ही उसे उभारता है
धूप-छाँह का खेल चलने दो
और अटल रहो, वीर बनो!

जीवन में कर्तव्य कठोर हैं,
सुखों के पंख लग गये हैं,
मंज़िल दूर, धुंधली सी झिलमिलाती है,

१. खेतड़ी के महाराज को लिखित।

फिर भी अन्धकार को चीरते हुए बढ़ जाओ,
अपनी पूरी शक्ति और सामर्थ्य के साथ !

कोई कृति खो नहीं सकती और
न कोई संघर्ष व्यर्थ जायगा,
भले ही आशाएँ क्षीण हो जायँ
और शक्तियाँ जवाब दे दें।
हे वीरात्मन्, तुम्हारे उत्तराधिकारी
अवश्य जनमेंगे
और कोई सत्कर्म निष्फल न होगा !

यद्यपि भले और ज्ञानवान कम ही मिलेंगे,
किन्तु, जीवन की बागडोर उन्हींके हाथों में होगी,
यह भीड़ सही बातें देर से समझती है,
तो भी चिन्ता न करो, मार्ग-प्रदर्शन करते जाओ।

तुम्हारा साथ वे देंगे, जो दूरदर्शी हैं,
तुम्हारे साथ शक्तियों का स्वामी है,
आशीषों की वर्षा होगी तुम पर,
ओ महात्मन्,
तुम्हारा सर्वमंगल हो !

'प्रबुद्ध भारत' के प्रति[१]

जागो फिर एक बार !
यह तो केवल निद्रा थी, मृत्यु नहीं थी,
नवजीवन पाने के लिए,
कमल नयनों के विराम के लिए
उन्मुक्त साक्षात्कार के लिए।

---

१. अगस्त १८९८ में 'प्रबुद्ध भारत' (Awakened India) पत्रिका के मद्रास से, स्वामी जी द्वारा स्थापित भ्रातृमण्डल के हाथों में अल्मोड़ा को स्थानांतरित होने के अवसर पर लिखित। स०

एक वार फिर जागो।
आकुल विश्व तुम्हें निहार रहा है
हे सत्य !
तुम अमर हो !

फिर वढ़ो,
कोमल चरण ऐसे धरो
कि एक रज-कण की भी शान्ति भंग न हो
जो सड़क पर, नीचे पड़ा है।
सवल, सुदृढ़, आनन्दमय, निर्भय और मुक्त
जागो, वढ़े चलो और उदात्त स्वर में वोलो !

तेरा घर छूट गया,
जहाँ प्यारभरे हृदयों ने तुम्हारा पोषण किया
और सुख से तुम्हारा विकास देखा,
किन्तु, भाग्य प्रवल है—यही नियम है—
सभी वस्तुएँ उद्‌गम को लौटती हैं, जहाँ से
निकली थीं और नव शक्ति लेकर फिर निकल पड़ती हैं।

नये सिरे से आरम्भ करो,
अपनी जननी-जन्मभूमि से ही,
जहाँ, विशाल मेघराशि से वद्धकटि,
हिमशिखर तुममें नव शक्ति का संचार कर
चमत्कारों की क्षमता देता है,
जहाँ स्वर्गिक सरिताओं का स्वर
तुम्हारे संगीत को अमरत्व प्रदान करता है,
जहाँ देवदारु की शीतल छाया में तुम्हें अपूर्व शान्ति मिलती है।

और सवसे ऊपर,
जहाँ शैल-वाला उमा, कोमल और पावन,
विराजती हैं,
जो सभी प्राणियों की शक्ति और जीवन हैं,

जो सृष्टि के सभी कार्य-व्यापारों के मूल में है,
जिनकी कृपा से सत्य के द्वार खुलते हैं
और जो अनन्त करुणा और प्रेम की मूर्ति हैं;
जो अजस्र शक्ति की स्रोत हैं
और जिनकी अनुकम्पा से सर्वत्र
एक ही सत्ता के दर्शन होते हैं।

तुम्हें उन सबका आशीर्वाद मिला है,
जो महान् द्रष्टा रहे हैं,
जो किसी एक युग अथवा प्रदेश के ही नहीं रहे हैं,
जिन्होंने जाति को जन्म दिया,
सत्य की अनुभूति की,
साहस के साथ भले-बुरे सबको ज्ञान दिया।
हे उनके सेवक,
तुमने उनके एकमात्र रहस्य को पा लिया है।

तब, बोलो, ओ प्यार!
तुम्हारा कोमल और पावन स्वर!
देखो, ये दृश्य कैसे ओझल होते हैं,
ये तह पर तह सपने कैसे उड़ते हैं
और सत्य की महिमामयी आत्मा
किस प्रकार विकीर्ण होती है!

और संसार से कहो—
जागो, उठो, सपनों में मत खोये रहो,
यह सपनों की धरती है, जहाँ कर्म
विचारों की सूत्रहीन मालाएँ गूँथता है,
वे फूल, जो मधुर होते हैं अथवा विषाक्त,
जिनकी न जड़ें हैं, न तने, जो शून्य में उपजते हैं,
जिन्हें सत्य आदि शून्य में ही विलीन कर देता है।
साहसी बनो और सत्य के दर्शन करो,
उससे तादात्म्य स्थापित करो,

छायाभासों को शांत होने दो;
यदि सपने ही देखना चाहो तो
शाश्वत प्रेम और निष्काम सेवाओं के ही सपने देखो!

ओ स्वर्गीय स्वप्न![1]

अच्छा या बुरा, समय बीतता है—
कभी हर्षातिरेक से हृदय गद्‌गद होता है
और कभी दुःखों के सागर लहराने लगते हैं,
यहीं, हम सभी सुख-दुःख से प्रभावित हो
कभी रोते और कभी हँसते हैं।
हम अपने अपने रंग में होते हैं
और ये दृश्य अदल-बदलकर आते रहते हैं—
चाहे सुख चमके या दुःख बरसे।

ओ स्वप्न! ओ स्वर्गीय स्वप्न!
यह कुहर-जाल फैलाकर सब कुछ ढक दो,
इन तीखी रेखाओं को कुछ और मधुर करो
और परुष को ज़रा और कोमल कर दो।

ओ स्वप्न!
केवल तुम्हींमें जादू है,
तुम्हारे स्पर्श से रेगिस्तान उपवन बनकर लहराते हैं,
कड़कती बिजलियों का भीषण घोष
मधुर संगीत में बदल जाता है
और मृत्यु एक सुखद मुक्ति बनकर आती है।

प्रकाश[2]

मैं पीछे मुड़कर देखता हूँ
और आगे भी,

१. १७ अगस्त, १९०० को पेरिस से भगिनी क्रिश्चिन को लिखित।
२. बेलूड़ मठ में लिखित, २६ दिसम्बर, १९००।

और देखता हूँ कि सब ठीक है।
मेरी गहरी से गहरी व्यथाओं में
प्रकाश की आत्मा का निवास है।

जाग्रत देवता[1]

वह, जो तुममें है और तुमसे परे भी,
जो सबके हाथों में बैठकर काम करता है,
जो सबके पैरों में समाया हुआ चलता है,
जो तुम सबके घट में व्याप्त है,
उसीकी आराधना करो और
अन्य प्रतिमाओं को तोड़ दो!

जो एक साथ ही ऊँचे पर और नीचे भी है;
पापी और महात्मा, ईश्वर और निकृष्ट कीट,
एक साथ ही है,
उसीका पूजन करो—
जो दृश्यमान है,
ज्ञेय है,
सत्य है,
सर्वव्यापी है,
अन्य सभी प्रतिमाओं को तोड़ दो!

जो अतीत जीवन से मुक्त,
भविष्य के जन्म-मरणों से परे है,
जिसमें हमारी स्थिति है
और जिसमें हम सदा स्थित रहेंगे,
उसीकी आराधना करो,
अन्य सभी प्रतिमाओं को तोड़ दो!

ओ विमूढ़! जाग्रत देवता की उपेक्षा मत करो,

---

१. अल्मोड़े से एक अमेरिकन मित्र को लिखित, जुलाई ९, १८९७ ई०।

उसके अनन्त प्रतिविम्वों से ही यह विश्व पूर्ण है।

काल्पनिक छायाओं के पीछे मत भागो,
जो तुम्हें विग्रहों में डालती हैं;
उस परम प्रभु की उपासना करो,
जिसे सामने देख रहे हो;
अन्य सभी प्रतिमाएँ तोड़ दो!

अकालकुसुमित वायलेट के प्रति[1]

चाहे हिमाच्छित धरा तेरी शय्या हो,
ठिठुरती हुई सर्द आँधी हो तेरा कंचुक
चाहे विना उल्लासित करनेवाले साथी के, एकाकी ही चलना हो,
तेरा आकाश घनाच्छादित हो जाये,

और, प्यार स्वयं धोखा दे जाये,
तुम्हारी सुरभि व्यर्थ बिखर जाये
चाहे शुभ पर अशुभ विजय पा जाये,
शासन करे अशोभन,
शोभन मुँहकी खाये,

फिर भी, हे वायलेट! तुम
अपनी पावन मधुर प्रकृति—कोमल विकास—
किंचित् मत वदलो,
वल्कि अयाचित अपनी सुगन्धि विखेरे जाओ,
गति न रुके, विश्वास न खोओ।

प्याला

यही तुम्हारा प्याला है,
जो तुम्हें शुरू से मिला है,
नहीं, मेरे वत्स! मुझे ज्ञात है—

१. एक पाश्चात्य शिष्या को लिखित, ६ जनवरी, १८९६।

यह पेय घोर कालकूट,
यह तुम्हारी मंथित सुरा—निर्मित हुई है,
तुम्हारे अपराध, तुम्हारी वासनाओं से
युग-कल्पों-मन्वन्तरों से।

यही तुम्हारा पथ है—कष्टकर, बीहड़ और निर्जन,
मैंने ही वे पत्थर लगाये, जिन्होंने तुम्हें कभी बैठने नहीं दिया,
तुम्हारे मीत के पथ सुहावने और साफ़-सुथरे हैं
और वह भी तुम्हारी ही तरह मेरे अंक में आ जायगा।
किन्तु, मेरे वत्स, तुम्हें तो मुझ तक यह यात्रा करनी ही है।

यही तुम्हारा काम है, जिसमें न सुख है, न गौरव ही मिलता है,
किन्तु, यह किसी और के लिए नहीं, केवल तुम्हारे लिए है,
और मेरे विश्व में इसका सीमित स्थान है, ले लो इसे।
मैं कैसे कहूँ कि तुम यह समझो,
मेरा तो कहना है कि मुझे देखने के लिए नेत्र बन्द कर लो।

मंगलाशीष[१]

माता का हृदय, वीर का संकल्प,
दक्षिण के मलयानिल की मधुरता,
वे पवित्र आकर्षण और शक्ति-पुंज
जो आर्य-वेदिकाओं पर मुक्त एवं उद्दाम दमकते हैं,
वे सब तेरे हों,
और वह सब भी तेरा हो
जिसे अतीत में, कभी किसीने स्वप्न में भी न सोचा हो—
तू हो जा भारत की भावी सन्तान,
स्वामिनी, सेविका, मित्र एकाकार।

उसे शान्ति में विश्राम मिले[२]

आगे बढ़ो ओ' आत्मन्! अपने नक्षत्र-जड़ित पथ पर,

---

१. भगिनी निवेदिता को लिखित, सितम्बर १२, १९००।

२. श्री जे० जे० गुडविन की स्मृति में लिखित, अगस्त, १८९८।

हे परम आनन्दपूर्ण ! ! बढ़ो, जहाँ मुक्त विचार हैं,
जहाँ काल और देश से दृष्टि धूमिल नहीं होती,
और जहाँ चिरन्तन शान्ति और वरदान हैं तुम्हारे लिए !

जहाँ तुम्हारी सेवा बलिदान को पूर्णत्व देगी,
जहाँ श्रेयस् प्यार से भरे हृदयों में तुम्हारा निवास होगा,
मधुर स्मृतियाँ देश और काल की दूरियाँ खत्म कर देती हैं।
बलिवेदी के गुलाबों के समान
तुम्हारे पश्चात् विश्व को आपूरित करेगी।

अब तुम बन्धनमुक्त हो, तुम्हारी खोज परमानन्द तक पहुँच गयी,
अब तुम उसमें लीन हो, जो मरण और जीवन बन कर आता है,
हे परोपकाररत, हे निःस्वार्थ प्राण, आगे बढ़ो !
इस संघर्षरत विश्व को अब भी तुम सप्रेम सहायता करो।

नासदीय सूक्त[१]

(सृष्टि-गान)

तब न सत् था, न असत् ही,
न यह संसार था, न ये आकाश,
इस धुन्ध का आवरण क्या था ? वह भी किसका ?
गहन अन्धकार की गहराइयों में क्या था ?

तब न मरण था, न अमरत्व ही,
रात्रि दिवा से पृथक् नहीं थी,
किन्तु गतिशून्य वह स्पन्दित हुआ था
तब केवल वह था, जिसके परे
कोई अन्य अस्तित्व नहीं,
वही चराचर था।

तब तम में छिपकर तम बैठा था,

---

१. ऋग्वेद (१०।१२९।१–७) के प्रसिद्ध नासदीय सूक्त का अनुवाद।

जैसे जल में जल समाहित हो, पहचाना न जाय,
तब शून्य में जो था,
वह तप की गरिमा से मण्डित था।
तब मानस के आदि बीज के रूप में
प्रथम आकांक्षा उगी,
(जिसका साक्षात्कार ऋषियों ने अपने अन्तर में किया,
असत् से सत् जनमा,)
जिसकी प्रकाश-किरण
ऊपर-नीचे चारों ओर फैली।

यह महिमा सर्जनमयी हुई
स्वत:सिद्ध सिद्धान्त पर आधारित
और सर्जनशक्ति से स्फुरित।

किसने पथ जाना ? कहाँ अथ है, जहाँ से यह फूटा ?
सर्जन कहाँ से हुआ ?
सृष्टि के बाद ही तो देवों ने अस्तित्व पाया,
अत: उद्भव का ज्ञान किसे प्राप्त है ?

यह सर्जन कहाँ से आया,
यह कैसे ठहरा है, ठहरा भी है या नहीं ?
वह सर्वोच्च आकाशों में बैठा हुआ महाशासक
अपना आदि जानता है या नहीं ? शायद !

शान्ति[1]

देखो, जो बलात् आती है,
वह शक्ति, शक्ति नहीं है !
वह प्रकाश, प्रकाश नहीं है,
जो अँधेरे के भीतर है,
और न वह छाया, छाया ही है,

---

१. न्यूयार्क के रिजले मॅनर में लिखित, १८९९ ई०।

जो चकाचौंध करनेवाले
प्रकाश के साथ है।

वह आनंद है, जो कभी व्यक्त नहीं हुआ,
और अनभोगा, गहन दु:ख है
अमर जीवन, जो जिया नहीं गया
और अनन्त मृत्यु, जिस पर—
किसीको शोक नहीं हुआ।

न दु:ख है, न सुख,
सत्य वह है,
जो इन्हें मिलाता है।
न रात है, न प्रात,
सत्य वह है,
जो इन्हें जोड़ता है।

वह संगीत में मधुर विराम,
पावन छंद के मध्य यति है,
मुखरता के मध्य मौन,
वासनाओं के विस्फोट के बीच
वह हृदय की शान्ति है।

सुन्दरता वह है, जो देखी न जा सके।
प्रेम वह है, जो अकेला रहे।
गीत वह है, जो जिये, विना गाये,
ज्ञान वह है, जो कभी जाना न जाय।

जो दो प्राणों के बीच मृत्यु है,
और दो तूफ़ानों के बीच एक स्तब्धता है,
वह शून्य, जहाँ से सृष्टि आती है
और जहाँ वह लौट जाती है।

वहीं अश्रुविन्दु का अवसान होता है,
प्रसन्न रूप को प्रस्फुटित करने को
वही जीवन का चरम लक्ष्य है,
और शांति ही एकमात्र शरण है।

कौन जानता माँ की लीला !

शायद तुम्हीं वह द्रष्टा हो,
जो जानता है
कि कौन उन गहराइयों का स्पर्श कर सकता है,
जहाँ माँ ने अपने शब्दहीन अमोघ वाण
छिपा रखे हैं !

संभवतः शिशु ने उन छायाओं की झलक पायी है,
इन दृश्यों के पीछे,
विस्मय और कौतूहलभरी आँखों से
वे कम्पित आकृतियाँ, जो
अनिवार्य प्रवल घटनाओं की कारण हैं !
माँ के अतिरिक्त और कौन जानता है
कि वे कैसे, कहाँ से और कव आती हैं।

ज्ञानदीप्त उस ऋषि ने संभवतः
जो कुछ कहा,
कहीं उससे समधिक देखा था !
कव, किस आत्मा के सिंहासन पर
माँ विराजेगी,
कौन जानता है !

किन नियमों में मुक्ति वँधी है,
कौन पुण्य करते उसकी
इच्छा-संचालन !
वह किस धुन में कौन सी
वड़ी से वड़ी व्याख्या कर दे, कौन जाने,

उसकी इच्छा मात्र ही वह विधान है,
जिसका कोई विरोध संभव नहीं।

पता नहीं, पुत्र को कौन से वैभव प्राप्त हो जायँ,
पिता ने जिसका स्वप्न भी न देखा हो,
माँ अपनी पुत्री में
हज़ार गुनी शक्तियाँ भर सकती है,
उसकी इच्छा!!

अपनी आत्मा के प्रति

मेरे कठिन हृदय, कन्धे पर साधे रखो
जुआ, जो कि जीवन भर का है, उसे न छोड़ो,
यद्यपि अपना वर्तमान है विकृत
भविष्यत् अन्धकारमय, फिर भी ठहरो।
जब हमने-तुमने मिलकर आरम्भ किया था,
जीवन के शिखरों का आरोहण-अवरोहण,
तबसे एक युग बीत गया!
हम उन असामान्य समुद्रों में
निर्विघ्न साथ साथ तैरे हैं,
मुझसे भी ज़्यादा तुम मेरे निकट रहे हो,
मेरे मन की गतियों की पहले ही से घोषणा कर।
तुम सच्चा प्रतिबिम्ब फेंकते,
मेरा हृदय धड़कता है क्या, तुम्हीं धड़कते,
मेरे सभी विचारों के पूर्ण स्वर,
वे कितने ही सूक्ष्म क्यों न हों—
और सुरक्षित भी तुममें ही,
मेरे चेतन-साक्षी, विलग होगे मुझसे क्या?
तुम्हीं मेरी चिर मैत्री और आस्था के केन्द्र हो!
सब दिन मुझे विकृतियों के प्रति सावधान करते रहे हो!
मैंने तेरी चेतावनी कर दी सुनी-अनसुनी,
फिर भी तुमने
सदा सजग ही किया, शुभाशुभ मुझे बताया।

किसे दोप दूँ ?[1]

सूरज ढलता,
रक्तिम किरणें—
दम तोड़ते दिवस की देह लपेट चुकी हैं,
चौंकी हुई दृष्टि से देख रहा मैं पीछे,
गिनता हूँ अब तक की सब उपलब्धियाँ,
किन्तु, मुझे लज्जा आती है,
और किसीका नहीं, दोप तो मेरा ही है।

मैं बनाता या मिटाता प्रतिदिन अपना जीवन
भले-बुरे कर्मों का वैसा फल मिलता है।
भला, बुरा, जैसा बन गया, बन गया जीवन,
रोके और सँभाले से भी
रुके न सँभले कोई भी कितना सर मारे
और किसीका नहीं, दोप तो मेरा ही है।

मैं ही तो अपना साकार अतीत हूँ,
जिसमें बड़े बड़े आयोजन कर डाले थे,
वे संकल्प, धारणाएँ वे
जिनके ही अनुरूप ढल गया है यह जीवन,
वही, ढाँचा है जिसका,
और किसीका नहीं, दोप तो मेरा ही है।

प्यार का प्रतिफल मिला प्यार ही केवल
और घृणा से अपनी घृणा भयानक,
जिनकी सीमाओं से घिरा हुआ है जीवन,
और मरण भी,
प्यार-घृणा इस तरह बाँधते
किसे दोप दूँ जब कि स्वयं ही मैं दोपी हूँ।

---

१. न्यूयार्क से लिखित, १६ मई, १८९५।

त्याग रहा हूँ मैं भय
और व्यर्थ के सब पछतावे,
प्रबल वेग मेरे कर्मों का प्रवहमान है,
सुख-दुःख, निन्दा और प्रतारण,
यशोकीर्ति के प्रेत खड़े हैं मेरे सम्मुख,
किसे दोष दूं जब कि स्वयं मैं ही दोषी हूँ।

सभी शुभ-अशुभ, प्यार-घृणा, सुख-दुःख को बाँधे
जीवन सब दिन अपनी राह चला जाता है,
मैं उस सुख के स्वप्न देखता
जिस पर दुःख की पड़े न छाया,
किन्तु कभी हाँ, कभी नहीं हो सके सत्य वे,
किसे दोष दूं, जब कि स्वयं ही मैं दोषी हूँ।

छूटी घृणा, प्यार भी छूटा
और पिपासा भी जीवन की शान्त हो गयी,
शाश्वत मरण, अभीष्ट रहा जो, वही सामने,
जीवन की ज्वाला, जैसे, निर्वाण पा गयी,
कोई ऐसा शेष नहीं है, जिसे दोष दूं।

एकमात्र मानव, परमेश्वर एकमात्र, सम्पूर्ण आत्मा,
परम ज्ञानी वह जिसने
उपहास किया उन राहों का,
जो भटकातीं, पतित बनातीं, अंधियारी हैं,
एकमात्र सम्पूर्ण मनुज वह,
जिसने सोचा-समझा चरम लक्ष्य जीवन का,
पथ दिखलाया,
मृत्यु एक अभिशाप, और यह जीवन भी तो ऐसा ही है,
सबसे उत्तम—
जन्म-मरण का बन्धन छूटे।
ॐ नमो भगवते सम्बुद्धाय,
ॐ नमः प्रभु! चिर संबुद्ध!

मुक्ति[1]

(४ जुलाई के प्रति)

वह देखो, वे घने बादल छँट रहे हैं,
जिन्होंने रात को, धरती को अशुभ छाया से
ढक लिया था!
किन्तु, तुम्हारा चमत्कारपूर्ण स्पर्श पाते ही
विश्व जाग रहा है।
पक्षियों ने सहगान गाये हैं,
फूलों ने, तारों की भाँति चमकते ओसकणों का मुकुट पहनकर
झुक-झूमकर तुम्हारा सुन्दर स्वागत किया है।
झीलों ने प्यारभरा हृदय तुम्हारे लिए खोला है
और अपने सहस्र सहस्र कमल-नेत्रों के द्वारा
मन की गहराई से
निहारा है तुम्हें।
हे प्रकाश के देवता!
सभी तुम्हारे स्वागत में संलग्न हैं।
आज तुम्हारा नव स्वागत है।
हे सूर्य, तुम आज मुक्ति-ज्योति फैलाते हो।

तुम्हीं सोचो, संसार ने तुम्हारी कितनी प्रतीक्षा की
कितना खोजा तुम्हें,
युग युग तक, देश देश घूमकर कितना खोजा गया।
कुछ ने घर छोड़े, मित्रों का प्यार खोया,

---

१. यह तो ज्ञात ही है कि स्वामी विवेकानन्द की मृत्यु (अथवा जैसा हममें से कुछ कहना अधिक पसन्द करेंगे---उनका पुनरुज्जीवन) ४ जुलाई, १९०२ को हुई। ४ जुलाई, १८९८ के दिन वे कुछ अमेरिकन शिष्यों के साथ काश्मीर का पर्यटन कर रहे थे और उस शुभ दिवस---अमेरिकन स्वातन्त्र्य घोषणा-दिवस---की जयन्ती मनाने के निमित्त एक पारिवारिक षड़यन्त्र के अंगस्वरूप सवेरे जलपान के समय पढ़े जाने के निमित्त उन्होंने इस कविता की रचना की। कविता स्थिरा माता के पास सुरक्षित रही। स०

स्वयं को निर्वासित किया,
निर्जन महासागरों, सुनसान जंगलों में कितना भटके,
एक एक क़दम पर मौत और ज़िन्दगी का सवाल आ गया,
लेकिन, वह दिन भी आया, जब संघर्ष फले,
पूजा, श्रद्धा और बलिदान पूर्ण हुए,
अंगीकृत हुए—तुमने अनुग्रह किया
और समस्त मानवता पर स्वातंत्र्य-प्रकाश विकीर्ण किया।

ओ देवता, निर्बाध बढ़ो, अपने पथ पर,
तब तक,
जब तक कि यह सूर्य आकाश के मध्य में न आ जाय—
जब तक तुम्हारा आलोक विश्व में प्रत्येक देश में प्रतिफलित न हो;
जब तक नारी और पुरुष सभी उन्नत मस्तक होकर यह नहीं देखें
कि उनकी जंज़ीरें टूट गयीं
और नवीन सुखों के वसन्त में (उन्हें) नवजीवन मिला!

अन्वेषण[1]

पहाड़ी, घाटी, पर्वत-श्रेणियों में,
मंदिर, गिरजा, मसजिद,
वेद, बाइबिल, क़ुरान
तुझे खोजा इन सबमें—व्यर्थ।
सघन वनों में भूले शिशु सा
रोया—एकाकी रोया,
तुम कहाँ गये प्रभु, प्रिय?
'चले गये', कहा प्रतिध्वनि ने।

दिन बीते, निशि बीती, वर्ष गये,
मन में ज्वाला
कब दिवस निशा में बदला, नहीं ज्ञात।
दो टूक हृदय के हुए।

---

१. प्रो० जे० एच० राइट को लिखित, सितम्बर ४, १८९३ ई०।

गंगा तट पर आ लेटा,
वर्षा और ताप झेला,
तप्त अश्रुओं से धरती सींची,
जल का गर्जन लेकर रोया,
पावन नाम पुकारे सबके,
सब देशों के, सब धर्मों के,
'अरे, कृपा कर पथ दिखलाओ,
लक्ष्य प्राप्त कर चुके सभी जो
महामहिम जन!'

बीते वर्ष करुण क्रन्दन में,
प्रतिक्षण युग सा बीता।
उस क्रंदन में, आहों में,
कोई पुकारता सा लगा।

एक सौम्य मन-भावन-ध्वनि,
जो मेरी आत्मा के सब तारों से
समसुर होने में हर्षित सी लगी—
बोली : 'तनय मेरे', 'तनय मेरे।'

मैंने उठकर उसके उद्गम को खोजा,
खोजा. फिर फिर खोजा, मुड़कर देखा,
चारों दिशि—आगे, पीछे।
बार बार वह स्वर्गिक स्वर
मानो कहता कुछ,
स्तब्ध हुई आत्मा आनन्दित,
परमानन्द-विमोहित मग्न समाधि।

एक चमक ने आलोकित कर दी मेरी आत्मा,
अंतरतम के द्वार हो गये मुक्त।
कितना हर्ष, कितना आनंद—क्या मिला मुझे!
मेरे प्रिय, मेरे प्राण, यहाँ?

तुम हो यहाँ; प्रिय, मेरे सब कुछ!
मैं खोज रहा था तुमको
और तुम युग युग से यहीं
महिमा के सिंहासन पर थे आसीन।

उस दिन से अब जहाँ जहाँ मैं जाता हूँ,
वे पास खड़े रहते हैं,
घाटी, पर्वत, उच्च पहाड़ी—
अति सुदूर, अति उच्च—सभी जगह।

शशि का सौम्य प्रकाश, चमकते तारे
तेजस्वी दिनमणि में
वही चमकता—वे उसकी सुन्दरता औ' शक्ति
के केवल प्रतिबिम्बित प्रकाश।
तेजस्वी ऊषा, ढलती संध्या,
तरंगित सीमाहीन समुद्र
गीत विहग के औ' निसर्ग की शोभा
उन सबमें—वह है।

विपदाएँ जब मुझे जकड़तीं,
उर अशक्त मूर्छित सा
प्रकृति कुचलती निज पदतल से,
कभी न झुकनेवाले विधान से।

तब लगता है, सुनता हूँ,
मीठे सुर में तुमको कहते चुपके चुपके—
'मैं हूँ समीप', 'मैं हूँ समीप'।
हृदय को मिल जाती शक्ति, साथ तुम्हारे
मरण सहस्रों, फिर भी निर्भय।
तुम्हीं ध्वनित माँ की लोरी में,
जो शिशु की पलकें अलसा देती।

निर्मल बच्चों की क्रीड़ा और हँसी में,
तुम्हें देखता खड़े निकट।
पावन मैत्री के स्नेह मिलन में
खड़े बीच में साक्षी
माँ के चुम्बन में, शिशु की मृदु 'अम्मा' ध्वनि में,
तुम अमृत उड़ेलते।
साथ पुरातन गुरुओं के थे तुम,
सभी धर्म के तुम स्रोत,
वेद, क़ुरान, बाइबिल
एक राग में गाते।
तेरी ही गुण-गाथा।

जीवन की इस प्रवहमान धारा में,
तू आत्माओं की आत्मा,
'ॐ तत् सत् ॐ', तू है मेरा प्रभु,
मेरे प्रिय! मैं तेरा, मैं तेरा!

निर्वाणषट्कम्[1]

न मन, न बुद्धि, न अहंकार, न चित्त,
न शरीर, न उसके विकास,
न श्रवण, न जिह्वा, न नासिका, न नेत्र,
न आकाश, न भूमि, न तेज, न वायु,
मैं परम सत्, परम चित्, परम आनन्दस्वरूप हूँ,
मैं शिव हूँ, मैं शिव हूँ; (शिवोऽहं, शिवोऽहम्)।

न प्राण, न पंचवायु, न सप्तधातु, न पंचकोश,
न वाणी, न कर, न पद, न उपस्थ, न कोई इन्द्रिय,
मैं परम सत्, परम चित्, परम आनन्दस्वरूप हूँ,
मैं शिव हूँ, मैं शिव हूँ; (शिवोऽहं, शिवोऽहम्)।

---

१. शंकराचार्य की एक कविता का अनुवाद।

न द्वेष हूँ, न राग हूँ, न लोभ, न मोह;
न मद हूँ, न मात्सर्य हूँ,
धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष भी नहीं हूँ,
मैं परम सत्, परम चित्, परम आनन्दस्वरूप हूँ,
मैं शिव हूँ, मैं शिव हूँ; (शिवोऽहं, शिवोऽहम्)।

न पुण्य, न पाप, न सुख, न दुःख,
न मंत्र, न तीर्थ, न वेद, न यज्ञ,
न भोजन हूँ, न भोक्ता हूँ, न भोग्य हूँ,
मैं परम् सत्,परम् चित, परम् आनन्दस्वरूप हूँ,
मैं शिव हूँ, मैं शिव हूँ। (शिवोऽहं, शिवोऽहम्)

न मृत्यु हूँ, न शंका हूँ, न मेरी कोई जाति है,
न पिता, न माता, न मेरा जन्म ही है,
न वन्धु, न मित्र, न गुरु, न शिष्य,
मैं परम सत्, परम चित्, परम आनन्दस्वरूप हूँ,
मैं शिव ३, मे शिव हूँ; (शिवोऽहं, शिवोऽहम्)।

मैं तो निर्विकल्प, निराकार, विभु, अनन्त,
काल और सीमा से परे,
प्रत्येक वस्तु में हूँ, प्रत्येक वस्तु मैं ही हूँ,
मैं ही विश्व का आधार हूँ,
मैं परम सत्, परम चित्, परम आनन्दस्वरूप हूँ,
मैं शिव हू, मैं शिव हूँ; (शिवोऽहं, शिवोऽहम्)।

सृष्टि

(खम्माच-चौताला)

एक रूप, अरूप-नाम-वरन, अतीत-आगामि-काल-हीन,
देशहीन, सर्वहीन, 'नेति नेति' विराम जहाँ।

वहीं से होकर वहे कारण-धारा,

घार के वासना वेश उजला,
गरज गरज उठता है उसका वारि,
अहमहमिति सर्वमिति सर्वक्षण ।।

उसी अपार इच्छा-सागर माँझे
अयुत अनन्त तरंगराजे
कितने रूप, कितनी शक्ति,
कितनी गति-स्थिति किसने की गणना ।।

कोटि चन्द्र, कोटि तपन
पाते उसी सागर में जन्म,
महाघोर रोर गगन में छाया
किया दश दिक् ज्योति-मगन् ।।

उसीमें वसे कई जड़-जीव-प्राणी,
सुख-दुःख, जरा, जनम-मरण,
वही सूर्य जिसकी किरण, जो है सूर्य वही किरण ।।

शिव-संगीत

(कर्नाटि-एकताल)

तार्थैया तार्थैया नाचे भोला,
वम् वव वाजे गान।
डिमि डिमि डिमि डमरू वाजे डोलती कपाल-माल।
गरजे गंगा जटा माँझे, उगले अनल त्रिशूल राजे,
धक् धक् धक् मौलिवन्ध ज्वले शशांक-भाल।

सूक्तियाँ एवं सुभाषित–२

सूक्तियाँ एवं सुभाषित

१. मनुष्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए उत्पन्न हुआ है, उसका अनु-सरण करने के लिए नहीं।

२. जब तुम अपने आपको शरीर समझते हो, तुम विश्व से अलग हो; जब तुम अपने आपको जीव समझते हो, तब तुम अनन्त अग्नि के एक स्फुलिंग हो; जब तुम अपने आपको आत्मस्वरूप मानते हो, तभी तुम विश्व हो।

३. संकल्प स्वतंत्र नहीं होता—वह भी कार्य-कारण से बँधा एक तत्त्व है—लेकिन संकल्प के पीछे कुछ है, जो स्व-तंत्र है।

४. शक्ति 'शिव'-ता में है, पवित्रता में है।

५. विश्व है परमात्मा का व्यक्त रूप।

६. जब तक तुम स्वयं अपने में विश्वास नहीं करते, परमात्मा में तुम विश्वास नहीं कर सकते।

७. अशुभ की जड़ इस भ्रम में है कि हम शरीर मात्र हैं। यदि कोई मौलिक या आदि पाप है, तो वह यही है।

८. एक पक्ष कहता है, विचार जड़ वस्तु से उत्पन्न होता है; दूसरा पक्ष कहता है, जड़ वस्तु विचार से। दोनों कथन ग़लत हैं: जड़ वस्तु और विचार, दोनों का सह-अस्तित्व है। वह कोई तीसरी ही वस्तु है, जिससे विचार और जड़ वस्तु दोनों उत्पन्न होते हैं।

९. जैसे देश में जड़ वस्तु के कण संयुक्त होते हैं; वैसे ही काल में मन की तरंगें संयुक्त होती हैं।

१०. ईश्वर की परिभाषा करना चर्वितचर्वण है; क्योंकि एकमात्र परम अस्तित्व, जिसे हम जानते हैं, वही है।

११. धर्म वह वस्तु है, जिससे पशु मनुष्य तक और मनुष्य परमात्मा तक उठ सकता है।

१२. बाह्य प्रकृति अन्तःप्रकृति का ही विशाल आलेख है।

१३. तुम्हारी प्रवृत्ति तुम्हारे काम का मापदंड है। तुम ईश्वर हो और निम्नतम मनुष्य भी ईश्वर है, इससे बढ़कर और कौन सी प्रवृत्ति हो सकती है?

१४. मानसिक जगत् का पर्यवेक्षक वहुत वलवान और वैज्ञानिक प्रशिक्षणयुक्त होना चाहिए।

१५. यह मानना कि मन ही सव कुछ है, विचार ही सव कुछ है—केवल एक प्रकार का उच्चतर भौतिकतावाद है।

१६. यह दुनिया एक वड़ी व्यायामशाला है, जहाँ हम अपने आपको वलवान वनाने के लिए आते हैं।

१७. जैसे तुम पौधे को उगा नहीं सकते, वैसे ही तुम बच्चे को सिखा नहीं सकते। जो कुछ तुम कर सकते हो, वह केवल नकारात्मक पक्ष में है—तुम केवल सहायता दे सकते हो। वह तो एक आन्तरिक अभिव्यंजना है; वह अपना स्वभाव स्वयं विकसित करता है—तुम केवल वाधाओं को दूर कर सकते हो।

१८. एक पन्थ वनाते ही तुम विश्वबन्धुता के विरुद्ध हो जाते हो। जो सच्ची विश्वबंधुता की भावना रखते हैं, वे अधिक वोलते नहीं; उनके कर्म ही स्वयं ज़ोर से वोलते हैं।

१९. सत्य हज़ार ढंग से कहा जा सकता है, और फिर भी हर ढंग सच हो सकता है।

२०. तुमको अन्दर से वाहर विकसित होना है। कोई तुमको न सिखा सकता है, न आध्यात्मिक वना सकता है। तुम्हारी आत्मा के सिवा और कोई गुरु नहीं है।

२१. यदि एक अनन्त श्रृंखला में कुछ कड़ियाँ समझायी जा सकती हैं, तो उसी पद्धति से सव समझायी जा सकती हैं।

२२. जो मनुष्य किसी भौतिक वस्तु से विचलित नहीं होता, उसने अमरता पा ली।

२३. सत्य के लिए सव कुछ त्यागा जा सकता है, पर सत्य को किसी भी चीज़ के लिए छोड़ा नहीं जा सकता, उसकी वलि नहीं दी जा सकती।

२४. सत्य का अन्वेषण शक्ति की अभिव्यक्ति है—वह कमज़ोर, अन्ध लोगों का अँधेरे में टटोलना नहीं है।

२५. ईश्वर मनुष्य वना; मनुष्य भी फिर से ईश्वर वनेगा।

२६. यह एक वच्चों की सी वात है कि मनुष्य मरता है और स्वर्ग में जाता है। हम कभी न आते हैं, न जाते। हम जहाँ हैं, वहीं रहते हैं। सारी आत्माएँ, जो हो चुकी हैं, अव हैं और आगे होंगी; वे सव ज्यामिति के एक विंदु पर स्थित हैं।

२७. जिसके हृदय की पुस्तक खुल चुकी है, उसे अन्य किसी पुस्तक की आवश्यकता नहीं रह जाती। उनका महत्त्व केवल इतना भर है कि वे हममें लालसा जगाती हैं। वे प्रायः अन्य व्यक्तियों के अनुभव होती है।

२८. सब प्राणियों के प्रति करुणा रखो। जो दुःख में हैं, उन पर दया करो। सब प्राणियों से प्रेम करो। किसीसे ईर्ष्या मत करो। दूसरों के दोष मत देखो।

२९. मनुष्य न तो कभी मरता है, न कभी जन्म लेता है। शरीर मरते हैं; पर वह कभी नहीं मरता।

३०. कोई भी किसी धर्म में जन्म नहीं लेता, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति धर्म के लिए जन्म लेता है।

३१. विश्व में केवल एक आत्म-तत्त्व है, सब कुछ केवल 'उसी' की अभि-व्यक्तियाँ हैं।

३२. समस्त उपासक जनसाधारण और कुछ वीरों में (इन दो वर्गों में) विभक्त हैं।

३३. यदि यहाँ और अभी पूर्णता की प्राप्ति असंभव है, तो इस बात का कोई प्रमाण नहीं कि दूसरे जन्म में हमें पूर्णता मिल ही जायगी।

३४. यदि मैं एक मिट्टी के ढेले को पूर्णतया जान लूँ, तो सारी मिट्टी को जान लूँगा। यह है सिद्धान्तों का ज्ञान, लेकिन उनका समायोजन अलग अलग होता है। जब तुम स्वयं को जान लोगे, तो सब कुछ जान लोगे!

३५. व्यक्तिगत रूप से मैं वेदों में से उतना ही स्वीकार करता हूँ, जो बुद्धि-सम्मत है। वेदों के कतिपय अंश स्पष्ट ही परस्पर विरोधी हैं। वे, पाश्चात्य अर्थ में, दैवी प्रेरणा से प्रेरित नहीं माने जाते हैं। परन्तु वे ईश्वर के ज्ञान या सर्वज्ञता का सम्पूर्ण रूप हैं। यह ज्ञान एक कल्प के आरंभ में व्यक्त होता है; और जब वह कल्प समाप्त होता है, वह सूक्ष्म रूप प्राप्त करता है। जब कल्प पुनः व्यक्त होता है, ज्ञान भी व्यक्त होता है। यहाँ तक यह सिद्धान्त ठीक है। पर यह कहना कि केवल यह वेद नामक ग्रंथ ही उस परम तत्त्व का ज्ञान है, कुतर्क है। मनु ने एक स्थान पर कहा है कि वेद में वही अंश वेद है, जो बुद्धिग्राह्य, विवेकसम्मत है। हमारे अनेक दार्शनिकों ने यही दृष्टिकोण अपनाया है।

३६. दुनिया के सब धर्मग्रन्थों में केवल वेद ही यह घोषणा करते हैं कि वेदा-ध्ययन गौण है। सच्चा अध्ययन तो वह है, 'जिससे अक्षर ब्रह्म प्राप्त हो'। और वह न पढ़ना है, न विश्वास करना है, न तर्क करना है, वरन् अतिचेतन ज्ञान अथवा समाधि है।

३७. हम कभी निम्नस्तरीय पशु थे। हम समझते है कि वे हमसे कुछ भिन्न वस्तु हैं। मैं देखता हूँ, पश्चिमवाले कहते हैं, 'दुनिया हमारे लिए बनी है।' यदि चीते पुस्तकें लिख सकते, तो वे यही कहते कि मनुष्य उनके लिए बना है, और मनुष्य

सबसे पापी प्राणी है, क्योंकि वह उनकी (चीते की) पकड़ में सहज नहीं आता। आज जो कीड़ा तुम्हारे पैरों के नीचे रेंग रहा है, वह आगे होनेवाला ईश्वर है।

३८. न्यूयार्क में स्वामी विवेकानन्द ने कहा, "मैं बहुत चाहता हूँ कि हमारी स्त्रियों में तुम्हारी बौद्धिकता होती, परन्तु यदि वह चारित्रिक पवित्रता का मूल्य देकर ही आ सकती हो, तो मैं उसे नहीं चाहूँगा। तुमको जो कुछ आता है, उसके लिए मैं तुम्हारी प्रशंसा करता हूँ, लेकिन जो बुरा है, उसे गुलाबों से ढककर उसे अच्छा कहने का जो यत्न तुम करती हो, उससे मैं नफ़रत करता हूँ। बौद्धिकता ही परम श्रेय नहीं है। नैतिकता और अध्यात्मिकता के लिए हम प्रयत्न करते हैं। हमारी स्त्रियाँ इतनी विदुषी नहीं, परन्तु वे अधिक पवित्र हैं। प्रत्येक स्त्री के लिए अपने पति को छोड़ अन्य कोई भी पुरुष पुत्र जैसा होना चाहिए।

"प्रत्येक पुरुष के लिए अपनी पत्नी को छोड़ अन्य सब स्त्रियाँ माता के समान होनी चाहिए। जब मैं अपने आसपास देखता हूँ और स्त्री-दाक्षिण्य के नाम पर जो कुछ चलता है, वह देखता हूँ, तो मेरी आत्मा ग्लानि से भर उठती है। जब तक तुम्हारी स्त्रियाँ यौन सम्बंधी प्रश्न की उपेक्षा करके सामान्य मानवता के स्तर पर नहीं मिलतीं, उनका सच्चा विकास नहीं होगा। तब तक वे सिर्फ़ खिलौना बनी रहेंगी, और कुछ नहीं। यही सब तलाक़ का कारण है। तुम्हारे पुरुष नीचे झुकते हैं और कुर्सी देते हैं, मगर दूसरे ही क्षण वे प्रशंसा में कहना शुरू करते है—'देवी जी, तुम्हारी आँखें कितनी सुन्दर हैं!' उन्हें यह करने का क्या अधिकार है? एक पुरुष इतना साहस क्यों कर पाता है, और तुम स्त्रियाँ कैसे इसकी अनुमति दे सकती हो? ऐसी चीज़ों से मानवता के अधमतर पक्ष का विकास होता है। उनसे श्रेष्ठ आदर्शों की ओर हम नहीं बढ़ते।

"हम स्त्री और पुरुष हैं, हमें यही न सोचकर सोचना चाहिए कि हम मानव हैं, जो एक दूसरे की सहायता करने और एक दूसरे के काम आने के लिए जन्मे है। ज्यों ही एक तरुण और तरुणी एकान्त पाते हैं, वह उसकी आशंसा करना शुरू करता है, और इस प्रकार विवाह के रूप में पत्नी ग्रहण करने के पहले वह दो सौ स्त्रियों से प्रेम कर चुका होता है। वाह! यदि मैं विवाह करनेवालों में से एक होता, तो मैं प्रेम करने के लिए ऐसी ही स्त्री खोजता, जिससे यह सब कुछ न करना होता।

"जब मैं भारत में था और बाहर से इन चीज़ों को देखता था, तो मुझसे कहा जाता था, यह सब ठीक है, यह निरा मनबहलाव है। मनोरंजन है और मैं उसमें विश्वास करता था। परन्तु उसके बाद मैंने काफ़ी यात्रा की है, और मैं जानता हूँ कि यह ठीक नहीं है। यह ग़लत है, सिर्फ़ तुम पश्चिमवाले अपनी

आँखें मूँदे हो और उसे अच्छा कहते हो। पश्चिम के देशों की दिक़्क़त यह है कि वे बच्चे हैं, मूर्ख हैं, चंचल चित्त हैं और समृद्ध हैं। इनमें से एक ही गुण अनर्थ करने के लिए काफ़ी है; लेकिन जब ये तीनों, चारों एकत्र हों, तो सावधान!"

सबके बारे में ही स्वामी जी कठोर थे, बोस्टन में सबसे कड़ी बात उन्होंने कही—"सबमें बोस्टन सर्वाधिक बुरा है। वहाँ की स्त्रियाँ सब चंचलाएँ, किसी न किसी धुन (fad) को माननेवाली, सदा नये और अनोखे की तलाश में रहती हैं!"

३९. (स्वामी जी ने अमेरिका में कहा) जो देश अपनी सभ्यता पर इतना अहंकार करता है, उसमें आध्यात्मिकता की आशा कैसे की जा सकती है?

४०. 'इहलोक' और 'परलोक' यह बच्चों को डराने के शब्द हैं। सब कुछ 'इह' या यहाँ ही है। यहाँ, इसी शरीर में, ईश्वर में जीवित और गतिशील रहने के लिए संपूर्ण अहन्ता दूर होनी चाहिए, सारे अन्धविश्वासों को हटाना चाहिए। ऐसे व्यक्ति भारत में रहते हैं। ऐसे लोग इस देश (अमेरिका) में कहाँ हैं? तुम्हारे प्रचारक स्वप्नदर्शियों के विरुद्ध बोलते हैं। इस देश के लोग और भी अच्छी दशा में होते, यदि कुछ अधिक स्वप्नदर्शी होते। स्वप्न देखने और उन्नीसवीं सदी की बकवास में बहुत अन्तर है। यह सारा जगत् ईश्वर से भरा है, पाप से नहीं। आओ, हम एक दूसरे की मदद करें, एक दूसरे से प्रेम करें।

४१. मुझे अपने गुरु की तरह कामिनी, कांचन और कीर्ति से पराङ्मुख सच्चा संन्यासी बनकर मरने दो; और इन तीनों में कीर्ति का लोभ सबसे अधिक मायावी होता है।

४२. मैंने कभी प्रतिशोध की बात नहीं की। मैंने सदा बल की बात की है। हम समुद्र की फुहार की बूँद से बदला लेने की स्वप्न में भी कल्पना करते है? लेकिन एक मच्छर के लिए यह एक बड़ी बात है।

४३. (स्वामी जी ने एक बार अमेरिका में कहा) यह एक महान् देश है। लेकिन मैं यहाँ रहना नहीं चाहूँगा। अमेरिकन लोग पैसे को बहुत महत्त्व देते हैं। वे सब चीजों से बढ़कर पैसे को मानते हैं। तुम लोगों को बहुत कुछ सीखना है। जब तुम्हारा देश भी हमारे भारत की तरह प्राचीन देश बनेगा, तब तुम अधिक समझदार होगे।

४४. हो सकता है कि एक पुराने वस्त्र को त्याग देने के सदृश, अपने शरीर से बाहर निकल जाने को मैं बहुत उपादेय पाऊँ। लेकिन मैं काम करना नहीं छोड़ूँगा। जब तक सारी दुनिया न जान ले, मैं सब जगह लोगों को यही प्रेरणा देता रहूँगा कि वह परमात्मा के साथ एक है।

४५. जो कुछ मैं हूँ, जो कुछ सारी दुनिया एक दिन बनेगी, वह मेरे गुरु श्री रामकृष्ण के कारण है। उन्होंने हिंदुत्व, इसलाम और ईसाई मत में वह अपूर्व एकता खोजी, जो सब चीज़ों के भीतर रमी हुई है। श्री रामकृष्ण उस एकता के अवतार थे, उन्होंने उस एकता का अनुभव किया और सबको उसका उपदेश दिया।

४६. अगर स्वाद की इन्द्रिय को ढील दी, तो सभी इन्द्रियाँ बेलगाम दौड़ेंगी।

४७. ज्ञान, भक्ति, योग और कर्म—ये चार मार्ग मुक्ति की ओर ले जानेवाले हैं। हर एक को उस मार्ग का अनुसरण करना चाहिए, जिसके लिए वह योग्य है; लेकिन इस युग में कर्मयोग पर विशेष बल देना चाहिए।

४८. धर्म कल्पना की चीज़ नहीं, प्रत्यक्ष दर्शन की चीज़ है। जिसने एक भी महान् आत्मा के दर्शन कर लिये, वह अनेक पुस्तकी पंडितों से बढ़कर है।

४९. एक बार स्वामी जी किसीकी बहुत प्रशंसा कर रहे थे; इस पर उनके पास बैठे हुए किसीने कहा, "लेकिन वह आपको नहीं मानते"—इसे सुनकर स्वामी जी ने तत्काल उत्तर दिया : "क्या ऐसा कोई क़ानूनी शपथ-पत्र लिखा हुआ है कि उन्हें मेरी हर बात माननी ही चाहिए। वे अच्छा काम कर रहे हैं और इसलिए प्रशंसा के पात्र हैं।"

५०. सच्चे धर्म के क्षेत्र में, कोरे पुस्तकीय ज्ञान का कोई स्थान नहीं।

५१. पैसेवालों की पूजा का प्रवेश होते ही धार्मिक संप्रदाय का पतन आरंभ हो जाता है।

५२. अगर कुछ बुरा करना चाहो, तो वह अपने से बड़ों के सामने करो।

५३. गुरु की कृपा से, शिष्य बिना ग्रंथ पढ़े ही पंडित हो जाता है।

५४. न पाप है, न पुण्य है, सिर्फ़ अज्ञान है। अद्वैत की उपलब्धि से यह अज्ञान मिट जाता है।

५५. धार्मिक आन्दोलन समूहों में आते हैं। उनमें से हर एक दूसरे से ऊपर बढ़कर अपने को चलाना चाहता है। लेकिन सामान्यतः उनमें से एक की शक्ति बढ़ती है और वही, अन्ततः, शेष सब समकालीन आन्दोलनों को आत्मसात कर लेता है।

५६. जब स्वामी जी रामनाड़ में थे, एक संभाषण के बीच उन्होंने कहा कि श्री राम परमात्मा हैं। सीता जीवात्मा और प्रत्येक स्त्री या पुरुष का शरीर लंका है। जीवात्मा जो कि शरीर में बद्ध है, या लंकाद्वीप में बंदी है, वह सदा परमात्मा श्री राम से मिलना चाहती है। लेकिन राक्षस यह होने नहीं देते। और ये राक्षस-चरित्र के कुछ गुण हैं। जैसे विभीषण सत्त्व गुण है; रावण, रजोगुण; कुम्भकर्ण,

तमोगुण। सत्त्व गुण का अर्थ है अच्छाई; रजोगुण का अर्थ है लोभ और वासना; तमोगुण में अंधकार, आलस्य, तृष्णा, ईर्ष्या आदि विकार आते हैं। ये गुण शरीररूपी लंका में बन्दिनी सीता को यानी जीवात्मा को परमात्मा श्री राम से मिलने नहीं देते। सीता जब बन्दिनी होती हैं, और अपने स्वामी से मिलने के लिए आतुर रहती हैं, उन्हें हनुमान या गुरु मिलते हैं, जो ब्रह्मज्ञानरूपी मुद्रिका उन्हें दिखाते हैं और उसको पाते ही सब भ्रम नष्ट हो जाते हैं; और इस प्रकार से सीता श्री राम से मिलने का मार्ग पा जाती हैं, या दूसरे शब्दों में जीवात्मा परमात्मा में एकाकार हो जाती है।

५७. एक सच्चा ईसाई सच्चा हिन्दू होता है, और एक सच्चा हिन्दू सच्चा ईसाई।

५८. समस्त स्वस्थ सामाजिक परिवर्तन अपने भीतर काम करनेवाली आध्यात्मिक शक्तियों के व्यक्त रूप होते हैं; और यदि ये बलशाली और सुव्यवस्थित हों, तो समाज अपने आपको उस तरह से ढाल लेता है। हर व्यक्ति को अपनी मुक्ति की साधना स्वयं करनी होती है; कोई दूसरा रास्ता नहीं है। और यही बात राष्ट्रों के लिए भी सही है। और फिर हर राष्ट्र की बड़ी संस्थाएँ उसके अस्तित्व की उपाधियाँ होती हैं और वे किसी दूसरी जाति के साँचे के हिसाब से नहीं बदल सकतीं। जब तक उच्चतर संस्थाएँ विकसित नहीं होतीं, पुरानी संस्थाओं को तोड़ने का प्रयत्न करना भयानक होगा। विकास सदैव क्रमिक होता है।

संस्थाओं के दोष दिखाना आसान होता है, चूँकि सभी संस्थाएँ थोड़ी-बहुत अपूर्ण होती हैं, लेकिन मानव जाति का सच्चा कल्याण करनेवाला तो वह है, जो व्यक्तियों को, वे चाहे जिन संस्थाओं में रहते हों, अपनी अपूर्णताओं से ऊपर उठने में सहायता देता है। व्यक्ति के उत्थान से देश और संस्थाओं का भी उत्थान अवश्य होता है। शीलवान लोग बुरी रूढ़ियों और नियमों की उपेक्षा करते हैं और प्रेम, सहानुभूति और प्रामाणिकता के अलिखित और अधिक शक्तिशाली नियम उनका स्थान लेते हैं। वह राष्ट्र बहुत सुखी है, जिसका बहुत थोड़े से क़ायदे-क़ानून से काम चलता है, और जिसे इस या उस संस्था में अपना सिर खपाने की ज़रूरत नहीं होती है। अच्छे आदमी सब विधि-विधानों से ऊपर उठते है, और वे ही अपने लोगों को—वे चाहे जिन परिस्थितियों में रहते हों—ऊपर उठाने में मदद करते हैं।

भारत की मुक्ति, इसलिए, व्यक्ति की शक्ति पर और प्रत्येक व्यक्ति के अपने भीतर के ईश्वरत्व के ज्ञान पर निर्भर है।

५९. जब तक भौतिकता नहीं जाती, तब तक आध्यात्मिकता तक नहीं पहुँचा जा सकता।

६०. गीता का पहला संवाद रूपक माना जा सकता है।

६१. जहाज़ छूट जायगा इस डर से, एक अधीर अमेरिकन भक्त ने कहा: "स्वामी जी, आपको समय का कोई विचार नहीं।" स्वामी जी ने शान्तिपूर्वक कहा: "नहीं, तुम समय में जीते हो, हम अनन्त में!"

६२. हम सदा भावुकता को कर्तव्य का स्थान हड़पने देते हैं, और अपनी श्लाघा करते हैं कि सच्चे प्रेम के प्रतिदान में हम ऐसा कर रहे हैं।

६३. यदि त्याग की शक्ति प्राप्त करनी हो, तो हमें संवेगात्मकता से ऊपर उठना होगा। संवेग पशुओं की कोटि की चीज़ है। वे पूर्णरूपेण संवेग के प्राणी होते हैं।

६४. अपने छोटे बच्चों के लिए मरना, कोई बहुत ऊँचा त्याग नहीं। पशु वैसा करते हैं, ठीक जैसे मानवी माताएँ करती हैं। सच्चे प्रेम का वह कोई चिह्न नहीं; वह केवल अन्ध भावना है।

६५. हम हमेशा अपनी कमज़ोरी को शक्ति बताने की कोशिश करते हैं; अपनी भावुकता को प्रेम कहते हैं; अपनी कायरता को धैर्य, इत्यादि।

६६. जब अहंकार, दुर्बलता आदि देखो, तो अपनी आत्मा से कहो: 'यह तुम्हें शोभा नहीं देता। यह तुम्हारे योग्य नही।'

६७. कोई भी पति पत्नी को केवल पत्नी के नाते नहीं प्रेम करता, न कोई भी पत्नी पति को केवल पति के नाते प्रेम करती है। पत्नी में जो परमात्म-तत्त्व है, उसीसे पति प्रेम करता है; पति में जो परमेश्वर है, उसीसे पत्नी प्रेम करती है। प्रत्येक में जो ईश्वर-तत्त्व है, वही हमें अपने प्रिय के निकट खींचता है। प्रत्येक वस्तु में और प्रत्येक व्यक्ति में जो परमेश्वर है, वही हमसे प्रेम कराता है। परमेश्वर ही सच्चा प्रेम है।

६८. ओह, यदि तुम अपने आपको जान पाते! तुम आत्मा हो, तुम ईश्वर हो। यदि मैं कभी ईश-निन्दा करता सा अनुभव करता हूँ, तो तब, जब मैं तुम्हें मनुष्य कहता हूँ।

६९. हर एक में परमात्मा है; बाक़ी सब तो सपना है, छलना है।

७०. यदि आत्मा के जीवन में मुझे आनन्द नहीं मिलता, तो क्या मैं इन्द्रियों के जीवन में आनन्द पाऊँगा? यदि मुझे अमृत नहीं मिलता, तो क्या मैं गड्ढे के पानी से प्यास बुझाऊँ? चातक सिर्फ़ बादलों से ही पानी पीता है, और ऊँचा उड़ता हुआ चिल्लाता है, 'शुद्ध पानी! शुद्ध पानी!' और कोई आँधी या तूफ़ान

उसके पंखों को डिगा नहीं पाते और न उसे धरती के पानी को पीने के लिए बाध्य कर पाते हैं।

७१. कोई भी मत, जो तुम्हें ईश्वर-प्राप्ति में सहायता देता है, अच्छा है। धर्म ईश्वर की प्राप्ति है।

७२. नास्तिक उदार हो सकता है, पर धार्मिक नहीं। परन्तु धार्मिक मनुष्य को उदार होना ही चाहिए।

७३. दांभिक गुरुवाद की चट्टान पर हर एक की नाव डूबती है, केवल वे आत्माएँ ही बचती हैं, जो स्वयं गुरु बनने के लिए जन्म लेती हैं।

७४. मनुष्य पशुता, मनुष्यता और देवत्व का मिश्रण है।

७५. 'सामाजिक प्रगति' शब्द का उतना ही अर्थ है, जितना 'गर्म बर्फ़' या 'अँधेरा प्रकाश'। अन्ततः 'सामाजिक प्रगति' जैसी कोई चीज़ नहीं।

७६. वस्तुएँ अधिक अच्छी नहीं बनतीं; हम उनमें परिवर्तन करके अधिक अच्छे बनाते हैं।

७७. मैं अपने साथियों की मदद कर सकूँ : बस इतना ही मैं चाहता हूँ।

७८. न्यूयार्क में एक प्रश्न के उत्तर में स्वामी जी ने धीरे से कहा : "नहीं, मैं परलोक-विद्या में विश्वास नहीं करता। यदि कोई चीज़ सच नहीं है, तो नहीं है। अद्भुत या विचित्र चीज़ें भी प्राकृतिक घटनाएँ हैं। मैं उन्हें विज्ञान की वस्तु मानता हूँ। तब वे मेरे लिए परलोक-विद्यावाली या भूत-प्रेतवाली नहीं होतीं। मैं ऐसी परलोक ज्ञान-संस्थाओं में विश्वास नही करता। वे कुछ भी अच्छा नहीं करतीं, न वे कभी कुछ अच्छा कर सकती हैं।

७९. मनुष्यों में साधारणतया चार प्रकार होते हैं—बुद्धिवादी, भावुक, रहस्यवादी, कर्मठ। हमें इनमें से प्रत्येक के लिए उचित प्रकार की पूजा-विधि देनी चाहिए। बुद्धिवादी मनुष्य आता है और कहता है : 'मुझे इस तरह का पूजा-विधान पसन्द नहीं। मुझे दार्शनिक, विवेकसिद्ध सामग्री दो—वही मैं चाहता हूँ।' अतः बुद्धिवादी मनुष्य के लिए बुद्धिसम्मत दार्शनिक पूजा है।

फिर आता है कर्मठ। वह कहता है : 'दार्शनिक की पूजा मेरे किसी काम की नहीं। मुझे अपने मानव बंधुओं की सेवा का काम दो।' उसके लिए सेवा ही सबसे बड़ी पूजा है। रहस्यवादी और भावुक के लिए उनके योग्य पूजा-पद्धतियाँ हैं। धर्म में, इन सब लोगों के विश्वास के तत्त्व हैं।

८०. मैं सत्य के लिए हूँ। सत्य मिथ्या के साथ कभी मैत्री नहीं कर सकता। चाहे सारी दुनिया मेरे विरुद्ध हो जाय, अन्त में सत्य ही जीतेगा।

८१. परम मानवतावादी विचार जव भी समूह के हाथों में पड़ जाते हैं, तो पहला परिणाम होता है : पतन। विद्वत्ता और बुद्धि से वस्तुओं को सुरक्षित रखने में सहायता मिलती है। किसी भी समाज में जो संस्कृत हैं, वे ही धर्म और दर्शन को शुद्ध 'रूप' में रखनेवाले सच्चे धर्मरक्षक हैं। किसी भी जाति की बौद्धिक और सामाजिक परिस्थिति का पता लगाना हो, तो उसी 'रूप' से लग सकता है।

८२. अमेरिका में स्वामी जी ने एक बार कहा : "मैं किसी नयी आस्था में तुम्हारा धर्म-परिवर्तन कराने के लिए नहीं आया हूँ। मैं चाहता हूँ, तुम अपना धर्म पालन करो; मेथाडिस्ट और अच्छे मेथाडिस्ट बनें; प्रेसबिटेरियन और अच्छे प्रेसबिटेरियन हों ; यूनिटेरियन और अच्छे यूनिटेरियन हों। मैं चाहता हूँ, तुम सत्य का पालन करो; अपनी आत्मा में जो प्रकाश है, वह व्यक्त करो।

८३. सुख आदमी के सामने आता है, तो दुःख का मुकुट पहन कर। जो उसका स्वागत करता है, उसे दुःख का भी स्वागत करना चाहिए।

८४. जिसने दुनिया से पीठ फेर ली, जिसने सबका त्याग कर दिया, जिसने वासना पर विजय पायी, जो शान्ति का प्यासा है, वही मुक्त है, वही महान् है। किसी को राजनीतिक और सामाजिक स्वतंत्रता चाहे मिल जाय, पर यदि वह वासनाओं और इच्छाओं का दास है, तो सच्ची स्वतंत्रता का शुद्ध आनन्द वह नहीं जान सकता।

८५. परोपकार ही धर्म है; परपीड़न ही पाप। शक्ति और पौरुष पुण्य है, कमज़ोरी और कायरता पाप। स्वतंत्रता पुण्य है; पराधीनता पाप। दूसरों से प्रेम करना पुण्य है, दूसरों से घृणा करना पाप। परमात्मा में और अपने आप में विश्वास पुण्य है; सन्देह ही पाप है। एकता का ध्यान पुण्य है; अनेकता देखना ही पाप। विभिन्न शास्त्र केवल पुण्य-प्राप्ति के ही साधन बताते हैं।

८६. जब तर्क से बुद्धि सत्य को जान लेती है, तब वह भावनाओं के स्रोत हृदय द्वारा अनुभूत होता है। इस प्रकार बुद्धि और भावना दोनों एक ही क्षण में आलोकित हो उठते हैं; और तभी जैसे मुंडकोपनिषद् (२।२।८) में कहा है— 'हृदय-ग्रंथि खुल जाती है, सब संशय मिट जाते हैं।'

जब प्राचीन काल में ज्ञान और भाव ऋषियों के हृदय में एक साथ प्रस्फुटित हो उठते थे, तब सर्वोच्च सत्य ने काव्य की भाषा ग्रहण की और तभी वेद और अन्य शास्त्र रचे गये। इसी कारण, उन्हें पढ़ते हुए लगता है कि वैदिक स्तर पर मानो भाव और ज्ञान की दोनों समानान्तर रेखाएँ अंततः मिलकर एकाकार हो गयी हैं और एक दूसरे से अभिन्न हैं।

८७. विभिन्न धर्मों के ग्रंथ विश्वप्रेम, स्वतंत्रता, पौरुष और निःस्वार्थ उपकार की प्राप्ति के अलग अलग मार्ग बताते हैं। प्रत्येक धर्म-पन्थ, पुण्य क्या है और पाप क्या है, इस विषय में प्रायः भिन्न है, और एक दूसरे से ये पन्थ अपने अपने पुण्य-प्राप्ति के साधनों और पाप को दूर रखने के मार्गों के विषय में लड़ते रहते हैं; मुख्य साध्य या ध्येय की प्राप्ति की ओर कोई ध्यान नहीं देता। प्रत्येक साधन कम या अधिक मात्रा में सहायक तो होता ही है और गीता (१८।४८) कहती है : **सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः**। इसलिए साधन तो कम या अधिक मात्रा में सदोष जान पड़ेंगे। परन्तु अपने अपने धर्म-ग्रंथ में लिखे हुए साधन द्वारा ही हमें सर्वोच्च पुण्य प्राप्त करना है, इसलिए हमें उनका अनुसरण करना चाहिए। परन्तु उनके साथ साथ विवेक-बुद्धि से भी काम लेना चाहिए। इस प्रकार ज्यों ज्यों हम प्रगति करते जायँगे, पाप-पुण्य की पहेली अपने आप सुलझती चली जायगी।

८८. आजकल हमारे देश में कितने लोग सचमुच में शास्त्र समझते हैं? उन्होंने सिर्फ़ कुछ शब्द जैसे ब्रह्म, माया प्रकृति आदि रट लिये हैं और उनमें अपना सिर खपाते हैं। शास्त्रों के सच्चे अर्थ और उद्देश्य को एक ओर रखकर, वे शब्दों पर लड़ते रहते है। यदि शास्त्र सब व्यक्तियों को, सब परिस्थितियों में, सब समय उपयोगी न हों, तो वे किस काम के हैं? अगर शास्त्र सिर्फ़ संन्यासियों के काम के हों और गृहस्थों के नहीं, तो फिर ऐसे एकांगी शास्त्रों का गृहस्थों को क्या उपयोग है? यदि शास्त्र सिर्फ़ सर्व संगपरित्यागी, विरक्त और वानप्रस्थों के लिए ही हों और यदि वे दैनन्दिन जीवन में प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में आशा का दीपक नहीं जला सकते, यदि वे उनके दैनिक श्रम, रोग, दुःख, दैन्य, परिताप में निराशा, दलितों की आत्मग्लानि, युद्ध के भय, लोभ, क्रोध, इंद्रिय सुख, विजयानंद, पराजय के अन्धकार और अंततः मृत्यु की भयावनी रात में काम में नहीं आते —तो दुर्बल मानवता को ऐसे शास्त्रों की ज़रूरत नहीं, और ऐसे शास्त्र शास्त्र नहीं हैं।

८९. भोग के द्वारा योग समय पर आयेगा। परंतु मेरे देशवासियों का दुर्भाग्य है कि योग की प्राप्ति तो दूर रही, उन्हें थोड़ा सा भोग भी नसीब नहीं। सब प्रकार के अपमान सहन करके, वे बड़ी मुश्किल से शरीर की न्यूनतम आवश्यकताओं को जुटा पाते हैं—और वे भी सबको नहीं मिल पातीं! यह विचित्र है कि ऐसी बुरी स्थिति से भी हमारी नींद नहीं टूटती और हम अपने तात्कालिक कर्तव्य के प्रति उन्मुख नहीं होते।

९०. अपने अधिकारों और विशेषाधिकारों के लिए आन्दोलन करो, लेकिन याद रखो कि जब तक देश में आत्मसम्मान की भावना उत्कटता से नहीं ज॰

और अपने आपको सही तौर पर नहीं उठाते, तब तक हक़ और अधिकार प्राप्त करने की आशा केवल अलनस्कर (शेखचिल्ली) के दिवास्वप्न की तरह रहेगी।

९१. जब कोई प्रतिभा या विशेष शक्तिवाला व्यक्ति जन्म लेता है, तो मानो उसके आनुवंशिक सर्वोत्तम गुण और सबसे क्रियाशील विशेषताएँ उसके व्यक्तित्व के निर्माण में पूरी तरह निचुड़कर, स्तर-रूप में आती हैं। इसी कारण हम देखते हैं कि उसी वंश में बाद में जन्म लेनेवाले या तो मूर्ख होते हैं या साधारण योग्यतावाले, और कई उदाहरण ऐसे भी हैं कि कभी कभी ऐसे वंश पूरी तरह नष्ट हो जाते हैं।

९२. यदि इस जीवन में मोक्ष नहीं मिल सकता, तो क्या आधार है कि तुम्हें वह अगले एक या अनेक जन्मों में मिलेगा ही ?

९३. आगरे का ताज देखकर स्वामी जी ने कहा : "यदि यहाँ के संगमरमर के एक टुकड़े को निचोड़ सको, तो उसमें से राजसी प्रेम और पीड़ा के बूँद टपकेंगे।" और भी उन्होंने कहा, "इसके अन्दर के सौंदर्य के शिल्प का एक वर्ग इंच समझने के लिए सचमुच में छः महीने लगते हैं।"

९४. जब भारत का सच्चा इतिहास लिखा जायगा, यह सिद्ध होगा कि धर्म के विषय में और ललितकलाओं में भारत सारे विश्व का प्रथम गुरु है।

९५. स्थापत्य के बारे में उन्होंने कहा : "लोग कहते हैं, कलकत्ता महलों का नगर है, परंतु यहाँ के मकान ऐसे लगते हैं, जैसे एक सन्दूक़ के ऊपर दूसरा रखा गया हो। इनसे कोई कल्पना नहीं जागती। राजपूताना में अभी भी बहुत कुछ मिल सकता है, जो शुद्ध हिन्दू स्थापत्य है। यदि एक धर्मशाला को देखो, तो लगेगा कि वह खुली बाँहों से तुम्हें अपने शरण में लेने के लिए पुकार रही है और कह रही है कि मेरे निर्विशेष आतिथ्य का अंश ग्रहण करो। किसी मन्दिर को देखो, तो उसमें और उसके आसपास दैवी वातावरण निश्चय मिलेगा। किसी देहाती कुटी को भी देखो, तो उसके विविध हिस्सों का विशेष अर्थ तुम्हारी समझ में आ सकेगा, और उसके स्वामी के आदर्श और प्रमुख स्वभाव-गुणों का साक्ष्य उस पूरी बनावट से मिलेगा। इटली को छोड़कर मैंने कहीं भी एसा अभिव्यंजक स्थापत्य नहीं देखा।"

अमेरिकन समाचारपत्रों के विवरण

अमेरिकन समाचारपत्रों के विवरण

भारत: उसका धर्म तथा रीति-रिवाज़

(सालेम इवनिंग न्यूज़, २९ अगस्त, १८९३ ई०)

कल शाम के गरम मौसम के बावजूद, वेसली प्रार्थनागृह में 'विचार और कार्य सभा' के सदस्य इस देश में भ्रमण करनेवाले हिन्दू साधु स्वामी 'विव कानोन्द'[१] से मिलने के लिए तथा वेदों अथवा पवित्र ग्रंथों की शिक्षा पर आधारित हिन्दू धर्म पर उन महाशय का एक अनौपचारिक भाषण सुनने के लिए बड़ी संख्या में एकत्र हुए। उन्होंने जाति-व्यवस्था को एक सामाजिक विभाजन बताया और कहा कि वह उनके धर्म के ऊपर किसी भी प्रकार आधारित नहीं है।

बहुसंख्यक जनता की ग़रीबी का उन्होंने ज़ोरदार शब्दों में वर्णन किया। भारत, जिसका क्षेत्रफल संयुक्त राष्ट्र से बहुत कम है, की जनसंख्या तेईस करोड़ है (?) और इसमें ३० करोड़ (?) लोगों की औसत आय पचास सेन्ट से भी कम है। कहीं कहीं तो देश के पूरे ज़िलों के लोग एक पेड़ में लगनेवाले फूलों को उबालकर खाते हुए महीनों और वर्षों तक बसर करते हैं।

दूसरे ज़िलों में पुरुष केवल भात खाते हैं और स्त्रियों तथा बच्चों को चावल को पकानेवाले पानी (भाड़) से अपनी क्षुधा तृप्त करनी पड़ती है। चावल की फ़सल ख़राब हो जाने का अर्थ है, अकाल। आधे लोग दिन में एक बार भोजन करके निर्वाह करते हैं और शेष आधे लोगों को पता नहीं कि दूसरे समय का भोजन कहाँ से आयेगा। स्वामी विव क्योन्द (विवेकानन्द) के मतानुसार भारत के लोगों को धर्म की अधिक या श्रेष्ठतर धर्म की आवश्यकता नहीं है, परन्तु जैसा कि वे व्यक्त करते हैं, 'व्यावहारिकता' की आवश्यकता है; और वे इस आशा को लेकर इस देश में आये हैं कि वे अमरीकी जनता का ध्यान करोड़ों पीड़ित और बुभुक्षित लोगों की इस महान् आवश्यकता की ओर आकृष्ट कर सकें।

---

१. उन दिनों स्वामी विवेकानन्द जी का नाम संयुक्त राज्य अमेरिका के समाचारपत्रों में कई प्रकार से ग़लत छपता था और विषय की नवीनता के कारण विवरण अधिकांशतः अशुद्ध होते थे। सं०

उन्होंने अपने देश की जनता और उसके धर्म के सम्बन्ध में कुछ विस्तारपूर्वक कहा। उनके भाषण देते समय डॉ० एफ़० ए० गार्डनर एवं सेन्ट्रल वैपटिस्ट चर्च के रेवरेंड एस० एफ़० नॉब्स ने उनसे अनेक तथा गहरे प्रश्न किये। उन्होंने कहा कि वहाँ मिशनरियों के पास सुन्दर सिद्धान्त हैं और उन्होंने अच्छे विचारों को लेकर कार्य प्रारम्भ किया था, किन्तु उन्होंने जनता की औद्योगिक दशा सुधारने के लिए कुछ नहीं किया। उन्होंने कहा कि अमेरिकनों को उन्हें धार्मिक शिक्षा देने के लिए मिशनरियों को भेजने के वजाय यह अधिक उचित होगा कि वे ऐसे लोगों को भेजें, जो उन्हें औद्योगिक शिक्षा प्रदान कर सकें।

जब यह पूछा गया कि क्या यह सच नहीं है कि ईसाइयों ने भारतीयों को विपत्ति के समय सहायता दी और क्या उन्होंने उन्हें प्रशिक्षण विद्यालयों के द्वारा व्यावहारिक सहायता नहीं दी, तब वक्ता ने उत्तर में कहा कि उन्होंने कभी कभी यह किया; परन्तु वास्तव में उनका यह करना उचित नहीं था, क्योंकि क़ानून इस बात की आज्ञा नहीं देता कि वे ऐसे समय में जनता पर प्रभाव डालने का प्रयत्न करें।

उन्होंने भारत में स्त्रियों की गिरी हुई दशा का यह कारण वताया कि हिन्दू पुरुष नारी का इतना आदर करते हैं कि वे उसे बाहर निकलने न देने को सबसे अच्छी बात समझते हैं। हिन्दू नारी का इतना अधिक आदर किया जाता था कि वह अलग रखी गयी। उन्होंने अपने पतियों की मृत्यु होने पर स्त्रियों के जल जाने की प्राचीन प्रथा का कारण बताया कि वे उन्हें प्यार करती थीं, अतः वे बिना उनके जीवित नहीं रह सकती थीं। वे विवाह में अभिन्न थीं और उनका मृत्यु में भी अभिन्न होना आवश्यक था।

उनसे मूर्ति-पूजा तथा अपने को जगन्नाथ-रथ के सम्मुख डाल देने के बारे में भी पूछा गया और उन्होंने कहा कि इसके लिए हिन्दुओं को दोष देना उचित नहीं है, क्योंकि यह धर्मोन्मत्तों और अधिकतर कुष्ठरोगियों का कार्य है।

भाषणकर्ता ने अपने देश में अपना ध्येय संन्यासियों को औद्योगिक दृष्टि से संगठित करना बतलाया, जिससे वे जनता को औद्योगिक शिक्षा के लाभों को प्रदान कर उनकी दशा को समुन्नत एवं सुधार कर सकें।

जो भी बच्चे अथवा नवयुवक सुनने के इच्छुक हों, उनके लिए आज शाम को विव कानोन्द १६६, नार्थ स्ट्रीट पर भारतीय बच्चों के विषय में बोलेंगे। इसके लिए श्रीमती वुड्स ने कृपापूर्वक अपना बगीचा दे रखा है। देखने में उनका शरीर सुन्दर है, श्याम वर्ण, परन्तु सुन्दर, गेरुए रंग का लम्बा कुरता

कमर में एक वंद वाँधे हुए एवं सिर पर गेरुआ पगड़ी। संन्यासी होने के कारण वे किसी जाति में नहीं हैं और किसीके भी साथ खा-पी सकते हैं।

*   *   *

(डेली गज़ट, २९ अगस्त, १८९३)

भारत के राजा[1] स्वामी विवि रानान्ड कल शाम को वेसली चर्च में 'विचार और कार्य-सभा' के अतिथि थे।

एक वड़ी संख्या में स्त्री-पुरुष उपस्थित थे और उन्होंने सम्मानित संन्यासी से अमेरिकन ढंग से हाथ मिलाया। वे एक नारंगी रंग का लम्वा कुरता, लाल कमरवन्द, पीली पगड़ी, जिसका एक छोर एक ओर लटकता था और जिसे वे रूमाल के रूप में प्रयोग करते थे, और कांग्रेसी जूते पहने हुए थे।

उन्होंने अपने देशवासियों की दशा एवं उनके धर्म के सम्वन्ध में विस्तार-पूर्वक वताया। उनके भाषण देते समय डॉ० एफ़० ए० गार्डनर एवं सेन्ट्रल वैपटिस्ट चर्च के रेवरेण्ड एस० एफ़० नॉक्स ने उनसे अनेक वार प्रश्न पूछे। उन्होंने कहा कि वहाँ मिशनरियों के पास सुन्दर सिद्धान्त है और उन्होंने अच्छे विचारों को लेकर कार्य प्रारम्भ किया था, किन्तु उन्होने जनता की औद्योगिक दशा सुधारने के लिए कुछ नहीं किया। उन्होंने कहा कि उन्हें धार्मिक शिक्षा देने के लिए मिशनरी भेजने के वजाय यह अविक उचित होगा कि अमेरिकावाले ऐसे लोगों को भेजें, जो उन्हें औद्योगिक शिक्षा प्रदान कर सकें।

स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सम्वन्ध में कुछ विस्तार से वोलते हुए उन्होंने कहा कि भारतीय पति कभी धोखा नहीं देते और न अत्याचार करते हैं तथा उन्होंने और अनेक पापों को गिनाया, जो वे नहीं करते।

जव यह पूछा गया कि क्या यह सच नही है कि ईसाइयों ने भारतीयों को विपत्ति के समय सहायता दी और क्या उन्होंने उन्हें प्रशिक्षण विद्यालयों के द्वारा व्यावहारिक सहायता नहीं दी, तव, वक्ता ने उत्तर में कहा कि उन्होंने कभी कभी यह किया; परन्तु वास्तव में उनका यह करना उचित नहीं था, क्योंकि क़ानून इस वात की आज्ञा नहीं देता कि वे ऐसे समय में जनता पर प्रभाव डालने का प्रयत्न करें।

---

१. अमेरिकन संवाददाताओं ने स्वामी जी के साथ 'राजा', 'ब्राह्मण', 'पुरोहित,' जैसे सभी प्रकार के विशेषण लगाये हैं, जिसके लिए वे स्वयं उत्तरदायी हैं। स०

उन्होंने भारत में स्त्रियों की गिरी हुई दशा का यह कारण बताया कि हिन्दू पुरुष नारी का इतना आदर करते हैं कि वे उसे बाहर न निकलने देने को सबसे अच्छी बात समझते हैं। हिन्दू नारी का इतना अधिक आदर किया जाता था कि वह अलग रखी गयी। उन्होंने स्त्रियों के अपने पतियों की मृत्यु होने पर जल जाने की प्राचीन प्रथा का कारण बताया कि वे पति को प्यार करती थीं, इसलिए वे बिना उनके जीवित नहीं रह सकती थीं। वे विवाह में अभिन्न थीं और उनका मृत्यु में भी अभिन्न होना आवश्यक था।

उनसे मूर्ति-पूजा तथा अपने को जगन्नाथ-रथ के सामने डाल देने के बारे में भी पूछा गया और उन्होंने कहा कि इसके लिए हिन्दुओं को दोष देना उचित नहीं है, क्योंकि वह धर्मोन्मत्तों और अधिकतर कुष्ठरोगियों का कार्य है।

मूर्ति-पूजा के सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि उन्होंने ईसाइयों से यह पूछा है कि वे प्रार्थना करते समय क्या चिन्तन करते हैं, और उनमें से कुछ ने बताया कि वे चर्च का चिन्तन करते हैं, कुछ ने कहा कि ईश्वर[1] का। उनके देशवासी मूर्ति का ध्यान करते हैं। ग़रीबों के लिए मूर्तियाँ आवश्यक हैं। उन्होंने कहा कि प्राचीन काल में जब उनके धर्म का जन्म हुआ था, स्त्रियाँ आध्यात्मिक प्रतिभा और मानसिक शक्ति के लिए विख्यात थीं। तथापि जैसा कि उन्होंने स्वीकार सा किया कि वर्तमान काल में स्त्रियों की दशा गिर गयी है। वे खाने-पीने, गप्प लड़ाने और चुगली-चवाई करने के सिवा और कुछ नहीं करतीं।

वक्ता ने बताया कि उनका उद्देश्य अपने देश में संन्यासियों का औद्योगिक कार्यों के लिए संगठन करना है, जिससे कि वे जनता को इस औद्योगिक शिक्षा का लाभ उपलब्ध करा सकें और इस प्रकार उन्हें ऊँचा उठा सकें तथा उनकी दशा सुधार सकें।

* * *

(सालेम इवनिंग न्यूज़, १ सितम्बर, १८९३)

भारत के विद्वान् संन्यासी, जो कुछ दिनों से इस शहर में हैं, रविवार की शाम को साढ़े सात बजे 'ईस्ट चर्च' में भाषण देंगे। स्वामी विवा कानन्द ने पिछले

---

१. यहाँ अंग्रेजी कैपिटल अक्षरों का प्रयोग है। जिससे प्रकट होता है कि स्वामी जी का भाव मात्र शब्द GOD से है।

रविवार की शाम को पल्ली-पुरोहित तथा हार्वर्ड के प्रो० राइट के आमंत्रण पर, जिन्होंने उनके प्रति बड़ी उदारता दिखायी है, एनिस्क्वाम के एपिस्कोपल चर्च में प्रवचन किया।

वे सोमवार की रात्रि को सैराटोगा के लिए प्रस्थान करेंगे और वहाँ 'सामाजिक विज्ञान संघ' के सम्मुख भाषण देंगे। तदनन्तर वे शिकागो की कांग्रेस के सम्मुख बोलेंगे। भारत के उच्चतर विश्वविद्यालयों में शिक्षित भारतीयों की भाँति विवा कानन्द भी शुद्ध और सरलतापूर्वक अंग्रेज़ी बोलते हैं। भारतीय बच्चों के खेल, पाठशाला और रीति-रिवाज़ के सम्बन्ध में मंगलवार को बच्चों के सामने दिया हुआ उनका सरल भाषण अत्यन्त रोचक एवं मूल्यवान था। एक छोटी सी बच्ची के इस कथन पर कि उसकी 'अध्यापिका ने उसकी अंगुली को इतने ज़ोर से चूमा कि वह टूट सी गयी,' वे बड़े द्रवीभूत हुए। अन्य साधुओं की भाँति 'विवा कानन्द' अपने देश में सत्य, पवित्रता और मानव-बंधुत्व के धर्म का उपदेश करते हुए यात्रा अवश्य करते थे, किन्तु उनकी दृष्टि से कोई भी बड़ी अच्छाई अथवा बुराई छिप नहीं सकती थी। वे अन्य धर्मों के व्यक्तियों के प्रति अत्यन्त उदार हैं और अपने से मतभेद रखनेवालों से प्रेमपूर्ण वाणी ही बोलते हैं।

* * *

(डेली गज़ट, ५ सितम्बर, १८९३)

भारत के राजा स्वामी विवी रानान्ड ने रविवार की शाम को भारतीय धर्म तथा अपनी मातृभूमि के ग़रीब निवासियों के सम्बन्ध में भाषण दिया। श्रोताओं की संख्या अच्छी थी, परन्तु इतनी अधिक नहीं थी, जितनी कि विषय की महत्ता अथवा रोचक वक्ता के लिए अपेक्षित थी। संन्यासी अपने देश की वेषभूषा में थे और प्रायः चालीस मिनट बोले। उन्होंने कहा कि आज के भारत की, जो पचास वर्ष पूर्व का भारत नहीं है, सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि मिशनरी जनता को धार्मिक नहीं, अपितु औद्योगिक शिक्षा प्रदान करें। जितने धर्म की हिन्दुओं को आवश्यकता है, वह उनके पास है और हिन्दू धर्म संसार का सबसे प्राचीन धर्म है। संन्यासी बड़े सुन्दर वक्ता हैं और उन्होंने अपने श्रोताओं का ध्यान पूर्णरूपेण आकृष्ट रखा।

* * *

(डेली सैराटॉजियन, ६ सितम्बर, १८९३)

...इसके बाद मंच पर मद्रास, हिन्दुस्तान के संन्यासी 'विव कानन्द उपस्थित हुए, जिन्होंने भारत भर में उपदेश दिया है। उनकी सामाजिक विज्ञान में अभिरुचि है और वे मेधावी तथा सुन्दर वक्ता हैं। उन्होंने भारत में मुस्लिम शासन पर भाषण दिया।

आज के कार्यक्रम में कुछ रोचक विषय सम्मिलित हैं और हार्टफ़ोर्ड के जैकव ग्रीन के द्वारा, 'विमेटालिज़्म' पर भाषण विशेष रोचक है। इस अवसर पर विव कानन्द पुनः भारत में चाँदी के उपयोग पर भाषण देंगे।

समारोह में हिन्दू

(वोस्टन इवनिंग ट्रांस्क्रिप्ट, ३० सितम्बर, १८९३)

शिकागो, २३ सितम्बर :

'आर्ट पैलेस के प्रवेश-द्वार की बायीं ओर एक कमरा है, जिस पर 'नं० १—बाहर रहिए' अंकित है। यहाँ यदा-कदा 'धर्म-सम्मेलन' में आये हुए प्रतिनिधि आते हैं, या तो परस्पर वार्तालाप के लिए या अध्यक्ष वोने से बात करने के लिए, जिनका इस हिस्से के एक कोने में व्यक्तिगत कार्यालय है। मुड़नेवाले द्वारों की जनता से रक्षा कठोरता से की जाती है और सामान्यतः लोग काफ़ी दूर खड़े रहते हैं, जिससे कि वे भीतर नही झाँक सकते। उस पवित्र हाते में केवल प्रतिनिधि ही प्रवेश कर सकते हैं, किन्तु 'प्रवेश-पत्र' प्राप्त कर लेना और 'हाल ऑफ़ कोलम्वस' के मंच की अपेक्षा सम्मानित अतिथियों से थोड़े समय की निकटता स्थापित करने का अवसर प्राप्त कर लेना कठिन नहीं है।

इस प्रतीक्षा-कक्ष में सबसे आकर्षक व्यक्ति ब्राह्मण संन्यासी स्वामी विवेकानन्द से भेंट होती है। वे लम्वे और सुगठित शरीरवाले हैं तथा हिन्दुस्तानियों का उन्नत व्यवहार उनमें है। विना दाढ़ी-मूँछ का चेहरा, समुचित ढला हुआ सामान्य का।र, सफ़ेद दाँत और सुन्दर ढंग से गढ़े हुए ओठ, जो साधारणतः बात करते : कृपापूर्ण मुसकान के रूप में खुले रहते हैं। उनके संतुलित सिर पर नारंगी । लाल रंग की पगड़ी शोभायमान होती है और उनका चोग़ा (जो इस का वास्तविक नाम नही है) कमरबन्द से वँधा हुआ है और घुटनों के

नीचे गिरता है। वह कभी चमकीले नारंगी के रंग का और कभी गहरे लाल रंग का होता है। वे उत्तम अंग्रेज़ी बोलते हैं और उन्होंने किसी भी गम्भीरता से पूछे गये प्रश्न का उत्तर दिया।

सरल व्यवहार के साथ साथ जब वे स्त्रियों से बात करते हैं, तब उनमें एक व्यक्तिगत आत्मसंयम की झलक दृष्टिगत होती है, जो उनके द्वारा स्वीकृत जीवन की परिचायक है। जब उनके 'आश्रम' के नियमों के बारे में पूछा गया, तब उन्होंने बताया, "मैं जो चाहूँ कर सकता हूँ, मैं मुक्त हूँ। कभी मैं हिमालय पर्वत पर रहता हूँ और कभी नगरों की सड़कों पर। मुझे नहीं मालूम कि मेरा अगला भोजन कहाँ मिलेगा। मैं अपने पास पैसा कभी नहीं रखता। मैं यहाँ चन्दे के द्वारा आता हूँ। तब निकट खड़े हुए अपने एक-दो देशवासियों की ओर देखते हुए उन्होंने कहा, "मेरा प्रबंध ये लोग करेंगे" और संकेत किया कि शिकागो में उनके भोजन का बिल दूसरों को चुकाना होगा। यह पूछे जाने पर कि क्या आप संन्यासी की सामान्य पोशाक पहने हुए हैं, उन्होंने बताया, "यह अच्छी पोशाक है, जब मैं स्वदेश में रहता हूँ, मैं कुछ टुकड़े पहनता हूँ और नंगे पाँव चलता हूँ। क्या मैं जाति मानता हूँ? जाति एक सामाजिक प्रथा है, धर्म का इससे कोई सम्बन्ध नहीं। सभी जातियाँ मुझसे सम्पर्क रख सकती हैं।"

श्री विवेकानन्द के व्यवहार और उनकी सामान्य आकृति से यह बिलकुल स्पष्ट है कि उनका जन्म उच्च वंश में हुआ है—ऐच्छिक निर्धनता और गृहविहीन विचरण के अनेक वर्ष उन्हें एक भद्र पुरुष के जन्मसिद्ध अधिकार से वंचित नहीं कर सके; उनका घर का नाम भी विख्यात नहीं है: विवेकानन्द नाम उन्होंने धार्मिक जीवन स्वीकार करने पर रखा और 'स्वामी' तो केवल उनके प्रति श्रद्धा की जाने के कारण दी हुई एक उपाधि है। उनकी उम्र तीस से बहुत अधिक न होगी और वे ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो वे इसी जीवन और इसकी सिद्धि के लिए तथा इस जीवन के परे जो कुछ है, उसके चिन्तन के लिए बने हों। यह सोचकर कि उनके जीवन का क्या मोड़ रहा होगा, अवश्य ही आश्चर्य होता है।

संन्यासी होने पर उनके सर्वस्व त्याग पर की गयी एक टिप्पणी पर उन्होंने सहसा उत्तर दिया, "जब मैं प्रत्येक स्त्री में केवल दिव्य माँ को ही देखता हूँ, तब मैं विवाह क्यों करूँ? मैं यह सब त्याग क्यों करता हूँ? अपने को सांसारिक बंधनों और आसक्तियों से मुक्त करने के लिए, जिससे कि मेरा पुनर्जन्म न हो। मृत्यु के बाद मैं अपने आपको परमात्मा में मिला देना चाहता हूँ, परमात्मा के साथ एक। मैं 'बुद्ध' हो जाऊँगा।"

(डेली सैराटॉजियन, ६ सितम्बर, १८९३)

...इसके वाद मंच पर मद्रास, हिन्दुस्तान के संन्यासी 'विव कानन्द उपस्थित हुए, जिन्होंने भारत भर में उपदेश दिया है। उनकी सामाजिक विज्ञान में अभिरुचि है और वे मेधावी तथा सुन्दर वक्ता हैं। उन्होंने भारत में मुस्लिम शासन पर भाषण दिया।

आज के कार्यक्रम में कुछ रोचक विषय सम्मिलित हैं और हार्टफ़ोर्ड के जैकब ग्रीन के द्वारा, 'विमेटालिज़्म' पर भाषण विशेष रोचक है। इस अवसर पर विव कानन्द पुनः भारत में चाँदी के उपयोग पर भाषण देंगे।

समारोह में हिन्दू

(वोस्टन इवनिंग ट्रांस्क्रिप्ट, ३० सितम्वर, १८९३)

शिकागो, २३ सितम्बर:

'आर्ट पैलेस के प्रवेश-द्वार की वायीं ओर एक कमरा है, जिस पर 'नं० १— वाहर रहिए' अंकित है। यहाँ यदा-कदा 'धर्म-सम्मेलन' में आये हुए प्रतिनिधि आते हैं, या तो परस्पर वार्तालाप के लिए या अध्यक्ष वोने से वात करने के लिए, जिनका इस हिस्से के एक कोने में व्यक्तिगत कार्यालय है। मुड़नेवाले द्वारों की जनता से रक्षा कठोरता से की जाती है और सामान्यतः लोग काफ़ी दूर खड़े रहते हैं, जिससे कि वे भीतर नहीं झाँक सकते। उस पवित्र हाते में केवल प्रतिनिधि ही प्रवेश कर सकते हैं, किन्तु 'प्रवेश-पत्र' प्राप्त कर लेना और 'हाल ऑफ़ कोलम्वस' के मंच की अपेक्षा सम्मानित अतिथियों से थोड़े समय की निकटता स्थापित करने का अवसर प्राप्त कर लेना कठिन नहीं है।

इस प्रतीक्षा-कक्ष में सबसे आकर्षक व्यक्ति ब्राह्मण संन्यासी स्वामी विवेकानन्द से भेंट होती है। वे लम्वे और सुगठित शरीरवाले है तथा हिन्दुस्तानियों का उन्नत व्यवहार उनमें है। विना दाढ़ी-मूंछ का चेहरा, समुचित ढला हुआ सामान्य आकार, सफ़ेद दाँत और सुन्दर ढंग से गढ़े हुए ओठ, जो साधारणतः बात करते समय कृपापूर्ण मुसकान के रूप में खुले रहते हैं। उनके संतुलित सिर पर नारंगी अथवा लाल रंग की पगड़ी शोभायमान होती है और उनका चोग़ा (जो इस वस्त्र का वास्तविक नाम नहीं है) कमरवन्द से वँधा हुआ है और घुटनों के

नीचे गिरता है। वह कभी चमकीले नारंगी के रंग का और कभी गहरे लाल रंग का होता है। वे उत्तम अंग्रेजी वोलते हैं और उन्होंने किसी भी गम्भीरता से पूछे गये प्रश्न का उत्तर दिया।

सरल व्यवहार के साथ साथ जब वे स्त्रियों से वात करते हैं, तव उनमें एक व्यक्तिगत आत्मसंयम की झलक दृष्टिगत होती है, जो उनके द्वारा स्वीकृत जीवन की परिचायक है। जब उनके 'आश्रम' के नियमों के वारे में पूछा गया, तव उन्होंने वताया, "मैं जो चाहूँ कर सकता हूँ, मैं मुक्त हूँ। कभी मैं हिमालय पर्वत पर रहता हूँ और कभी नगरों की सड़कों पर। मुझे नहीं मालूम कि मेरा अगला भोजन कहाँ मिलेगा। मैं अपने पास पैसा कभी नहीं रखता। मैं यहाँ चन्दे के द्वारा आता हूँ। तव निकट खड़े हुए अपने एक-दो देशवासियों की ओर देखते हुए उन्होंने कहा, "मेरा प्रवंध ये लोग करेंगे" और संकेत किया कि शिकागो में उनके भोजन का विल दूसरों को चुकाना होगा। यह पूछे जाने पर कि क्या आप संन्यासी की सामान्य पोशाक पहने हुए हैं, उन्होंने वताया, "यह अच्छी पोशाक है, जव मैं स्वदेश में रहता हूँ, मैं कुछ टुकड़े पहनता हूँ और नंगे पाँव चलता हूँ। क्या मैं जाति मानता हूँ? जाति एक सामाजिक प्रथा है, धर्म का इससे कोई सम्वन्ध नहीं। सभी जातियाँ मुझसे सम्पर्क रख सकती है।"

श्री विवेकानन्द के व्यवहार और उनकी सामान्य आकृति से यह विल्कुल स्पष्ट है कि उनका जन्म उच्च वंश में हुआ है—ऐच्छिक निर्धनता और गृहविहीन विचरण के अनेक वर्ष उन्हें एक भद्र पुरुष के जन्मसिद्ध अधिकार से वंचित नहीं कर सके; उनका घर का नाम भी विख्यात नही है: विवेकानन्द नाम उन्होंने धार्मिक जीवन स्वीकार करने पर रखा और 'स्वामी' तो केवल उनके प्रति श्रद्धा की जाने के कारण दी हुई एक उपाधि है। उनकी उम्र तीस से बहुत अधिक न होगी और वे ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो वे इसी जीवन और इसकी सिद्धि के लिए तथा इस जीवन के परे जो कुछ है, उसके चिन्तन के लिए बने हों। यह सोचकर कि उनके जीवन का क्या मोड़ रहा होगा, अवश्य ही आश्चर्य होता है।

संन्यासी होने पर उनके सर्वस्व त्याग पर की गयी एक टिप्पणी पर उन्होंने सहसा उत्तर दिया, "जव मैं प्रत्येक स्त्री में केवल दिव्य माँ को ही देखता हूँ, तव मैं विवाह क्यों करूँ? मैं यह सव त्याग क्यों करता हूँ? अपने को सांसारिक वंधनों और आसक्तियों से मुक्त करने के लिए, जिससे कि मेरा पुनर्जन्म न हो। मृत्यु के वाद मैं अपने आपको परमात्मा में मिला देना चाहता हूँ, परमात्मा के साथ एक। मैं 'बुद्ध' हो जाऊँगा।"

विवेकानन्द का इससे यह आशय नहीं है कि वे बौद्ध हैं। उन पर किसी भी नाम या जाति की छाप नहीं पड़ सकती। वे उच्चतर ब्राह्मणवाद की एक देन हैं, हिन्दुत्व के परिणाम हैं, जो विस्तृत, स्वप्नदर्शी एवं आत्मत्यागपरायण हैं। वे संन्यासी अथवा पूतात्मा हैं।

उनके पास कुछ पुस्तिकाएँ हैं, जिन्हें वे वितरित करते हैं। वे अपने गुरुदेव परमहंस रामकृष्ण के सम्बन्ध में हैं। वे एक हिन्दू भक्त थे, जिन्होंने अपने श्रोताओं और शिष्यों पर ऐसा प्रभाव डाला था कि उनमें से अनेक उनकी मृत्यु के बाद संन्यासी हो गये थे। मजूमदार भी इस संत को अपना गुरु मानते थे, किन्तु वे, जैसा कि ईसा ने उपदेश दिया है, विश्व में वह पवित्रता लाने के लिए कार्य करते हैं, जो इस जगत् में होगी, किन्तु जो इस जगत् की नहीं है।

सम्मेलन में विवेकानन्द का भाषण आकाश की भाँति विस्तीर्ण था, उसमें सभी धर्मों की सर्वोत्तम बातों का एक अंतिम विश्वधर्म के रूप में समावेश था—मानवता के प्रति प्रेम, ईश्वर-प्रेम के लिए सत्कार्य, न कि दंड के भय से अथवा लाभ की आशा से। सम्मेलन में वे अपने भावों की और आकृति की भव्यता के कारण बड़े जनप्रिय हैं। उनके मंच पर आने मात्र पर हर्षध्वनि होने लगती है और हजारों व्यक्तियों का यह विशिष्ट सम्मान वे बालसुलभ संतोष की भावना से स्वीकार करते हैं, उनमें गर्व की तनिक भी झलक नहीं होती। निर्धनता एवं आत्म-त्याग से सहसा इस वैभव और उत्कर्ष में पहुँच जाना इस विनम्र युवक ब्राह्मण संन्यासी के लिए भी अवश्य ही एक अजीब अनुभव होगा। जब यह पूछा गया कि क्या वे हिमालय में रहनेवाले उन 'भ्राताओं' के बारे में जानते हैं, जिनके प्रति थियोसॉफ़िस्ट इतना दृढ़ विश्वास रखते हैं, उन्होंने सहज ही उत्तर दिया, "मेरी उनमें से किसी से भी भेंट नहीं हुई", जिसका आशय यह भी था कि "ऐसे लोग हो सकते हैं और यद्यपि मैं हिमालय से परिचित हूँ, पर अभी उनसे मेरा मिलना नहीं हुआ।"

धर्म-महासभा के अवसर पर

(ड्यूबक, आइवा, टाइम्स, २९ सितम्बर, १८९३)

विश्व-मेला, २८ सितम्बर (विशेष):

अब धर्म-महासभा उस स्थान पर पहुँची, जहाँ तीव्र कटुता उत्पन्न हो गयी। निस्संदेह शिष्टाचार का पतला परदा बना रहा, किन्तु इसके पीछे दुर्भावना

विद्यमान थी। रेवरेन्ड जोसेफ़ कुक ने हिन्दुओं की तीव्र आलोचना की और बदले में उनकी भी आलोचना हुई। उन्होंने कहा, विना रचे गये विश्व की बात करना प्रायः अक्षम्य प्रलाप है, और एशियावालों ने प्रत्युत्तर दिया कि ऐसा विश्व जिसका प्रारम्भ है, एक स्वयंसिद्ध वेतुकापन है। विशप जे० पी० न्यूमैन ने ओहियो तट से दूर तक जानेवाली गोली चलाते हुए घोषणा की कि पूर्ववालों ने मिशनरियों के प्रति भ्रान्त कथन करके संयुक्त राष्ट्र के समस्त ईसाइयों का अपमान किया है और पूर्ववालों ने अपनी उत्तेजक शान्ति और अति उद्धत मुसकान के द्वारा उत्तर दिया कि यह केवल विशप का अज्ञान है।

बौद्ध दर्शन

सीधे प्रश्न के उत्तर में तीन विद्वान् बौद्धों ने विशेष रूप से सरल और सुन्दर भाषा में ईश्वर, मनुष्य और जड़-पदार्थ के सम्बन्ध में अपने मूल विश्वास प्रकट किये।

(इसके उपरान्त धर्मपाल के निबंध 'बुद्ध के प्रति विश्व का ऋण' (The world's Debt to Buddha) का सारांश है। धर्मपाल ने अपने इस निबंध पाठ का आरम्भ, जैसा हमें एक अन्य स्रोत से ज्ञात होता है, शुभकामना का एक सिंहली गीत गाकर किया। लेख फिर चालू रहता है:)

उनकी (धर्मपाल की) वक्तृता को शिकागो के श्रोताओं द्वारा सुनी गयी वक्तृताओं में सुन्दरतम में रखा जा सकता है। डेमस्थेनीज़ भी इससे अधिक कुछ नहीं कर सका था।

कटु उक्ति

हिन्दू संन्यासी स्वामी विवेकानन्द इतने सौभाग्यशाली न थे। वे असन्तुष्ट थे अथवा प्रत्यक्षतः शीघ्र ही हो गये थे। वे नारंगी रंग की पोशाक में थे और पीली पगड़ी बाँधे हुए थे तथा उन्होंने तुरन्त ईसाई राष्ट्रों पर इन शब्दों के साथ भीषण आक्रमण किया: "हम पूर्व से आनेवाले लोग इतने दिन यहाँ बैठे और हमको संरक्षकतात्मक ढंग से बताया गया कि हमें ईसाई धर्म स्वीकार कर लेना चाहिए, क्योंकि ईसाई राष्ट्र सर्वाधिक सम्पन्न हैं। हम अपने चारों ओर देखते हैं, तो पाते हैं कि इंग्लैण्ड दुनिया में सबसे अधिक सम्पन्न ईसाई देश है, जिसका पैर २५ करोड़ (?) एशियावासियों की गरदन पर है। हम इतिहास की ओर मुड़कर देखते हैं, तो पता चलता है कि ईसाई यूरोप की समृद्धि का प्रारम्भ स्पेन से हुआ।

स्पेन की समृद्धि का श्रीगणेश मेक्सिको के ऊपर किये गये आक्रमण से हुआ। ईसाइयत अपने भाइयों का गला काटकर अपनी समृद्धि की सिद्धि प्राप्त करती है। हिन्दू इस क़ीमत पर अपनी उन्नति नहीं चाहेंगे।"

इसी प्रकार वे लोग बोलते गये। प्रत्येक आनेवाला वक्ता मानो और अधिक कटु होता गया।

* * *

(आउटलुक, ७ अक्तूबर, १८९३)

गहरे नारंगी रंग की साधुओं की पोशाक पहने हुए विवेकानन्द ने भारत में ईसाइयों के कार्य की बुरी तरह खबर ली। वे ईसाई मिशनरियों के कार्य की आलोचना करते हैं। यह स्पष्ट है कि उन्होंने ईसाई धर्म के अध्ययन का प्रयत्न नहीं किया है, किन्तु जैसा कि वे दावा करते हैं, उसके पुरोहितों ने भी उनके मतों और सहस्रों वर्षो के जाति-विभेदों को समझने का प्रयत्न नहीं किया है। उनके मतानुसार वे केवल उनके अति पवित्र विश्वासों के प्रति घृणा प्रदर्शित करने के लिए और अपने देशवासियों को उनके द्वारा दी जानेवाली नैतिकता और आध्यात्मिकता की शिक्षा की जड़ काटने के लिए आये हैं।

* * *

(क्रिटिक, ७ अक्तूबर, १८९३)

किन्तु सम्मेलन के सबसे अधिक प्रभावशाली व्यक्ति लंका के बौद्ध भिक्षु एच० धर्मपाल और हिन्दू संन्यासी स्वामी विवेकानन्द थे। प्रथम ने तीखेपन से कहा, "यदि धर्मशास्त्र और धर्म-सिद्धान्त तुम्हारे सत्य की खोज के मार्ग में बाधक हैं, तो उन्हें अलग रख दो। निष्पक्षतापूर्वक सोचना, सभी प्राणियों से प्रेम के लिए प्रेम करना और पवित्र जीवन व्यतीत करना सीखो। तब सत्य का प्रकाश तुम्हें आलोकित कर देगा।" यद्यपि सभा में होनेवाले बहुत से संक्षिप्त भाषण वाक्पटुता से युक्त थे और जिनके विजयोल्लास की समुचित पराकाष्ठा हैलेलुजा कोरस के अपोलो क्लब के द्वारा उत्कृष्ट प्रस्तुति में हुई, तथापि जितनी अच्छी तरह सम्मेलन की भावनाओं, सीमाओं और सुन्दर प्रभावों को हिन्दू संन्यासी ने व्यक्त किया,

उतना और किसीने भी नहीं किया। मैं उनके भाषण की पूरी प्रतिलिपि दे रहा हूँ, किन्तु मैं श्रोताओं पर उसके प्रभाव मात्र की ओर संकेत कर सकता हूँ, क्योंकि वे दैवी अधिकार द्वारा सिद्ध वक्ता हैं। उनका सुदृढ़ बुद्धिसम्पन्न चेहरा, पीले और नारंगी रंग के वस्त्रों की रंगीन पृष्ठभूमि में उनके द्वारा उद्घोषित हृदयस्पृत शब्दों और लयपूर्ण वक्तव्यों से कुछ कम आकर्षक नहीं था। . . . [स्वामी जी के अंतिम भाषण के एक बड़े अंश के उद्धरण के पश्चात् लेख आगे चलता है :]

सम्भवतः सम्मेलन का सर्वाधिक प्रत्यक्ष परिणाम विदेशी मिशनों (धर्मप्रचार संघों) के सम्बन्ध में लोगों के हृदय में भावना उत्पन्न करना था। विद्वान् पूर्ववासियों को शिक्षा देने के लिए अर्धशिक्षित विद्यार्थियों को भेजने की धृष्टता अंग्रेजी भाषा-भाषी जनता के सामने इतनी प्रबलता से कभी भी स्पष्ट नहीं हुई थी। केवल सहिष्णुता और सहानुभूति की भावना से ही हमें उनके विश्वासों को प्रभावित करने की स्वतन्त्रता है, और इन गुणोंवाले उपदेशक बहुत कम हैं। यह समझ लेना आवश्यक है कि हमें बौद्धों से ठीक उतना ही सीखना है, जितना कि उन्हें हमसे और केवल सामंजस्य द्वारा ही उच्चतम प्रभाव डाला जा सकता है।

शिकागो, ३ अक्तूबर, १८९३ — लूसी मोनरो

* * *

जब हमने स्पष्ट रूप से यह देख लिया, तब शीघ्र ही उनके व्याख्याताओं में हमारी रुचि उत्पन्न हुई और एक विशेष उत्सुकता के साथ हम ज्ञान की खोज के लिए अग्रसर हुए। महासम्मेलन की समाप्ति पर इसे प्राप्त करने का सबसे अधिक सुलभ साधन स्वामी विवेकानन्द के भाषण और प्रवचन थे, जो अब भी इस शहर (शिकागो) में हैं। उनका इस देश में आने का मूल उद्देश्य अमेरिकावालों को हिन्दुओं में नये उद्योगों को स्थापित करने के लिए प्रेरित करना था, किन्तु फ़िलहाल उन्होंने इसे स्थगित कर दिया है, क्योंकि उनका अनुभव है कि 'अमेरिकन लोग दुनिया में सबसे अधिक दानशील हैं', अतः प्रत्येक उद्देश्ययुक्त व्यक्ति उसे कार्यान्वित करने के लिए यहाँ सहायता प्राप्त करने आता है। जब उनसे यहाँ के और भारत के ग़रीबों की तुलनात्मक दशा के बारे में पूछा गया, तब उन्होंने बताया कि हमारे (अमेरिका के) ग़रीब वहाँ राजा होंगे और यहाँ के ख़राब से ख़राब मुहल्ले में जाने पर वे उन्हें अपने दृष्टिकोण से सुखप्रद और सुन्दर ही लगे।

ब्राह्मणों में ब्राह्मण विवेकानन्द ने संन्यासियों के भ्रातृमण्डल में प्रवेश करने के लिए अपने वर्ग का परित्याग कर दिया; वहाँ समस्त जात्यभिमान स्वेच्छा से त्याग दिया जाता है। तो भी उनके व्यक्तित्व पर उनकी जाति के चिह्न विद्यमान हैं। उनकी संस्कृति, उनकी वाग्मिता और उनके आकर्षक व्यक्तित्व ने हमें हिन्दू सभ्यता का एक नया भाव प्रदान किया। वे एक रोचक व्यक्ति हैं और पीले वस्त्रों की भूमिका में उनका सुन्दर, बुद्धिमत्तापूर्ण, क्रियाशील चेहरा तथा गम्भीर संगीतमय स्वर किसीको भी तुरन्त अपने पक्ष में आकृष्ट कर लेता है। अतः इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि बुद्ध के जीवन तथा उनके मत के सिद्धान्तों का हम लोगों द्वारा परिचय प्राप्त कर लेने तक उन्हें साहित्य गोष्ठियों के द्वारा अपनाया गया है और उन्होंने गिरजाघरों में उपदेश तथा भाषण दिये हैं। वे बिना कुछ लिखे हुए भाषण देते हैं तथा अपने तथ्यों और निष्कर्षों को श्रेष्ठतम कला एवं अति विश्वसनीय सदाशयता के साथ प्रस्तुत करते हैं; कभी कभी सुन्दर एवं प्रेरक वाग्मिता के स्तर पर पहुँच जाते हैं। देखने में वे अति कुशल जेसुइट की भाँति विद्वान् और सुसंस्कृत होते हुए अपने मानसिक गठन में कुछ जेसुइट तत्त्व रखते हैं। किन्तु यद्यपि उनके द्वारा अपने भाषणों में छोड़े जानेवाले छोटे छोटे व्यंग तलवार से भी अधिक तेज़ होते हैं, वे इतने सूक्ष्म होते हैं कि उनके बहुत से श्रोता उन्हें समझ नहीं पाते। सब कुछ होते हुए वे शिष्टाचार में कभी नहीं चूकते, क्योंकि उनके ये प्रहार कभी भी हमारी प्रथाओं पर इतने सीधे नहीं पड़ते कि वे कठोर प्रतीत हों। सम्प्रति वे हमें अपने धर्म एवं उसके दार्शनिकों के विचार से अवगत कराने के कार्य से ही संतुष्ट हैं। वे उस समय की प्रतीक्षा में हैं, जब हम मूर्तिपूजा के स्तर से आगे

बढ़ जायँगे—उनके मत से यह इस समय ज्ञानविहीन वर्गों के लिए आवश्यक है—पूजा से परे, प्रकृति में ईश्वर की विद्यमानता और मानव के दायित्व और दिव्यत्व के भी ज्ञान से परे। "अपना मोक्ष अपने आप उपलब्ध करो", वे बुद्ध की मृत्यु के समय के वचनों के साथ कहते हैं, "मैं तुम्हें सहायता नहीं दे सकता। कोई भी मनुष्य तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता। अपनी सहायता स्वयं करो।"

—लूसी मोनरो

* * *

पुनर्जन्म

(इवैन्स्टन इन्डेक्स, ७ अक्तूबर, १८९३)

पिछले सप्ताह 'काँग्रेगेशनल चर्च' में भाषणों का कुछ ऐसा क्रम रहा है, जिसका ढंग अभी समाप्त हुए धर्म-महासभा से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। वक्ता स्वेडन के डॉ० कार्ल वॉन बरगेन तथा हिन्दू संन्यासी विवेकानन्द थे।...स्वामी विवेकानन्द धर्म-महासभा में आये हुए भारतीय प्रतिनिधि हैं। अपनी नारंगी रंग की विशिष्ट पोशाक, चुम्बकीय व्यक्तित्व, कुशल वक्तृता और हिन्दू दर्शन की विस्मयकारक व्याख्या के कारण उन्होंने बहुत अधिक लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। जब से वे शिकागो में हैं, उनका उल्लासपूर्ण स्वागत हो रहा है। इन भाषणों का क्रम तीन दिन संध्या काल चलने के लिए आयोजित किया गया।

[शनिवार और मंगलवार के भाषण बिना किसी टिप्पणी के उद्धृत किये गये; पश्चात् लेख आगे चलता है :]

बृहस्पतिवार, अक्तूबर ५ की शाम को डॉ० वॉन बरगेन 'स्वेडन की राज-पुत्रियों के स्थापनकर्ता, हल्डाइन बीमिश' के ऊपर बोले तथा हिन्दू संन्यासी ने 'पुनर्जन्म' विषय पर विचार किया। दूसरे (वक्ता) बड़े रोचक थे, क्योंकि उनके विचार ऐसे थे, जैसे कि पृथ्वी के इस भाग में बहुधा सुनने में नहीं आते। पुनर्जन्म का सिद्धान्त यद्यपि इस देश के लिए नया और न समझ में आनेवाला सा है, तथापि प्रायः सभी धर्मों का आधार होने के कारण पूर्व में सुविख्यात है। जो इसे धर्म-सिद्धान्त के रूप में नहीं मानते, वे भी इसके विरोध में कुछ नहीं कहते। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में सबसे मुख्य बात इस बात का निर्णय करने में है कि हमारा कोई

अतीत भी है। हमें विदित है कि हमारा वर्तमान है और भविष्य के होने के सम्बन्ध में हमें विश्वास है। किन्तु बिना अतीत के वर्तमान कैसे सम्भव है? आधुनिक विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि जड़ पदार्थ है और बना रहता है। सृष्टि केवल उसका रूपांतर है। हमारा उद्‌भव शून्य से नहीं हुआ। कुछ लोग ईश्वर को प्रत्येक वस्तु का सर्वनिष्ठ कारण मानते हैं और इसे अस्तित्व का पर्याप्त हेतु समझते हैं। परन्तु प्रत्येक वस्तु में हमें दृश्य-रूप का विचार करना चाहिए कि कहाँ से और किससे जड़ पदार्थ उद्‌भूत होता है। जो तर्क इस बात को सिद्ध करता है कि भविष्य है, वही इस बात को भी सिद्ध करता है कि अतीत है। यह आवश्यक है कि ईश्वर की इच्छा के अतिरिक्त अन्य कारण हों। आनुवंशिकता पर्याप्ति कारण प्रदान करने में असमर्थ है। कुछ लोग कहते हैं कि हमें पिछले अस्तित्व का ज्ञान नहीं है। बहुत से ऐसे उदाहरण मिले हैं, जिनमें अतीत की स्पष्ट स्मृति मिलती है। यहीं इस सिद्धान्त के बीजाणु विद्यमान हैं। हिन्दू मूक पशुओं के प्रति दयालु हैं, इस कारण बहुत से लोग यह सोचते हैं कि हम लोग निम्नतर योनियों में आत्मा के पुनर्जन्म पर विश्वास करते हैं। वे दया को अंधविश्वास के परिणाम के अतिरिक्त अन्य किसी कारण से उद्‌भूत मानने में असमर्थ हैं। एक प्राचीन हिन्दू पंडित, जो कुछ हमें ऊपर उठाता है उसे, धर्म कहता है। पशुता बहिष्कृत हो जाती है और मानवता दिव्यता के लिए मार्ग प्रशस्त करती है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त मनुष्य को इस छोटी सी पृथ्वी तक ही सीमित नहीं कर देता। उसकी आत्मा दूसरी उच्चतर पृथ्वियों में जा सकती है, जहाँ उसका उच्चतर अस्तित्व होगा, पाँच इन्द्रियों के बजाय आठ इन्द्रियोंवाला होगा और इस तरह बना रहकर वह अन्त में पूर्णता और दिव्यता की पराकाष्ठा तक पहुँचेगा और 'परमानन्द के द्वीप' में विस्मरण को पीकर छक सकेगा।

* * *

हिन्दू सभ्यता

[यद्यपि ९ अक्तूबर को स्ट्रियेटर में दिया गया भाषण श्रोताओं की एक अच्छी संख्या द्वारा सुना गया, पर ९ अक्तूबर के 'स्ट्रियेटर डेली फ़्री प्रेस' ने निम्नलिखित नीरस सी टिप्पणी प्रकाशित की:]

'आपेरा हाउस' में इस सुविख्यात हिन्दू का भाषण अत्यन्त रोचक था। उन्होंने तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के द्वारा आर्य जातियों और अमेरिका में उनके वंशजों के बीच के चिरस्वीकृत सम्बन्ध को सिद्ध करने का प्रयत्न किया। उन्होंने तीन-चौथाई जनता को नितान्त अपमानजनक पराधीनता में रखनेवाली जाति-प्रथा का नरमी के साथ समर्थन किया और गर्वपूर्वक कहा कि आज का भारत वही भारत है, जिसके शताब्दियों से दुनिया के उल्का के समान राष्ट्रों को अन्तरिक्ष में चमकते हुए और विस्मृति के गर्भ मे डूबते हुए देखा है। जनसाधारण की भाँति उन्हें अतीत से प्रेम है। उनका जीवन अपने लिए नहीं, अपितु ईश्वर के लिए है। उनके देश में भिक्षावृत्ति और भ्रमणशीलता को बहुत बड़ी बात समझा जाता है, यद्यपि यह बात उनके भाषण में इतनी प्रमुख नहीं थी। जब भोजन तैयार हो जाता है, तब लोग किसी ऐसे व्यक्ति के आने की प्रतीक्षा करते हैं, जिसे पहले भोजन कराया जाय, इसके पश्चात् पशु, नौकर, गृहस्वामी और सबसे बाद घर की स्त्रियाँ। दस वर्ष की अवस्था में बालकों को ले लिया जाता है और गुरु के पास दस अथवा बीस वर्ष तक रखते हैं, उन्हें शिक्षा दी जाती है और अपने पहले के पेशे में लग जाने के लिए भेज दिया जाता है, अथवा वे निरन्तर भ्रमण, प्रवचन, उपासना के जीवन को स्वीकार करते हैं; वे अपने साथ खाने-पहनने की दी हुई वस्तु मात्र रखते हैं, धन को कभी स्पर्श नही करते। विवेकानन्द पिछले वर्ग के हैं। वृद्धावस्था आने पर लोग संसार से संन्यास ले लेते है और कुछ समय अध्ययन और उपासना में लगाकर वे भी धर्म-प्रचार के लिए निकल पड़ते है। उन्होंने कहा कि बौद्धिक विकास के लिए अवकाश आवश्यक है और अमेरिका के आदिवासियों को, जिन्हें कोलम्बस ने जंगली दशा में पाया था, अमेरिकावालों के द्वारा शिक्षित न किये जाने की आलोचना की। इसमें उन्होंने परिस्थितियों के ज्ञान के अभाव का प्रदर्शन किया। उनका भाषण निराशाजनक रूप से संक्षिप्त था और जो कुछ कहा गया, उसकी अपेक्षा बहुत कुछ महत्त्वपूर्ण प्रतीत होनेवाली बातें छूट गयी थीं'[1]?

एक रोचक भाषण

(विस्कोन्सिन स्टेट जर्नल, २१ नवम्बर, १८९३)

पिछली रात कांग्रेगेशनल चर्च (मैडिसन) में विद्वान हिन्दू संन्यासी विवेकानन्द द्वारा दिया हुआ भाषण अत्यन्त रोचक था और उसमें ठोस दर्शन और श्रेष्ठ

१. उपर्युक्त रिपोर्ट से यह स्पष्ट है कि किसी न किसी कारण से अमरीकी प्रेस ने स्वामी जी का सदैव उत्साहपूर्ण स्वागत नहीं किया। स०

धर्म की बहुत सी बातें थीं। यद्यपि वे मूर्तिपूजक कहे जा सकते हैं, पर ईसाई धर्म उनके द्वारा प्रदत्त अनेक शिक्षाओं का अनुसरण कर सकता है। उनका धर्म विश्व की तरह व्यापक है, जिसमें सभी धर्मों और कहीं भी पाये जानेवाले सत्य का समावेश है। उन्होंने इस बात की घोषणा की कि 'भारतीय धर्म' में धर्मान्धता, अंधविश्वास और जड़ विधि-विधान का कोई स्थान नहीं है।

*　　　　*　　　　*

हिन्दू धर्म

(मिनियापोलिस स्टार, २५ नवम्बर, १८९३)

पिछली शाम को फ़र्स्ट यूनिटेरियन चर्च (मिनियापोलिस) में हिन्दू धर्म की व्याख्या करते समय प्राचीन एवं सनातन सिद्धान्तों के मूर्त रूप होने के कारण समस्त सूक्ष्म आकर्षणों से समन्वित ब्राह्मण धर्म स्वामी विव कानन्द के भाषण का विषय था। यह ऐसे श्रोताओं का समुदाय था, जिसमें विचारशील स्त्री-पुरुष सम्मिलित थे, क्योंकि यह भाषण 'पेरिपैटेटिक्स' द्वारा आमंत्रित किया गया था और जिन मित्रों को उनके साथ यह सौभाग्य प्राप्त हुआ था, उनमें विभिन्न श्रेणियों के पुरोहित, विद्वान् और विद्यार्थी सम्मिलित थे। विव कानन्द एक ब्राह्मण साधु हैं और वे मंच पर अपने देश की पोशाक—सिर पर पगड़ी, नारंगी रंग का कोट, जो कमर पर लाल बंद से कसा हुआ था और लाल अधोवस्त्र—पहने हुए, आसीन थे।

उन्होंने धीरे धीरे और स्पष्ट बोलते हुए तथा द्रुतगति की अपेक्षा वाणी की सौम्यता के द्वारा अपने श्रोताओं को क़ायल करते हुए अपने धर्म को पूरी ईमानदारी के साथ सामने रखा। उनके शब्द सावधानी से चुने हुए थे और प्रत्येक शब्द अपना अर्थ प्रत्यक्ष ही व्यक्त करता था। उन्होंने हिन्दू धर्म के सरलतम सत्यों को प्रस्तुत किया और यद्यपि ईसाई धर्म के प्रति कोई कड़ी बात नहीं कही, फिर भी उसकी ओर ऐसे संकेत अवश्य किये, जिससे ब्रह्म का धर्म सर्वोपरि ठहराया गया। हिन्दू धर्म का सर्वव्यापी विचार तथा प्रमुख सिद्धान्त आत्मा का अन्तर्निहित दिव्यत्व है। आत्मा पूर्ण है और धर्म मनुष्य में पहले से ही विद्यमान दिव्यत्व की अभिव्यक्ति है। वर्तमान, अतीत और भविष्य के तथा मनुष्य की दो प्रवृत्तियों के बीच में एक विभाजन रेखा मात्र है। यदि सत् प्रबल होता है, वह उच्चतर लोक प्राप्त करता है और यदि असत् शक्तिशाली हो जाता है, तो

उसका पतन होता है। उसके भीतर ये दोनों प्रवृत्तियाँ निरन्तर क्रियाशील रहती हैं—जो कुछ उसे उठाता है, वह शुभ है और जो कुछ उसे गिराता है, वह अशुभ है।

कानन्द कल प्रातःकाल 'फ़र्स्ट यूनिटेरियन चर्च' में भाषण देंगे।

*　　　　*　　　　*

(डेस मोइन्स न्यूज़, २८ नवम्बर, १८९३)

पिछली रात्रि (२७ नवम्बर) सुदूर भारतवर्ष के प्रतिभाशाली विद्वान् स्वामी विवेकानन्द ने सेन्ट्रल चर्च में भाषण दिया। शिकागो में विश्व-मेला के अवसर पर आयोजित हाल के धर्म-सम्मेलन में वे अपने देश और धर्म के प्रतिनिधि थे। रेवरेण्ड एच० ओ० ब्रीडन ने श्रोताओं से उनका परिचय कराया। वे उठे और उन्होंने श्रोताओं को नमस्कार करके अपना भाषण प्रारम्भ किया, जिसका विषय 'हिन्दू धर्म' था। उनका भाषण किसी विचारधारा से सीमित नहीं था, किन्तु उसमें अधिकतर उनके धर्म तथा दूसरों के धर्मों से सम्बन्धित दार्शनिक विचार थे। उनका मत है कि पूर्ण ईसाई बनने के लिए व्यक्ति को सभी धर्मों को अंगीकार करना चाहिए। जो एक धर्म में प्राप्य नहीं है, उसकी दूसरे धर्म के द्वारा पूर्ति होती है। सच्चे ईसाई के लिए वे सब ठीक और आवश्यक हैं। जब तुम हमारे देश को कोई धर्मप्रचारक भेजते हो, तब वह हिन्दू ईसाई बन जाता है और मैं ईसाई हिन्दू। मुझसे इस देश में बहुधा पूछा गया है कि क्या मैं यहाँ लोगों का धर्म-परिवर्तन करूँगा। मैं इसे अपमानजनक समझता हूँ। मैं धर्म-परिवर्तन जैसे विचार में विश्वास नहीं रखता।[1] आज एक पापी मनुष्य है, तुम्हारे विचारानुसार कल वह धर्मात्मा हो सकता है और क्रमशः वह पवित्रता की स्थिति तक पहुँच सकता है। यह परिवर्तन किस कारण होता है? तुम इसकी व्याख्या किस प्रकार करोगे। उस मनुष्य की नयी आत्मा तो नहीं हुई, क्योंकि ऐसा होने पर आत्मा के लिए मृत्यु आवश्यक है। तुम कहते हो कि ईश्वर ने उसका रूपान्तर कर दिया। ईश्वर पूर्ण, सर्वशक्तिमान और स्वयं शुद्ध है। तब तो इस मनुष्य के धर्म-ग्रहण

---

१. यद्यपि स्थान स्थान पर, जैसा कि दृष्टिगत होगा, रिपोर्टर स्वामी जी के धर्म-परिवर्तन सम्बन्धी विचार को समझने में बुरी तरह असफल हुआ है, पर उसने स्वामी जी के विचारों से अवगत व्यक्ति को समझाने के लिए उसको पर्याप्त मात्रा में ग्रहण किया है। स०

के पश्चात् उस ईश्वर में और सब कुछ रहता है, परन्तु पवित्रता का उतना अंश, जितना उसने उस व्यक्ति को पवित्र करने के लिए प्रदान किया, कम हो जाता है। हमारे देश में दो ऐसे शब्द हैं, जिनका इस देश में वहाँ की अपेक्षा बिल्कुल भिन्न अर्थ है। वे शब्द 'धर्म' और 'पंथ' है। हम मानते हैं कि धर्म के अन्तर्गत सभी धर्म आ जाते है। हम असहिष्णुता के अतिरिक्त सब कुछ सहन कर लेते हैं। फिर 'पंथ' शब्द है। यहाँ यह उन सुहृदों को अपने अन्तर्गत लेता है, जो अपने को उदारता के आवरण से ढक लेते हैं और कहते हैं. "हम ठीक हैं, तुम ग़लत हो।" इस प्रसंग में मुझे दो मेढकों की कहानी याद आती है। एक मेढक कुएँ में पैदा हुआ और आजीवन उसी कुएँ में रहा। एक दिन एक समुद्र का मेढक उस कुएँ में आ पड़ा और उन दोनों के बीच समुद्र के बारे में चर्चा होने लगी। कुएँ के मेढक ने आगन्तुक से पूछा कि समुद्र कितना बड़ा है, किन्तु वह कोई बोधगम्य उत्तर पाने में समर्थ न हुआ। तब कुएँ के मेढक ने कुएँ के एक छोर से दूसरे छोर तक उछल कर पूछा कि क्या समुद्र इतना बड़ा है। उसने कहा, "हाँ"। वह मेढक फिर उछला और बोला, "क्या समुद्र इतना बड़ा है?" और स्वीकारात्मक उत्तर पाकर वह अपने आप कहने लगा, "यह मेढक अवश्य ही झूठा है। मैं इसे अपने कुएँ से बाहर निकाल दूँगा।" पंथों के सम्बन्ध में भी ऐसी ही बात है। वे अपने से भिन्न विश्वास करनेवालों को पददलित और बहिष्कृत करने के लिए कटिबद्ध रहते हैं।

* * *

हिन्दू संन्यासी

(अपील-एवलांश, १६ जनवरी, १८९४)

हिन्दू संन्यासी विवेकानन्द, जो आज रात को ऑडिटोरियम (मेमफ़िस) में भाषण देंगे, इस देश में धार्मिक अथवा भाषण मंच पर उपस्थित होनेवालों में सर्वश्रेष्ठ वक्ता हैं। उनकी अप्रतिम वक्तृता, रहस्यमय बातों में गम्भीर अन्तर्दृष्टि, तर्ककुशलता एवं महान् निष्ठा ने विश्व-मेला के धर्म-सम्मेलन में भाग लेनेवाले संसार के सभी विचारवान व्यक्तियों का विशेष ध्यान आकृष्ट किया और उन हज़ारों लोगों ने उनकी सराहना की, जिन्होंने यूनियन के विभिन्न राज्यों में उनकी भाषण-यात्राओं में उन्हें सुना था।

वार्तालाप में वे अत्यधिक आनन्ददायक सभ्य व्यक्ति हैं, उनके शब्द-चयन में अंग्रेज़ी भाषा के रत्न दृष्टिगोचर होते हैं और उनका सामान्य व्यवहार उन्हें पश्चिमी शिष्टाचार और रीति-रिवाज़ के अन्यतम सुसंस्कृत लोगों की श्रेणी में ला देता है। साथी के रूप में वे बड़े मोहक व्यक्ति हैं और सम्भाषणकर्ता के रूप में शायद पश्चिमी देशों के शहरों की किसी भी बैठक में उनसे बढ़कर कोई भी नहीं निकल सकता। वे केवल स्पष्टतापूर्वक ही अंग्रेज़ी नहीं बोलते, धारा-प्रवाह भी बोलते हैं और उनके भाव, स्फुलिंग के समान नये होते हुए भी, उनकी जिह्वा से आलंकारिक भाषा के आश्चर्यजनक प्रवाह में निकलते हैं।

स्वामी विव कानन्द अपने पैतृक धर्म अथवा प्रारम्भिक शिक्षा द्वारा एक ब्राह्मण के रूप में बड़े हुए। किन्तु हिन्दू धर्म में दीक्षित होकर उन्होंने अपनी जाति को त्याग दिया और हिन्दू पुरोहित अथवा जैसा कि हिन्दू आदर्श के अनु-सार उनके देश में विदित है, वे संन्यासी हुए। ईश्वर के उच्च भाव से उद्भूत प्रकृति के आश्चर्यजनक और रहस्यमय क्रिया-कलापों के वे सदैव अन्यतम विद्यार्थी रहे हैं और उस पूर्वीय देश के उच्चतर विद्यालयों में शिक्षक और विद्यार्थी दोनों रूपों में अनेक वर्ष विताकर उन्होंने एसा ज्ञान प्राप्त किया है, जिससे उनको युग के सर्वश्रेष्ठ विचारक विद्वानों में गिने जाने की विश्वविश्रुत ख्याति प्राप्त हुई है।

विश्व-मेला सम्मेलन में उनके प्रथम आश्चर्यजनक भाषण ने तुरन्त उनके धार्मिक विचारकों की उस महान् संस्था के नेता होने की मुहर लगा दी। अधिवे-शन में वहुधा उन्हें अपने धर्म का समर्थन करते हुए सुना गया और मनुष्य के मनुष्य के प्रति तथा सृष्टिकर्ता के प्रति कर्तव्यों का चित्र खींचते समय उनके ओठों से अंग्रेज़ी भाषा की शोभा वढ़ानेवाले सर्वश्रेष्ठ सुन्दर और दार्शनिक रत्नों में से कुछ प्राप्त हुए। वे विचारों में कलाकार, विश्वास में आदर्शवादी और मंच पर नाटककार हैं।

जब वे मेमफ़िस आये, तब से मि० हु एल० ब्रिन्कले के अतिथि हैं, जहाँ पर अपने प्रति श्रद्धा प्रकट करने की इच्छा रखनेवाले वहुत से लोगों से उन्होंने दिन में और संध्याकाल भेंट की है। वे टेनेसी क्लब के भी अनौपचारिक अतिथि हैं और शनिवार की शाम को श्रीमती एस० आर० शेपार्ड द्वारा आयोजित स्वागत में अतिथि थे। रविवार को कर्नल आर० बी० स्नोडेन ने एनेसडेल में अपने घर पर विशिष्ट अतिथि के सम्मान में एक भोज दिया, जहाँ पर सहायक विशप टामस एफ़० गेलर, रेवरेण्ड डॉ० जार्ज पैटर्सन और अनेक दूसरे पादरियों से उनकी भेंट हुई।

कल अपराह्न उन्होंने रानडॉल्फ़ विल्डिग में 'नाइन्टीन्थ सेंचुरी क्लव' के कमरों में उसके सदस्यों के एक वड़े और शौक़ीन श्रोता-समूह के सम्मुख भाषण दिया। आज रात को ऑडिटोरियम में 'हिन्दुत्व' पर उनका भाषण होगा।

सहिष्णुता के लिए युक्ति

(मेमफ़िस कमर्शियल, १७ जनवरी, १८९४)

कल रात प्रसिद्ध हिन्दू संन्यासी स्वामी विव कानन्द के हिन्दुत्व पर होनेवाले भाषण में उनका स्वागत करने के लिए ऑडिटोरियम में पर्याप्त संख्या में श्रोता उपस्थित हुए। न्यायाधीश आर० जे० मारगन ने उनका संक्षिप्त किन्तु सूचनात्मक परिचय दिया और महान् आर्य जाति की, जिसके विकास से यूरोपीय जातियों तथा हिन्दू जाति का समान रूप से आविर्भाव हुआ है, एक रूपरेखा प्रस्तुत की तया इस प्रकार वोलने के लिए प्रस्तुत वक्ता और अमेरिकन जाति के वीच के जातीय सम्वन्ध का इतिहास वताया।

लोगों ने सुविख्यात पूर्वदेशीय का उदार करतल ध्वनि के साथ स्वागत किया और आद्योपान्त ध्यानपूर्वक उनकी वात सुनी। वे सुन्दर शारीरिक आकृतिवाले व्यक्ति हैं और उनका सुगठित काँसे के रंग का रूप और सुन्दर अनुपातवाला शरीर है। वे गुलाबी रेशम की पोशाक पहने हुए थे, जो कमर पर एक काले वन्द से कसी हुई थी, काला पतलून पहने थे और उनके मस्तक पर भारतीय रेशम की पीली पगड़ी सँवार कर वाँधी गयी थी। उनका उच्चारण अति सुन्दर है और जहाँ तक शव्दों के चयन तथा व्याकरण की शुद्धता और रचना का सम्वन्ध है, उनका अंग्रेज़ी का व्यवहार पूर्ण है। उच्चारण में जो कुछ भी अशुद्धता है, वह केवल कभी कभी ग़लत शव्दांश पर वल दे देने की है। पर ध्यानपूर्वक सुननेवाले शायद ही कोई शव्द न समझ पाते हों, और उनके अवधान का सुन्दर फल उन्हें मौलिक विचार, ज्ञान और व्यापक प्रज्ञा से परिपूर्ण भाषण के रूप में उपलव्ध हुआ। इस भाषण को सार्वभौम सहिष्णुता कहना उचित हो सकता है, जिसमें भारतीय धर्म से सम्वन्धित कथनों के उदाहरण हैं। उन्होंने कहा कि यह भावना, सहिष्णुता और प्रेम की भावना, सभी अच्छे धर्मों की केन्द्रीभूत प्रेरणा है और उनका विचार है कि उसको प्राप्त करना किसी भी मत का अभीष्ट लक्ष्य है।

हिन्दुत्व के सम्बन्ध में उनकी परिचर्चा अधिकांशतः वृत्तानुमेय नहीं थी। उनका प्रयत्न उसकी पुराण-कथाओं और उसके रूपों का चित्र प्रस्तुत करने की अपेक्षा उसके भाव-तत्त्व का विश्लेषण करना था। उन्होंने अपने धर्म-विश्वास या अनुष्ठानों की प्रमुख विशिष्टताओं पर बहुत कम विवेचन किया। किन्तु उनको उन्होंने बड़ी स्पष्टता और पारदर्शिता के साथ समझाया। उन्होंने हिन्दुत्व की उन रहस्यमय विशेषताओं का सजीव वर्णन किया, जिनसे बहुधा ग़लत समझा जानेवाला पुनर्जन्म का सिद्धान्त विकसित हुआ है। उन्होंने समझाया कि किस प्रकार उनका धर्म समय के विभेदीकरण की अवहेलना करता है, किस प्रकार सभी लोगों की आत्मा के वर्तमान और भविष्य में विश्वास करने के कारण 'ब्रह्म का धर्म' (हिंदुत्व) अपने अतीत पर भी विश्वास करता है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि किस प्रकार उनका धर्म 'मौलिक पाप' में विश्वास नहीं करता और सभी प्रयत्नों और अभीप्साओं को मानवता की पूर्णता पर आधारित करता है। उनका कहना है कि सुधार और शुद्धि का आधार आशा होनी चाहिए। मनुष्य का विकास उसका मूल पूर्णता की ओर लौटना है। यह पूर्णत्व पवित्रता और प्रेम की साधना से ही आ सकता है। यहाँ उन्होंने दिखाया कि किस प्रकार उनके देशवासियों ने इन गुणों की साधना की है, किस प्रकार भारत उत्पीड़ितों को शरण देनेवाला देश रहा है। उन्होंने उदाहरण दिया कि जब टिटस ने जेरुसलम का विध्वंस किया, तब यहूदियों का हिन्दुओं द्वारा स्वागत किया गया था।

बड़ी स्पष्टतापूर्वक उन्होंने बताया कि हिन्दू लोग बाह्याकारों पर बहुत ज़ोर नहीं देते। कभी कभी तो परिवार का प्रत्येक व्यक्ति सम्प्रदायों के अनुसरण में एक दूसरे से भिन्न होता है, किन्तु सभी ईश्वर के केन्द्रीय गुण प्रेम-भाव की उपासना करते हुए ईश्वर की उपासना करते हैं। वे कहते हैं कि हिन्दू मानता है कि सभी धर्मों में अच्छाई है, सभी धर्म मनुष्य की पवित्रता की अन्तःप्रेरणा के प्रतीक हैं और इसलिए सभी का सम्मान किया जाना चाहिए। उन्होंने वेद (?) से एक उद्धरण देते हुए इसे समझाया, जिसमें विभिन्न धर्म भिन्न भिन्न रूप के बने हुए घड़ों के प्रतीक के रूप में कहे गये हैं, जिनको लेकर विभिन्न लोग एक झरने में पानी भरने आते हैं। घड़ों के रूप तो बहुत से हैं, किन्तु जिस चीज़ को सभी लोग अपने घड़ों में भरना चाहते हैं, वह सत्य रूपी जल है, उनके अनुसार ईश्वर सभी प्रकार के विश्वासों को जानता है और चाहे जो भी कहकर पुकारा जाय, वह अपने नाम को अथवा मिलनेवाली श्रद्धा को, चाहे वह जिस ढंग की हो, पहचान लेगा।

उन्होंने आगे कहा कि हिन्दू उसी ईश्वर की उपासना करते हैं, जिसकी ईसाई

करते हैं। हिन्दू त्रिदेव—ब्रह्मा, विष्णु और शिव केवल सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता और विनाशकर्ता ईश्वर के प्रतीक हैं। इन तीन को एक के वजाय तीन मानना केवल एक ग़लतफ़हमी है, जिसका कारण है कि सामान्य मानवता अपने नीतिशास्त्र को एक मूर्त रूप अवश्य प्रदान करती है। अतः इसी प्रकार हिन्दू देवताओं की भौतिक मूर्तियाँ दिव्य गुणों की प्रतीक मात्र हैं। पुनर्जन्म के हिन्दू सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए उन्होंने कृष्ण की कहानी सुनायी, जो निष्कलंक गर्भाधान से उत्पन्न हुए और जिनकी कथा ईसा की कथा से वहुत कुछ मिलती-जुलती है। उनका दावा है कि कृष्ण की शिक्षा प्रेम के लिए प्रेम की शिक्षा है और उन्होंने इस तथ्य को इन शब्दों में प्रकट किया है, 'यदि प्रभु का भय धर्म का प्रारम्भ है, तो ईश्वर का प्रेम उसका अन्त है।'

उनके समस्त भाषण को यहाँ अंकित करना कठिन है, किन्तु वह वंधुता के प्रेम के लिए एक उत्कृष्ट प्रेरक और एक सुन्दर मत का जोशीला समर्थन था। उनका उपसंहार विशेष रूप से सुन्दर था, जब कि उन्होंने ईसा को स्वीकार करने के लिए अपने को तैयार वताया, परन्तु वे कृष्ण और वुद्ध के सामने अवश्य शीश झुकायेंगे। उन्होंने सभ्यता की निर्दयता का एक सुन्दर चित्र उपस्थित करते हुए प्रगति के अपराधों के लिए ईसा को ज़िम्मेदार ठहराने से इन्कार कर दिया।

भारत के रीति-रिवाज़

(अपील-एवलांश, २१ जनवरी, १८९४)

हिन्दू संन्यासी स्वामी विव कानन्द ने कल अपराह्न 'ला सलेट एकेडमी' (मेमफ़िस) में एक भाषण दिया। मूसलाधार वर्षा के कारण श्रोताओं की संख्या वहुत कम थी।

'भारत के रीति-रिवाज़' विषय का विवेचन हो रहा था। विव कानन्द जिस धार्मिक विचार के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहे हैं, वह इस शहर तथा अमेरिका के अन्य शहरों के अधिकतर प्रगतिशील विचारकों के मन में सरलता से स्थान प्राप्त कर लेता है।

उनका सिद्धान्त ईसाई शिक्षकों के द्वारा उपदिष्ट पुरातन विश्वास के लिए घातक है। अमेरिका के ईसाइयों की, मूर्तिपूजक भारत के अज्ञानावृत मस्तिष्क को प्रकाश प्रदान करने की सर्वाधिक कोशिश रही है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कानन्द के धर्म के पूर्वीय तेज ने हमारे पूर्वजों द्वारा उपदिष्ट पुराकालीन ईसाई

धर्म के सौंदर्य को अभिभूत कर लिया है और श्रेष्ठतर शिक्षा पाये हुए अमेरिका-वासियों के मस्तिष्क में फलने-फूलने के लिए उसे एक उर्वर भूमि प्राप्त हो गयी है।

यह 'धुनों' का युग है और ऐसा प्रतीत होता है कि कानन्द एक 'चिरकाल से अनुभूत अभाव' की पूर्ति कर रहे हैं। वे सम्भवतः अपने देश के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् हैं और उनमें अद्‌भुत मात्रा में व्यक्तिगत आकर्षण है तथा उनके श्रोता उनकी वक्तृता पर मुग्ध हो जाते हैं। यद्यपि वे अपने विचारों में उदार हैं तथापि वे पुरातनवादी ईसाई मत में बहुत कम सराहनीय बातें देखते हैं। मेमफ़िस में आनेवाले किसी भी धर्मोपदेशक अथवा वक्ता की अपेक्षा कानन्द ने सर्वाधिक ध्यान आकृष्ट किया है।

यदि भारत में जानेवाले मिशनरियों का ऐसा ही स्वागत होता, जैसा कि हिन्दू संन्यासी का यहाँ हुआ है, तो मूर्तिपूजक देशों में ईसा की शिक्षाओं के प्रचार का कार्य विशेष गति प्राप्त करता। कल शाम का उनका भाषण ऐतिहासिक दृष्टि से रोचक था। वे अति प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक के स्वदेश के इतिहास और परम्परा से पूर्ण परिचित हैं और वहाँ के विभिन्न रोचक स्थानों और वस्तुओं का सुन्दर और सहज शैली में वर्णन कर सकते हैं।

अपने भाषण में महिला श्रोताओं के प्रश्नों से बीच बीच में उन्हें अनेक बार रुकना पड़ा और उन्होंने बिना ज़रा भी हिचकिचाहट के उत्तर दिया, केवल एक बार को छोड़कर, जब एक महिला ने उन्हें एक धार्मिक विवाद में घसीटने के उद्देश्य से प्रश्न पूछा। उन्होंने अपने प्रवचन के मूल विषय से अलग जाना अस्वीकार कर दिया और प्रश्नकर्त्री से कहा कि वे किसी दूसरे समय 'आत्मा के पुनर्जन्म' आदि पर अपने विचार प्रकट करेंगे।

अपनी चर्चा में उन्होंने कहा कि उनके पितामह का विवाह तीन वर्ष की आयु में तथा उनके पिता का अठारह वर्ष की आयु में हुआ था, परन्तु उन्होंने विवाह नहीं किया। संन्यासी को विवाह करने की मनाही नहीं; किन्तु यदि वह पत्नी रखता है, तो वह भी उन्हीं अधिकारों और सुविधाओं से युक्त संन्यासिनी बन जाती है और वही सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करती है, जो उसका पति प्राप्त करता है।[1]

एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा कि भारत में किसी भी कारण तलाक़

---

१. स्वामी जी के द्वारा संन्यासियों के विवाह के सम्बन्ध में जिस कथन का यहाँ उल्लेख किया गया है, उसके ठीक होने की सम्भावना नहीं है। अवश्य ही यह रिपोर्टर का भ्रम होगा, क्योंकि यह सर्वविदित है कि हिन्दू समाज में यदि संन्यासी पत्नी अंगीकार करता है, तो वह पतित और बहिष्कृत समझा जाता है। स०

की व्यवस्था नहीं थी, किन्तु यदि चौदह वर्ष के वैवाहिक जीवन के पश्चात् भी परिवार में सन्तान न हुई हो, तो पत्नी की सहमति से पति दूसरा विवाह कर सकता था; किन्तु यदि वह आपत्ति करती, तो वह विवाह नहीं कर सकता था। उनका प्राचीन स्मारकों और मंदिरों का वर्णन अनुपम था और इससे यह प्रकट होता है कि प्राचीन काल के लोग आजकल के कुशलतम कारीगरों की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ वैज्ञानिक ज्ञान रखते थे।

आज रात को स्वामी विवेकानन्द वाई० एम० एच० ए० हाल में इस शहर में अंतिम बार आयेंगे। उन्होंने शिकागो के 'स्लेटन लिसेयम ब्यूरो' से इस देश में तीन वर्ष के कार्यक्रम को पूरा करने का अनुबंध किया है। वे कल शिकागो के लिए प्रस्थान करेंगे, जहाँ २५ की रात्रि में उनका एक कार्यक्रम है।

* * *

(डिट्राएट ट्रिब्यून, १५ फ़रवरी, १८९४ ई०)

पिछली शाम को जब ब्राह्म समाज के प्रसिद्ध संन्यासी स्वामी विवेकानन्द ने यूनिटी क्लब के तत्त्वावधान में यूनिटेरियन चर्च में भाषण दिया, तब श्रोताओं की एक बड़ी संख्या को उनका भाषण सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वे अपने देश की वेशभूषा में थे और उनका सुन्दर चेहरा तथा हृष्ट-पुष्ट आकार उन्हें एक विशिष्ट रूप प्रदान कर रहा था। उनकी वक्तृता ने श्रोताओं को ध्यानमग्न कर रखा था और वे बारंबार बीच बीच में सराहना प्राप्त कर रहे थे। वे भारतीय रीति-रिवाज पर बोल रहे थे। उन्होंने विषय को बड़ी सुन्दर अंग्रेजी में प्रस्तुत किया था। उन्होंने कहा कि वे न तो अपने देश को भारत कहते हैं और न अपने को हिन्दू। उनके देश का नाम हिन्दुस्तान है और देशवासी ब्राह्मण हैं। प्राचीन काल में वे संस्कृत बोलते थे। उस भाषा में शब्द के अर्थ तथा हेतु की व्याख्या की जाती थी तथा उसे बिल्कुल स्पष्ट कर दिया जाता था, किन्तु अब वह बात नहीं है। संस्कृत में 'जुपिटर' का अर्थ था—'स्वर्ग में पिता'। आजकल उत्तरी भारत की सभी भाषाएँ व्यवहारतः एक ही हैं, किन्तु यदि वे देश के दक्षिणी भाग में जायें, तो लोगों से बात नहीं कर सकते। पिता, माता, बहन, भाई आदि शब्दों को संस्कृत ने मिलते-जुलते उच्चारण प्रदान किये। यह तथा दूसरे तथ्य उन्हें यह सोचने को बाध्य करते हैं कि हम सब एक ही नस्ल के हैं—आर्य। क्रमशः इस जाति की सभी शाखाओं ने अपनी पहचान खो दी है।

जातियाँ चार थीं—ब्राह्मण, भूमिपति और क्षत्रिय, व्यापारी और कारीगर, तथा श्रमिक और सेवक। पहली तीन जातियों में क्रमशः दस, ग्यारह और तेरह वर्ष की अवस्था से तीस, पच्चीस या बीस वर्ष की आयु तक बच्चों को विश्वविद्यालयों के आचार्यों के सिपुर्द कर दिया जाता था। प्राचीन काल में बालक और बालिका, दोनों को शिक्षा दी जाती थी, किन्तु आज केवल बालकों के लिए यह सुविधा है। पर इस चिरकालीन अन्याय को दूर करने की चेष्टा की जा रही है। बर्बर जातियों द्वारा देश का शासन प्रारम्भ होने के पूर्व प्राचीन काल में देश के दर्शनशास्त्र और विधि का एक बड़ा अंश स्त्रियों के द्वारा संपादित कार्य है। हिन्दुओं की दृष्टि में अब स्त्रियों के अपने अधिकार हैं। उन्हें अब अपना स्वत्व प्राप्त है और क़ानून अब उनके पक्ष में है।

जब विद्यार्थी विद्यालय से वापस लौटता है, तब उसे विवाह करने की अनुमति प्रदान की जाती है और वह गृहस्थ बनता है। पति और पत्नी के लिए कार्य का भार लेना आवश्यक है और दोनों के अपने अधिकार होते हैं। क्षत्रिय जाति में लड़कियाँ कभी कभी अपना पति चुन सकती हैं, किन्तु अन्य सभी में माता-पिता के द्वारा ही व्यवस्था की जाती है। अब बाल विवाह को दूर करने का निरन्तर प्रयत्न चल रहा है। विवाह-संस्कार बड़ा सुन्दर होता है, एक दूसरे का हृदय स्पर्श करता है और वे ईश्वर तथा उपस्थित लोगों के सामने प्रतिज्ञा करते हैं कि वे एक दूसरे के प्रति सच्चे रहेंगे। बिना विवाह किये कोई पुरोहित नहीं हो सकता। जब कोई व्यक्ति, किसी सार्वजनिक पूजा में भाग लेता है, तब उसकी पत्नी उसके साथ रहती है। अपनी उपासना में हिन्दू पाँच संस्कारों का अनुष्ठान करता है—ईश्वर, पितरों, दीनों, मूक पशुओं तथा ज्ञान की उपासना। जब तक किसी हिन्दू के घर में कुछ भी है, अतिथि को किसी बात की कमी नहीं होती। जब वह संतुष्ट हो जाता है, तब बच्चे, और तब पिता, फिर माँ भोजन ग्रहण करते हैं। वे दुनिया की सबसे ग़रीब जाति हैं, फिर भी अकाल के समय के सिवा कोई भी भूख से नहीं मरता। सभ्यता एक महान् कार्य है। किन्तु तुलना में यह बात कही जाती है कि इंग्लैण्ड में प्रत्येक चार सौ में एक मद्यप मिलता है, जब कि भारत में यह अनुपात एक लाख में एक है। मृत व्यक्तियों के भी दाह-संस्कार का वर्णन किया गया। कुछ महान् सामन्तों को छोड़कर और किसीके सम्बन्ध में प्रचार नहीं किया जाता। पन्द्रह दिन के उपवास के बाद अपने पूर्वजों की ओर से सम्बन्धियों द्वारा ग़रीबों को अथवा किसी संस्था की स्थापना के हेतु दान दिया जाता है। नैतिक मामलों में वे सभी जातियों से सर्वोपरि ठहरते हैं।

हिन्दू दर्शन

(डिट्राएट फ्री प्रेस, १६ फ़रवरी, १८९४)

हिन्दू संन्यासी स्वामी विव कानन्द का दूसरा भाषण कल शाम को यूनिटेरियन चर्च में वहुसंख्यक और गुणग्राही श्रोताओं के सम्मुख हुआ। श्रोताओं की यह आशा कि वक्ता उन्हें हिन्दू दर्शन की जानकारी देंगे, जैसा कि भाषण का शीर्षक था, एक सीमित मात्रा में ही पूर्ण हुई। वुद्ध के दर्शन के प्रसंग उठाये गये और जव वक्ता ने कहा कि वौद्ध धर्म दुनिया का सर्वप्रथम मिशनरी धर्म है और उसने विना रक्त का एक वूंद गिराये सवसे वड़ी संख्या में लोगों को धर्म-दीक्षा दी है, तव लोगों ने वहुत अधिक हर्षध्वनि की। किन्तु उन्होंने श्रोताओं को बुद्ध के धर्म अथवा दर्शन की कोई वात नहीं वतायी। उन्होंने ईसाई धर्म के ऊपर वहुत से हल्के प्रहार किये और उन कष्टों और मुसीवतों की चर्चा की, जो मूर्तिपूजक देशों में उसके प्रचार के कारण उत्पन्न की गयी थीं। किन्तु उन्होंने कुशलतापूर्वक अपने देश के लोगों की तथा अपने श्रोताओं के देश के लोगों की सामाजिक दशा की तुलना करने से अपने को दूर रखा।

सामान्य ढंग से उन्होंने वताया कि हिन्दू तत्त्ववेत्ताओं ने निम्नतर सत्य से उच्चतर सत्य की शिक्षा दी, जव कि नये ईसाई सिद्धान्त को स्वीकार करनेवाले व्यक्ति से कहा जाता है और आशा की जाती है कि वह अपने पूर्व विश्वास को छोड़ दे तथा नवीन को पूर्णरूपेण स्वीकार कर ले। उन्होंने कहा, "यह एक दिवास्वप्न है कि हम लोगों में सभी के धार्मिक विचार एक ही हो जायँगे। जव तक विरोधी तत्त्वों का मन में संघर्ष नहीं होता, तव तक मनोवेग की उत्पत्ति नहीं हो सकती। परिवर्तन की प्रतिक्रिया, नया प्रकाश और प्राचीन को नवीन का अनुदान ही संवेगों की उत्पत्ति करता है।"

[चूंकि प्रथम भाषण ने कुछ लोगों में विरोध-भाव पैदा कर दिया, 'फ्री प्रेस' के संवाददाता ने वहुत सावधानी वरती। तो भी सौभाग्यवश 'डिट्राएट ट्रिव्यून' ने स्वामी जी का निरन्तर समर्थन किया और इस प्रकार उसकी १६ फ़रवरी की रिपोर्ट में हमें उनके द्वारा 'हिन्दू दर्शन' पर दिये गये भाषण का कुछ आशय प्राप्त होता है, यद्यपि ट्रिव्यून संवाददाता ने कुछ रूपरेखात्मक विवरण ही लिखा था, ऐसा प्रतीत होता है:]

* * *

(डिट्राएट ट्रिब्यून, १६ फ़रवरी, १८९४ ई०)

ब्राह्मण संन्यासी स्वामी विव कानन्द ने कल शाम को यूनिटेरियन चर्च में पुनः भाषण दिया। उनका विषय 'हिन्दू दर्शन' था। वक्ता ने कुछ समय तक सामान्य दर्शन और तत्त्वज्ञान की चर्चा की, परन्तु उन्होंने बताया कि वे धर्म से सम्बन्धित अंश की चर्चा के लिए अपने भाषण का उपयोग करेंगे। एक ऐसा सम्प्रदाय है, जो आत्मा में विश्वास करता है, किन्तु वह ईश्वर के सम्बन्ध में अज्ञेयवादी है। बुद्धवाद (?) एक महान् नैतिक धर्म था, किन्तु ईश्वर में विश्वास न करने के कारण वह बहुत दिन तक जीवित नहीं रह सका। दूसरा सम्प्रदाय 'जाइन्ट्स' (जैन) आत्मा में विश्वास करता है, परन्तु देश के नैतिक शासन में नहीं। भारत में इस सम्प्रदाय के कई लाख लोग हैं। यह विश्वास करके कि यदि उनकी गर्म साँस यदि किसी मनुष्य या जीव को लगेगी, तो उसका परिणाम मृत्यु होगा, उनके पुरोहित और संन्यासी अपने चेहरे पर एक रूमाल बाँधे रहते हैं।

सनातनियों में सभी लोग श्रुति में विश्वास करते हैं। कुछ लोग सोचते हैं, बाइबिल का प्रत्येक शब्द सीधे ईश्वर से आता है। एक शब्द के अर्थ का विस्तार शायद अधिकांश धर्मों में होता है, किन्तु हिन्दू धर्म में संस्कृत भाषा है, जो शब्द के पूर्ण आशय और हेतु को सदैव सुरक्षित रखती है।

इस महान् पूर्वीय के विचार से एक छठीं इन्द्रिय है, जो उन पाँचों से, जिन्हें कि हम जानते हैं, कहीं अधिक सबल है। वह प्रकाशनारूपी सत्य है। व्यक्ति धर्म की सभी पुस्तकें पढ़ सकता है और फिर भी देश का सबसे बड़ा धूर्त हो सकता है। प्रकाशना का अर्थ है, आध्यात्मिक खोजों के बाद का विवरण।

दूसरी स्थिति, जिसे कुछ लोग मानते हैं, वह सृष्टि है, जिसका आदि या अन्त नहीं है। मान लो कि कोई समय था, जब सृष्टि नहीं थी। तब ईश्वर क्या कर रहा था? हिन्दुओं की दृष्टि में सृष्टि केवल एकरूप है। एक मनुष्य स्वस्थ शरीर लेकर उत्पन्न होता है, अच्छे परिवार का है और एक धार्मिक व्यक्ति के रूप में बड़ा होता है। दूसरा व्यक्ति विकलांग और अपंग शरीर लेकर जन्म लेता है और एक दुष्ट के रूप में बड़ा होता है तथा दंड भोगता है। पवित्र ईश्वर एक को इतनी सुविधाओं के साथ और दूसरे को इतनी असुविधाओं के साथ क्यों उत्पन्न करता है? व्यक्ति के पास कोई चारा नहीं है। बुरा काम करनेवाला अपने दोष को जानता है। उन्होंने पुण्य और पाप के अन्तर को स्पष्ट किया। यदि ईश्वर ने सभी चीज़ों को अपनी इच्छा से उत्पन्न किया है, तब तो सभी विज्ञानों की इतिश्री हो गयी।

मनुष्य कितने नीचे जा सकता है? क्या मनुष्य के लिए फिर से पशु की ओर वापस जाना सम्भव है?

कानन्द को इस वात की प्रसन्नता थी कि वे हिन्दू थे। जव रोमनों ने जेरुसलम को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया, तव कई हजार यहूदी भारत में आकर वसे। जव पारसियों को अरववालों ने उनके देश से भगाया, तव कई हज़ार लोगों ने इसी देश में शरण पायी और किसीके साथ दुर्व्यवहार नहीं किया गया। हिन्दू विश्वास करते हैं कि सभी धर्म सत्य हैं, किंतु उनका धर्म और सभी से प्राचीन है। हिन्दू कभी भी मिशनरियों के प्रति दुर्व्यवहार नहीं करते। प्रथम अंग्रेज़ मिशनरी अंग्रेज़ों के द्वारा ही उस देश में उतरने से रोके गये और एक हिन्दू ही ने उनके लिए सिफ़ारिश की और सर्वप्रथम उनका स्वागत किया। धर्म वह है, जो सवमें विश्वास करता है। उन्होंने धर्म की तुलना हाथी और अंधे आदमियों से की। प्रत्येक अपने स्थान पर ठीक था, परन्तु सम्पूर्ण रूप के लिए सभी की आवश्यकता थी। हिन्दू दार्शनिक कहते हैं, 'सत्य से सत्य की ओर, निम्नतर सत्य से उच्चतर सत्य की ओर।' जो लोग यह सोचते हैं कि किसी समय सभी लोग एक ही तरह सोचेंगे, वे लोग एक निरर्थक स्वप्न देखते हैं, क्योंकि यह तो धर्म की मृत्यु होगी। प्रत्येक धर्म छोटे छोटे सम्प्रदायों में विभक्त हो जाता है, प्रत्येक अपने को सत्य कहता है और दूसरों को असत्य। वौद्ध धर्म में यन्त्रणा को कोई स्थान नहीं दिया गया है। सर्वप्रथम उन्होंने ही प्रचारक भेजे और वही एक ऐसे हैं, जिन्होंने विना रक्त का एक वूँद गिराये करोड़ों लोगों को धर्म की दीक्षा दी। अपने तमाम दोषों और अंधविश्वासों के वावजूद हिन्दू कभी यंत्रणा नहीं देते। वक्ता ने यह जानना चाहा कि ईसाइयों ने उन अन्यायों को कैसे होने दिया, जो ईसाई देशों में प्रत्येक जगह वर्तमान है।

* * *

चमत्कार

(इवनिंग न्यूज़, १७ फ़रवरी, १८९४ ई०)

इस विपय पर 'न्यूज़' के सम्पादकीय के दिखाये जाने पर विव कानन्द ने इस पत्र के प्रतिनिधि से कहा, "मैं अपने धर्म के प्रमाण में कोई चमत्कार करके 'न्यूज़' की इच्छा की पूर्ति नहीं कर सकता। पहले तो मैं चमत्कार करनेवाला नहीं हूँ और दूसरे जिस विशुद्ध हिन्दू धर्म का मैं प्रतिपादन करता हूँ, वह चमत्कारों पर

आधारित नहीं है। मैं चमत्कार जैसी किसी चीज को नहीं मानता। हमारी पंचेन्द्रियों के परे कुछ आश्चर्य किये जाते हैं, किन्तु वे किसी नियम के अनुसार चलते हैं। मेरे धर्म का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। बहुत सी आश्चर्यजनक चीजें, जो भारत में की जाती हैं और विदेशी पत्रों में जिनका विवरण दिया जाता है, वे हाथ की सफ़ाई और सम्मोहनजन्य भ्रम हैं। वे ज्ञानियों के कार्य नहीं है। वे पैसे के लिए बाज़ारों में अपने चमत्कार प्रदर्शित करते हुए नही घूमते। उन्हें वे ही देखते और जानते हैं, जो सत्य के ज्ञान के खोजी हैं और जो बालसुलभ उत्सुकता से प्रेरित नहीं हैं।"

* * *

मनुष्य का दिव्यत्व

(डिट्राएट फ़्री प्रेस, १८ फ़रवरी, १८९४ ई०)

हिन्दू दार्शनिक और साधु स्वामी विव कानन्द ने पिछली रात को यूनिटेरियन चर्च में ईश्वर (?)[१] के दिव्यत्व पर बोलते हुए अपनी भाषणमाला अथवा उपदेशों को समाप्त किया। मौसम खराब होने पर भी पूर्वीय बंधु—यही कहलाना उन्हें पसंद है—के आने के पूर्व चर्च दरवाज़ों तक लोगों से भर गया था।

उत्सुक श्रोताओं में सभी पेशों और व्यापारिक वर्ग के लोग सम्मिलित थे—वकील, न्यायाधीश, धार्मिक कार्यकर्ता, व्यापारी, यहूदी पंडित, इसके अतिरिक्त बहुत सी महिलाएँ, जिन्होंने अपनी लगातार उपस्थिति और तीव्र उत्सुकता से रहस्यमय आगंतुक के प्रति अपनी प्रशंसा की वर्षा करने की निश्चित इच्छा प्रदर्शित की है, जिनके प्रति ड्राइंगरूम में श्रोताओं का आकर्षण उतना ही अधिक है, जितना कि उनकी मंच की योग्यता के प्रति।

पिछली रात का भाषण पहले भाषणों की अपेक्षा कम वर्णनात्मक था और लगभग दो घंटे तक विव कानन्द ने मानवीय और ईश्वरीय प्रश्नों का एक दार्शनिक ताना-बाना बुना। वह इतना युक्तिसंगत था कि उन्होंने विज्ञान को एक सामान्य ज्ञान का रूप प्रदान कर दिया। उन्होंने एक सुन्दर युक्तिपूर्ण वस्त्र बुना,

---

१. वास्तव में विषय 'मनुष्य का दिव्यत्व' था।

जो अनेक रंगों से परिपूर्ण था तथा उतना ही आकर्षक और मोहक था, जितना कि हाथ से बुना जानेवाला अनेक रंगों तथा पूर्व की लुभावनी सुगंध से युक्त उनके देश का वस्त्र होता है। ये रहस्यमय सज्जन काव्यालंकारों का उसी प्रकार प्रयोग करते हैं, जिस प्रकार कोई चित्रकार रंगों का उपयोग करता है और रंग वहीं लगाये जाते हैं, जहाँ उन्हें लगना चाहिए। परिणामतः उनका प्रभाव कुछ विचित्र सा होता है, फिर भी उनमें एक विशेष आकर्षण है। तीव्र गति से निकलनेवाले तार्किक निष्कर्ष 'धूप-छाँह' की भाँति थे और समय समय पर कुशल वक्ता को अपने प्रयास की सिद्धि के रूप में उत्साहपूर्ण करतल ध्वनि प्राप्त हुई।

उन्होंने भाषण के प्रारम्भ में कहा कि वक्ता से बहुत से प्रश्न पूछे गये हैं। उनमें से कुछ का उन्होंने अलग उत्तर देने के लिए स्वीकार किया, किन्तु तीन प्रश्न उन्होंने मंच से उत्तर देने के लिए चुने, जिसका कारण स्पष्ट हो जायगा। वे थे[1]:

'क्या भारत के लोग अपने बच्चों को घड़ियालों के जबड़ों में झोंक देते है?'

'क्या वे जगन्नाक (जगन्नाथ) के पहियों के नीचे दबकर आत्महत्या करते है?'

'क्या वे विधवाओं को उनके (मृत) पतियों के साथ जला देते हैं?'

प्रथम प्रश्न का उत्तर उन्होंने इस ढंग से दिया, जिस ढंग से कोई अमेरिकन यूरोपीय देशों में प्रचलित न्यूयार्क की सड़कों पर दौड़नेवाले 'रेड इंडियन्स' तथा वैसी ही किवदंतियों से सम्बन्धित जिज्ञासाओं का समाधान करे। वक्तव्य इतना हास्यास्पद था कि उस पर गम्भीरता से सोचने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती थी। जब कुछ नेकनीयत किन्तु अनभिज्ञ लोगों के द्वारा यह पूछा गया कि वे केवल लड़कियों को ही क्यों घड़ियाल के आगे डाल देते हैं, तब वे केवल व्यंग्योक्ति में कह सके कि सम्भवतः यह इसलिए कि वे अधिक कोमल और मृदु होती थीं और अंधविश्वासी देश की नदियों के जीवों द्वारा अधिक आसानी से चबायी जा सकती थीं। जगन्नाथ की किवदन्ती के सम्बन्ध में वक्ता ने उस नगर की पुरानी प्रथा को स्पष्ट किया और कहा कि सम्भवतः कुछ लोग रस्सी पकड़ने तथा रथ खींचने के उत्साह में फिसलकर गिर जाते थे और इस प्रकार उनका अन्त होता था। कुछ ऐसी ही दुर्घटनाओं को विकृत विवरणों में अतिरंजित किया गया है, जिनसे दूसरे देशों के अच्छे लोग संत्रस्त हो उठते हैं। विव कानन्द ने यह अस्वीकार किया कि लोग विधवाओं को जला देते हैं। पर यह सत्य है कि विधवाओं ने अपने आपको जला

---

१. यह तथा दूसरे चार अनुच्छेद 'विवेकानन्द साहित्य' के प्रथम खण्ड में 'क्या भारत तमसाच्छादित देश है?' शीर्षक से प्रकाशित हुए हैं। स०

दिया। कतिपय उदाहरणों में जहाँ यह हुआ है, वहाँ धार्मिक पुरुषों और पुरोहितों द्वारा, जो सदैव ही आत्महत्या के विरुद्ध रहे हैं, उन्हें ऐसा करने से रोका गया है। जहाँ पतिव्रता विधवाओं ने यह आग्रह किया कि इस होनेवाले देह-परिवर्तन में वे अपने पतियों के साथ जलने की इच्छुक हैं, उन्हें अग्नि-परीक्षा देने के लिए बाध्य होना पड़ा। अर्थात् उन्होंने अपने हाथों को आग में डाला और जल जाने दिया, तो आगे उनकी इच्छा-पूर्ति के मार्ग में कोई बाधा नहीं डाली गयी। किन्तु भारत ही अकेला देश नहीं है, जहाँ स्त्रियों ने प्रेम किया और अपने प्रेमी का तुरन्त अमर लोक तक अनुसरण किया। ऐसी दशा में प्रत्येक देश में आत्महत्याएँ हुई हैं। यह किसी भी देश के लिए एक असाधारण कट्टरता है, जितनी असामान्य भारत में, उतनी ही अन्यत्र। वक्ता ने दुहराया, नहीं, भारत में लोग स्त्रियों को नहीं जलाते। न उन्होंने कभी डाइनों को ही जलाया है।

मूल भाषण की ओर आकर विव कानन्द ने जीवन की भौतिक, मानसिक और आत्मिक विशेषताओं का विश्लेषण किया। शरीर केवल एक कोश है, मन एक लघु किंतु विचित्र कार्य करनेवाली वस्तु है, जब कि आत्मा का अपना अलग व्यक्तित्व है। आत्मा की अनन्तता का अनुभव करना 'मुक्ति' की प्राप्ति है, जो 'उद्धार' के लिए हिन्दू शब्द है। विश्वसनीय ढंग से तर्क करते हुए वक्ता ने यह दर्शाया कि आत्मा एक मुक्त सत्ता है. क्योंकि यदि वह आश्रित होती, तो वह अमरता न प्राप्त कर सकती। जिस ढंग से व्यक्ति को उसकी सिद्धि प्राप्त होती है, उस ढंग को समझाने के लिए उन्होंने अपने देश की गाथाओं में से एक कथा सुनायी। एक शेरनी ने एक भेड़ पर झपट्टा मारते समय एक बच्चे को जन्म दिया। शेरनी मर गयी और उस बच्चे को भेड़ ने दूध पिलाया। बच्चा बहुत वर्षों तक अपने को भेड़ समझता रहा और उसी तरह व्यवहार करता रहा। किन्तु एक दिन एक दूसरा शेर उधर आया और उस शेर को एक झील पर ले गया, जहाँ उसने अपनी परछाई दूसरे शेर से मिलती हुई देखी। इस पर वह गरजा और तब उसे अपनी पूर्ण महिमा का ज्ञान हुआ। बहुत से लोग भेड़ों जैसा रूप बनाये सिंह की भाँति हैं और एक कोने में जा दुबकते हैं। अपने को पापी कहते हैं और हर तरह अपने को नीचे गिराते हैं। वे अभी अपने में अन्तर्निहित पूर्णत्व और दिव्यत्व को नहीं देख पाते। स्त्री और पुरुष का अहं आत्मा है। यदि आत्मा मुक्त है, तब वह सम्पूर्ण अनन्त से कैसे अलग की जा सकती है? जिस प्रकार सूर्य झील पर चमकता है और असंख्य प्रतिबिम्ब उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार आत्मा प्रत्येक प्रतिबिम्ब की भाँति अलग है, यद्यपि उसके महान् स्रोत को माना जाता है और उसके महत्त्व को समझा जाता है। आत्मा निर्लिंग है। वह जब पूर्ण मुक्ति की स्थिति प्राप्त कर लेती है, तब उसका भौतिक

को सुनाओ।" तब हम लोगों ने अपना अपना अनुवाद लाकर स्वामी जी को थोड़ा थोड़ा सुनाया। स्वामी जी ने भी अनुवाद के बारे में अपने कुछ विचार प्रकट किये, और अमुक शब्द का अमुक अनुवाद ठीक रहेगा, इस प्रकार दो-एक बातें भी बतायीं। एक दिन स्वामी जी के पास केवल मैं ही बैठा था, उन्होंने अचानक मुझसे कहा, "राजयोग का अनुवाद कर न।" मेरे समान अनुपयुक्त व्यक्ति को स्वामी जी ने इस प्रकार आदेश कैसे दिया? मैं उसके बहुत दिन पहले से ही राजयोग का अभ्यास करने की चेष्टा किया करता था। इस योग के ऊपर कुछ दिन मेरा इतना अनुराग हुआ था कि भक्ति, ज्ञान और कर्मयोग को मानो एक प्रकार से अवज्ञा से ही देखने लगा था। सोचता था, मठ के साधु लोग योग-याग कुछ भी नहीं जानते, इसीलिए वे योग-साधना में उत्साह नहीं देते। पर जब मैंने स्वामी जी का 'राजयोग' ग्रन्थ पढ़ा, तो मालूम हुआ कि स्वामी जी केवल राजयोग में ही पटु नहीं, वरन् भक्ति, ज्ञान प्रभृति अन्यान्य योगों के साथ उसका सम्बन्ध भी उन्होंने अत्यन्त सुन्दर ढंग से दिखलाया है। राजयोग के सम्बन्ध में मेरी जो धारणा थी, उसका उत्तम स्पष्टीकरण भी मुझे उनके उस 'राजयोग' ग्रन्थ में मिला। स्वामी जी के प्रति मेरी विशेष श्रद्धा का यह भी एक कारण हुआ। तो क्या इस उद्देश्य से कि राजयोग का अनुवाद करने से उस ग्रन्थ की चर्चा उत्तम रूप से होगी और उससे मेरी भी आध्यात्मिक उन्नति में सहायता पहुँचेगी, उन्होंने मुझे इस कार्य में प्रवृत्त किया? अथवा बंग देश में यथार्थ राजयोग की चर्चा का अभाव देखकर, सर्वसाधारण के भीतर इस योग के यथार्थ मर्म का प्रचार करने के लिए ही उन्होंने ऐसा किया? उन्होंने स्व० प्रमदादास मित्र को एक पत्र में लिखा था, 'बंगाल में राजयोग की चर्चा का बिल्कुल अभाव है। जो कुछ है, वह भी नाक दबाना इत्यादि छोड़ और कुछ नहीं।'

जो भी हो, स्वामी जी की आज्ञा पा, अपनी अनुपयुक्तता आदि की बात मन में न सोचकर उसका अनुवाद करने में उसी समय लग गया।

६

एक दिन अपराह्न काल में बहुत से लोग बैठे हुए थे। स्वामी जी के मन में आया कि गीता-पाठ होना चाहिए। गीता लायी गयी। सभी दत्तचित्त होकर सुनने लगे कि देखें, स्वामी जी गीता के सम्बन्ध में क्या कहते हैं। गीता के सम्बन्ध में उस दिन उन्होंने जो कुछ भी कहा था, वह सब दो-चार दिन के बाद ही स्वामी प्रेमानन्द जी की आज्ञा से मैंने स्मरण करके यथासाध्य लिपिबद्ध कर लिया। वह पहले 'गीता-तत्त्व' के नाम से 'उद्बोधन' के द्वितीय वर्ष में प्रकाशित हुआ और

बाद में 'भारत में विवेकानन्द' पुस्तक में अन्तर्भूत कर दिया गया। अतएव उन बातों की पुनरावृत्ति कर प्रस्तुत लेख का कलेवर बढ़ाने की इच्छा नहीं है; किन्तु उस दिन गीता की व्याख्या के सिलसिले में स्वामी जी ने जो एक नयी ही भावधारा बहायी थी, उसीको यहाँ लिपिबद्ध करने की इच्छा है। हम लोग महापुरुषों की वचनावली को अनेक बार यथासम्भव लिपिबद्ध तो करते हैं, किन्तु जिन भावों से अनुप्राणित होकर वे वाक्य उनके श्रीमुख से निकलते हैं, वे प्रायः लिपिबद्ध नहीं रहते। फिर ऐसे महापुरुषों के साक्षात् संस्पर्श में आये बिना हज़ार वर्णन करने पर भी लोग उनकी बातों के भीतर का गूढ़ मर्म नहीं समझ सकते। तो भी, जिन्हें उन लोगों के साथ साक्षात् सम्पर्क में आने का सौभाग्य नहीं मिला है, उनके लिए उन महापुरुषों के सम्बन्ध में लिपिबद्ध थोड़ी सी भी बातें बहुत आदर की वस्तु होती हैं, और उनकी आलोचना एवं ध्यान से उनका कल्याण होता है। पाठक-वर्ग ! उन महापुरुष की जिस आकृति को मैं मानो आज भी अपनी आँखों के सामने देख रहा हूँ, वह मेरे इस क्षुद्र प्रयास से आपके मनश्चक्षु के सामने भी उद्भासित हो। उनकी कथा का स्मरण कर मेरे मनश्चक्षु के सामने आज उन्हीं महापण्डित, महातेजस्वी, महाप्रेमी की तस्वीर आ खड़ी हुई है। आप लोग भी एक बार देश-काल के व्यवधान का उल्लंघन कर मेरे साथ हमारे स्वामी जी के दर्शन करने की चेष्टा करें।

हाँ, तो जब उन्होंने व्याख्या आरम्भ की, उस समय वे एक कठोर समालोचक मालूम पड़े। कृष्ण, अर्जुन, व्यास, कुरुक्षेत्र की लड़ाई आदि की ऐतिहासिकता के बारे में सन्देह की कारण-परम्परा का विवरण जब वे सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव से करने लगे, तब बीच बीच में ऐसा बोध होने लगा कि इस व्यक्ति के सामने तो कठोर समालोचक भी हार मान जाय। यद्यपि स्वामी जी ने ऐतिहासिक तत्त्व का इस प्रकार तीव्र विश्लेषण किया, किन्तु इस विषय में वे अपना मत विशेष रूप से प्रकाशित किये बिना ही आगे समझाने लगे कि धर्म के साथ इस ऐतिहासिक गवेषणा का कोई सम्पर्क नहीं है। ऐतिहासिक गवेषणा में शास्त्रोल्लिखित व्यक्ति यदि काल्पनिक भी ठहरे, तो भी उससे सनातन धर्म को कोई ठेस नहीं पहुँचती। अच्छा, यदि धर्म-साधना के साथ ऐतिहासिक गवेषणा का कोई सम्पर्क न हो, तो ऐतिहासिक गवेषणा का क्या फिर कोई मूल्य नहीं है?—इसका उत्तर देते हुए स्वामी जी ने समझाया कि निर्भीक भाव से इन सब ऐतिहासिक सत्यानु-सन्धानों का भी एक विशेष प्रयोजन है। उद्देश्य महान् होने पर भी उसके लिए मिथ्या इतिहास की रचना करने का कोई प्रयोजन नहीं! प्रत्युत यदि मनुष्य सभी विषयों में सत्य का सम्पूर्ण रूप से आश्रय लेने के लिए प्राणपण से यत्न करे,

तो वह एक दिन सत्यस्वरूप भगवान् का भी साक्षात्कार कर सकता है। उसके बाद उन्होंने गीता के मूल तत्त्व सर्वधर्मसमन्वय और निष्काम कर्म की संक्षेप में व्याख्या करके श्लोक पढ़ना आरम्भ किया। द्वितीय अध्याय के **क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ** इत्यादि में, युद्ध के लिए अर्जुन के प्रति श्री कृष्ण के जो उत्तेजनात्मक वचन हैं, उन्हें पढ़कर वे स्वयं सर्वसाधारण को जिस भाव से उपदेश देते थे, वह उन्हें स्मरण हो आया—**नैतत्त्वय्युपपद्यते**—'यह तो तुम्हें शोभा नहीं देता'—तुम सर्वशक्तिमान हो, तुम ब्रह्म हो, तुममें जो अनेक प्रकार के विपरीत भाव देख रहा हूँ, वह सब तो तुम्हें शोभा नहीं देता। मसीहा के समान ओजस्विनी भाषा में इन सब तत्त्वों को समझाते समझाते उनके भीतर से मानो तेज निकलने लगा। स्वामी जी कहने लगे, "जब सबको ब्रह्म-दृष्टि से देखना है, तो महापापी को भी घृणा-दृष्टि से देखना उचित न होगा।" "महापापी से घृणा मत करो", यह कहते कहते स्वामी जी के मुख पर जो भावान्तर हुआ, वह छबि आज भी मेरे मानसपटल पर अंकित है—मानो उनके श्रीमुख से प्रेम शतधारा बन बह निकला। श्रीमुख मानो प्रेम से दीप्त हो उठा—उसमें कठोरता का लेशमात्र भी नहीं।

इस एक श्लोक में ही सम्पूर्ण गीता का सार निहित देखकर स्वामी जी ने अन्त में यह कहते हुए उपसंहार किया, "इस एक श्लोक को पढ़ने से ही समग्र गीता के पाठ का फल होता है।"

७

एक दिन स्वामी जी ने ब्रह्मसूत्र लाने के लिए कहा। कहने लगे, "ब्रह्मसूत्र के भाष्य को बिना पढ़े इस समय स्वतन्त्र रूप से तुम सब लोग सूत्रों का अर्थ समझने की चेष्टा करो।" प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के सूत्रों का पढ़ना प्रारम्भ हुआ। स्वामी जी शुद्ध रूप से संस्कृत उच्चारण करने की शिक्षा देने लगे; कहने लगे, "संस्कृत भाषा का उच्चारण हम लोग ठीक ठीक नहीं करते। इसका उच्चारण तो इतना सरल है कि थोड़ी चेष्टा करने से ही सब लोग संस्कृत का शुद्ध उच्चारण कर सकते हैं। हम लोग बचपन से ही दूसरे प्रकार का उच्चारण करने के आदी हो गये हैं, इसीलिए इस प्रकार का उच्चारण अभी हम लोगों को इतना नया और कठिन मालूम होता है। हम लोग 'आत्मा' शब्द का उच्चारण 'आत्मा' न करके 'आत्ताँ' क्यों करते हैं? महर्षि पतंजलि अपने महाभाष्य में कहते हैं—'अपशब्द उच्चारण करनेवाला म्लेच्छ है।' अतः उनके मत से हम सब तो म्लेच्छ ही हुए।" तब नवीन ब्रह्मचारी और संन्यासीगण एक एक करके, जहाँ तक बन सका, ठीक ठीक उच्चारण करके ब्रह्मसूत्र पढ़ने लगे। बाद में स्वामी जी वह उपाय बतलाने

लगे, जिससे सूत्र का प्रत्येक शब्द लेकर उसका अक्षरार्थ किया जा सके। उन्होंने कहा, "कौन कहता है कि ये सूत्र केवल अद्वैत मत के परिपोषक हैं? शंकर अद्वैत-वादी थे, इसलिए उन्होंने सभी सूत्रों की केवल अद्वैत मतपरक व्याख्या करने की चेष्टा की है, किन्तु तुम लोग सूत्र का अक्षरार्थ करने की चेष्टा करना—व्यास का यथार्थ अभिप्राय क्या है, यह समझने की चेष्टा करना। उदाहरण के रूप में देखो—**अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति**[1]—मेरे मतानुसार इस सूत्र की ठीक ठीक व्याख्या यह है कि यहाँ अद्वैत और विशिष्टाद्वैत, दोनों ही वाद भगवान् वेदव्यास द्वारा इंगित हुए हैं।

स्वामी जी एक ओर जैसे गम्भीर प्रकृतिवाले थे, उसी तरह दूसरी ओर रसिक भी थे। पढ़ते पढ़ते **कामाच्च नानुमानापेक्षा**[2] सूत्र आया। स्वामी जी इस सूत्र को लेकर स्वामी प्रेमानन्द के निकट इसका विकृत अर्थ करके हँसने लगे। सूत्र का सच्चा अर्थ यह है—जब उपनिषद् में, जगत्कारण के प्रसंग में 'सोऽकामयत' (उन्होंने अर्थात् उन्हीं जगत्कारण ने कामना की) इस तरह का वचन है, तब 'अनुमानगम्य' (अचेतन) प्रधान या प्रकृति को जगत्कारण रूप में स्वीकार करने की कोई आव-श्यकता नहीं। जिन्होंने शास्त्र-ग्रन्थों का अपनी अपनी अद्भुत रुचि के अनुसार कुत्सित अर्थ करके ऐसे पवित्र सनातन धर्म को घोर विकृत कर डाला है और ग्रन्थकार का जो अर्थ किसी भी काल में अभिप्रेत नहीं था, ग्रन्थकार ने जिसे स्वप्न में भी नहीं सोचा था, ऐसे सभी विषयों को जिन्होंने ग्रन्थ-प्रतिपाद्य बातें सिद्ध करते हुए धर्म को शिष्ट जनों से 'दूरात्परिहर्तव्य' कर डाला है, क्या स्वामी जी उन्ही लोगों का तो उपहास नहीं कर रहे थे? अथवा, वे जैसे कभी कभी कहा करते थे, कठिन शुष्क ग्रन्थ की धारणा कराने के लिए वे बीच बीच में साधारण मन के उपयुक्त रसिकता लाकर दूसरों को अनायास ही उस ग्रन्थ की धारणा करा देते थे, तो सम्भवतः कहीं वही चेष्टा तो नहीं कर रहे थे?

जो भी हो, पाठ चलने लगा। बाद में **शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्**[3] सूत्र आया। इस सूत्र की व्याख्या करके स्वामी जी स्वामी प्रेमानन्द की ओर देख-कर कहने लगे, "देखो, तुम्हारे ठाकुर[4] जो अपने को भगवान् कहते थे, सो इसी भाव से कहते थे।" पर यह कहकर ही स्वामी जी दूसरी ओर मुँह फेरकर कहने

---

१. ब्रह्मसूत्र ॥१।१।१९॥
२. वही, १८
३. वही, ३०
४. भगवान् श्री रामकृष्ण देव।

लगे, "किन्तु उन्होंने मुझसे अपने अन्तिम समय में कहा था—'जो राम, जो कृष्ण, वही अब रामकृष्ण; तेरे वेदान्त की दृष्टि से नहीं।'" यह कहकर दूसरा सूत्र पढ़ने के लिए कहा।

यहाँ पर इस सूत्र के सम्बन्ध में कुछ व्याख्या करनी आवश्यक है। कौषीतकी उपनिषद् में इन्द्र-प्रतर्दन संवाद नामक एक आख्यायिका है। उसमें लिखा है, प्रतर्दन नामक एक राजा ने देवराज इन्द्र को सन्तुष्ट किया। इन्द्र ने उसे वर देना चाहा। इस पर प्रतर्दन ने उनसे यह वर माँगा कि आप मानव के लिए जो सबसे अधिक कल्याणकारी समझते हैं, वही वर मुझे दें। इस पर इन्द्र ने उसे उपदेश दिया—**मां विजानीहि**—'मुझे जानो।' यहाँ पर सूत्रकार ने यह प्रश्न उठाया है कि 'मुझे' के अर्थ में इन्द्र ने किसको लक्ष्य किया है। सम्पूर्ण आख्यायिका का अध्ययन करने पर पहले अनेक सन्देह होते हैं—'मुझे' कहने से स्थान स्थान पर ऐसा ज्ञात होता है कि उसका आशय 'देवता' से है, कहीं कहीं पर ऐसा मालूम होता है कि उसका आशय 'प्राण' से है, कही पर 'जीव' से, तो कहीं पर 'ब्रह्म' से। यहाँ पर अनेक प्रकार के विचार द्वारा सूत्रकार सिद्धान्त करते हैं कि इस स्थल में 'मुझे' पद का आशय है 'ब्रह्म' से। 'शास्त्रदृष्ट्या' इत्यादि सूत्र के द्वारा सूत्रकार ऐसा एक उदाहरण दिखलाते हैं, जिससे इन्द्र का उपदेश इसी अर्थ में संगत होता है। उपनिषद् के एक स्थल में है कि वामदेव ऋषि ब्रह्मज्ञान लाभ कर बोले थे —'मैं मनु हुआ हूँ, मैं सूर्य हुआ हूँ।' इन्द्र ने भी इसी प्रकार शास्त्र-प्रतिपाद्य ब्रह्म-ज्ञान को प्राप्त कर कहा था—**मां विजानीहि** (मुझे जानो)। यहाँ पर 'मैं' और 'ब्रह्म' एक ही बात है।

स्वामी जी भी स्वामी प्रेमानन्द से कहने लगे, "श्री रामकृष्ण देव जो कभी कभी अपने को भगवान् कहकर निर्देश करते थे, सो वह इस ब्रह्मज्ञान की अवस्था प्राप्त होने के कारण ही करते थे। वास्तव में वे तो सिद्ध पुरुष मात्र थे, अवतार नहीं।" पर यह बात कहकर ही उन्होंने धीरे से एक दूसरे व्यक्ति से कहा, "श्री रामकृष्ण स्वयं अपने सम्बन्ध में कहते थे, 'मैं केवल ब्रह्मज्ञ पुरुष ही नहीं हूँ, मैं अवतार हूँ।'" अतः, जैसा कि हमारे एक मित्र कहा करते थे, श्री रामकृष्ण को एक साधु या सिद्ध पुरुष मात्र नहीं कहा जा सकता; यदि उनकी बातों पर विश्वास करना है, तो उन्हें अवतार कहकर मानना होगा, नहीं तो ढोंगी कहना होगा।

जो हो, स्वामी जी की बात से मेरा एक विशेष उपकार हुआ। सामान्य अंग्रेजी पढ़कर चाहे और कुछ सीखा हो या न सीखा हो, किन्तु सन्देह करना तो अच्छी तरह सीखा था। मेरी यह धारणा थी कि महापुरुषों के शिष्यगण अपने गुरु की बड़ाई कर उन्हें अनेक प्रकार की कल्पना और अतिरंजना का विषय बना

देते हैं। परन्तु स्वामी जी की अद्भुत अकपटता और सत्यनिष्ठा को देखकर, वे भी किसी प्रकार की अतिरंजना कर सकते हैं, यह धारणा एकदम दूर हो गयी। स्वामी जी के वचन ध्रुव सत्य हैं, यही धारणा हुई। इसलिए उनके वाक्य में श्री रामकृष्ण देव के सम्बन्ध में एक नवीन प्रकाश पाया। जो राम, जो कृष्ण, वही अब रामकृष्ण—यह बात उन्होंने स्वयं कही है; अभी यही बात हम समझने की चेष्टा कर रहे हैं। स्वामी जी में अपार दया थी, वे हम लोगों से सन्देह छोड़ देने को नहीं कहते थे, चट से किसीकी बात में विश्वास कर लेने के लिए उन्होंने कभी नहीं कहा। वे तो कहते थे, "इस अद्भुत रामकृष्ण-चरित्र की तुम लोग अपनी विद्या-बुद्धि के द्वारा जहाँ तक हो सके, आलोचना करो, इसका अध्ययन करो—मैं तो इसका एक लक्षांश भी समझ न पाया। उनको समझने की जितनी चेष्टा करोगे, उतना ही सुख पाओगे, उतना ही उनमें डूब जाओगे।"

८

स्वामी जी एक दिन हम सबको पूजा-गृह में ले जाकर साधन-भजन सिखलाने लगे। उन्होंने कहा, "पहले सब लोग आसन लगाकर बैठो; चिन्तन करो—मेरा आसन दृढ़ हो, यह आसन अचल-अटल हो, इसीकी सहायता से मैं संसार-समुद्र के पार होऊँगा।" सभी ने बैठकर कई मिनट तक इस प्रकार चिन्तन किया। उसके बाद स्वामी जी फिर कहने लगे, "चिन्तन करो—मेरा शरीर नीरोग और स्वस्थ है, वज्र के समान दृढ़ है, इसी देह की सहायता से मैं संसार को पार करूँगा।" इस प्रकार कुछ देर तक चिन्तन करने के बाद स्वामी जी फिर कहने लगे, "अब इस प्रकार चिन्तन करो कि मेरे निकट से पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चारों दिशाओं में प्रेम का प्रवाह बह रहा है—हृदय के भीतर से सम्पूर्ण जगत् के लिए शुभकामना हो रही है—सभी का कल्याण हो, सभी स्वस्थ और नीरोग हों। इस प्रकार चिन्तन करने के बाद कुछ देर प्राणायाम करना, अधिक नहीं, तीन प्राणायाम करने से ही काफ़ी है। इसके बाद हृदय में अपने अपने इष्टदेव की मूर्ति का चिन्तन और मन्त्र-जप लगभग आध घंटे तक करना।" सब लोग स्वामी जी के उपदेशानुसार चिन्तन आदि की चेष्टा करने लगे।

इस प्रकार सामूहिक साधनानुष्ठान मठ में दीर्घ काल तक होता रहा है, एवं स्वामी जी की आज्ञा से स्वामी तुरीयानन्द नवीन संन्यासियों और ब्रह्मचारियों को लेकर बहुत समय तक, 'इस बार इस प्रकार चिन्तन करो, उसके बाद ऐसा करो,' इस तरह बतला बतलाकर और स्वयं अनुष्ठान कर स्वामी जी द्वारा बतलायी गयी साधना-प्रणाली का अभ्यास कराते थे।

९

एक दिन सवेरे ९-१० वजे मैं एक कमरे में वैठकर कुछ कर रहा था, उसी समय सहसा तुलसी महाराज (स्वामी निर्मलानन्द) आकर बोले, "स्वामी जी से दीक्षा लोगे?" मैंने कहा, "जी हाँ।" इसके पहले मैंने कुलगुरु या और किसीके पास किसी प्रकार मन्त्र-दीक्षा नहीं ली थी। एक योगी के पास प्राणायाम आदि कुछ योग-क्रियाओं का मैंने तीन वर्ष तक साधन किया था और उससे वहुत कुछ शारीरिक उन्नति और मन की स्थिरता भी मुझे प्राप्त हुई थी, किन्तु वे गृहस्थाश्रम का अवलम्बन करना अत्यावश्यक वतलाते थे, और प्राणायाम आदि योग-क्रिया को छोड़कर ज्ञान, भक्ति आदि अन्यान्य मार्गों को विल्कुल व्यर्थ कहते थे। इस प्रकार की कट्टरता मुझे विल्कुल अच्छी नहीं लगती थी। दूसरी ओर, मठ के कोई कोई संन्यासी और उनके भक्तगण योग का नाम सुनते ही वात को हँसी में उड़ा देते थे। 'उससे विशेष कुछ नहीं होता, श्री रामकृष्ण देव उसके उतने पक्षपाती नहीं थे,' इत्यादि वातें मैं उन लोगों से सुना करता था। पर जब मैंने स्वामी जी का राजयोग पढ़ा, तो समझा कि इस ग्रन्थ के प्रणेता जैसे योगमार्ग के समर्थक हैं, वैसे ही अन्यान्य मार्गों के प्रति भी श्रद्धालु हैं; अतएव कट्टर तो हैं ही नहीं, अपितु इस प्रकार के उदार भावसम्पन्न आचार्य मुझे कभी दृष्टिगोचर नहीं हुए; तिस पर वे संन्यासी भी हैं;—अतएव उनके प्रति यदि मेरे हृदय में विशेष श्रद्धा हो, तो उसमें आश्चर्य ही क्या? वाद में मैंने विशेष रूप से जाना कि श्री रामकृष्ण देव सावारणतया प्राणायाम आदि योग-क्रिया का उपदेश नहीं दिया करते थे। वे जप और ध्यान पर ही विशेष रूप से जोर देते थे। वे कहा करते थे, "ध्यानावस्था के प्रगाढ़ होने पर अथवा भक्ति की प्रवलता आने पर प्राणायाम स्वयमेव हो जाता है, इन सव दैहिक क्रियाओं का अनुष्ठान करने से अनेक वार मन देह की ओर आकृष्ट हो जाता है।" किन्तु अन्तरंग शिष्यों से वे योग के उच्च अंगों की सावना कराते थे, उन्हें स्पर्श करके अपनी आध्यात्मिक शक्ति के वल से उन लोगों की कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत कर देते थे, एवं षट्चक्र के विभिन्न चक्रों में मन की स्थिरता की सुविधा के लिए समय समय पर शरीर के किसी विशिष्ट अंग में सुई चुभाकर वहाँ मन को स्थिर करने के लिए कहते थे। स्वामी जी ने अपने पाश्चात्य शिष्यों में से वहुतों को प्राणायाम आदि क्रियाओं का जो उपदेश दिया था, वह, मैं समझता हूँ, उनका अपना कपोलकल्पित नहीं था, वरन् उनके गुरु द्वारा उपदिष्ट मार्ग था। स्वामी जी एक वात कहा करते थे कि यदि किसीको सचमुच सन्मार्ग में प्रवृत्त करना हो, तो उसीकी भाषा में उसे उपदेश देना होगा। इसी भाव का अनुसरण करके वे व्यक्तिविशेष अथवा अविकारीविशेष को भिन्न भिन्न साधना-

प्रणाली की शिक्षा देते थे और इस तरह सभी प्रकार की प्रकृतिवाले मनुष्यों को थोड़ी-बहुत आध्यात्मिक सहायता देने में सफल होते थे।

जो हो, मैं इतने दिनों से उनका उपदेश सुन रहा हूँ, किन्तु उनके पास से मुझे अभी तक किसी प्रकार की प्रत्यक्ष आध्यात्मिक सहायता नहीं मिली, और उसके लिए मैंने चेष्टा भी नहीं की। चेष्टा न करने का कारण यह था कि मुझे करने का साहस नहीं होता था, और शायद मन के भीतर यह भी भाव था कि जब मैं इनके आश्रित हुआ हूँ, तो जो जो मेरे लिए आवश्यक है, सभी पाऊँगा। किस प्रकार वे मेरी आध्यात्मिक सहायता करेंगे, यह मैं नहीं जानता था। इस समय स्वामी निर्मलानन्द के ऐसे बिनमाँगे आह्वान से मन में और किसी प्रकार की दुविधा नहीं रही। 'लूँगा' ऐसा कहकर उनके साथ पूजा-गृह की ओर बढ़ा। मैं नहीं जानता था कि उस दिन श्रीयुत शरच्चन्द्र चक्रवर्ती भी दीक्षा ले रहे हैं। उस समय दीक्षा-दान समाप्त नहीं हुआ था, इसलिए, स्मरण है, पूजा-गृह के बाहर कुछ देर तक मुझे प्रतीक्षा करनी पड़ी थी। बाद में शरत् बाबू बाहर आये, तो उसी समय तुलसी महाराज मुझे ले जाकर स्वामी जी से बोले, "यह दीक्षा लेगा।" स्वामी जी ने मुझसे बैठने के लिए कहा। पहले ही उन्होंने पूछा, "तुझे साकार अच्छा लगता है या निराकार?"

मैंने कहा, "कभी साकार अच्छा लगता है, कभी निराकार।"

इसके उत्तर में वे बोले, "वैसा नहीं; गुरु समझ सकते हैं, किसका क्या मार्ग है; हाथ देखूँ।" ऐसा कहकर मेरा दाहिना हाथ कुछ देर तक लेकर थोड़ी देर जैसे ध्यान करने लगे। उसके बाद हाथ छोड़कर बोले, "तूने कभी घट-स्थापना करके पूजा की है?" घर छोड़ने के कुछ पहले घट-स्थापना करके मैंने बहुत देर तक कोई पूजा की थी। वह बात मैंने उनसे बतायी। तब एक देवता का मन्त्र बताकर उन्होंने उसे अच्छी तरह मुझे समझा दिया और कहा, "इस मन्त्र से तेरा कल्याण होगा। और घट-स्थापना करके पूजा करने से तेरा कल्याण होगा।" उसके बाद मेरे सम्बन्ध में एक भविष्यवाणी करके, उन्होंने सामने पड़े हुए कुछ फलों को गुरु-दक्षिणा के रूप में देने के लिए मुझसे कहा।

मैंने देखा, यदि मुझे भगवान् के शक्तिस्वरूप किन्हीं देवता की उपासना करनी हो, तो मुझे स्वामी जी ने जिन देवता के मन्त्र का उपदेश दिया है, वे ही देवता मेरी प्रकृति के साथ पूर्णरूपेण मेल खाते हैं। सुना था—सच्चे गुरु शिष्य की प्रकृति को समझकर मन्त्र देते हैं। स्वामी जी में आज उसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिला।

दीक्षा-दान के कुछ देर बाद स्वामी जी का भोजन हुआ। स्वामी जी की थाली में से मैंने और शरच्चन्द्र बाबू ने प्रसाद ग्रहण किया।

उस समय श्रीयुत नरेन्द्रनाथ सेन द्वारा सम्पादित 'इन्डियन मिरर' नामक अंग्रेज़ी दैनिक मठ में बिना मूल्य दिया जाता था, किन्तु मठ के संन्यासियों की ऐसी स्थिति नहीं थी कि उसका डाक-खर्च भी दे सकते। वह पत्र एक पत्रवाहक द्वारा वराहनगर तक वितरित होता था। वराहनगर में 'देवालय' के प्रतिष्ठाता सेवा-व्रती श्री शशिपद बन्द्योपाध्याय द्वारा प्रतिष्ठित एक विधवाश्रम था। वहाँ पर इस आश्रम के लिए उक्त पत्र की एक प्रति आती थी। 'इन्डियन मिरर' का पत्रवाहक बस वहीं तक आता था, इसलिए मठ का समाचारपत्र भी वहीं दे जाता था। वहाँ से प्रतिदिन पत्र को मठ में लाना पड़ता था। उक्त विधवाश्रम के ऊपर स्वामी जी की यथेष्ट सहानुभूति थी। अमेरिका-प्रवास में इस आश्रम की सहायता के लिए स्वामी जी ने अपनी इच्छा से एक व्याख्यान दिया था और उस व्याख्यान के टिकट बेचकर जो कुछ आय हुई, उसे इस आश्रम में दे दिया था। अस्तु, उस समय मठ के लिए बाज़ार करना, पूजा का आयोजन करना आदि सभी कार्य कन्हाई महाराज (स्वामी निर्भयानन्द) को करना पड़ता था। इस 'इन्डियन मिरर' पत्र को लाने का भार भी उन्हींके ऊपर था। उस समय मठ में हम लोग बहुत से नवदीक्षित संन्यासी-ब्रह्मचारी आ जुटे थे, किन्तु तब भी मठ के सब कार्यो का भार सब पर नहीं बाँटा गया था। इसलिए स्वामी निर्भयानन्द को यथेष्ट कार्य करना पड़ता था। अतएव उनके भी मन में आता था कि अपने कार्यों में से थोड़ा थोड़ा कार्य यदि नवीन साधुओं को दे सकें, तो कुछ अवकाश मिले। इस उद्देश्य से उन्होंने मुझसे कहा, "देखो, जिस जगह 'इन्डियन मिरर' आता है, उस स्थान को तुम्हें दिखला दूँगा, —तुम वहाँ से प्रतिदिन समाचारपत्र ले आना।" मैंने उसे अत्यन्त सरल कार्य समझकर एवं इससे एक व्यक्ति का कार्य-भार कुछ हलका होगा, ऐसा सोचकर, सहज में ही स्वीकार कर लिया। एक दिन दोपहर के भोजन के बाद कुछ देर विश्राम कर लेने पर निर्भयानन्द जी ने मुझसे कहा, "चलो, वह विधवाश्रम तुम्हें दिखला दूँ।" मैं उनके साथ जाने के लिए तैयार हुआ। इसी बीच स्वामी जी ने मुझे देखकर वेदान्त पढ़ने के लिए बुलाया। मैंने कहा कि मैं अमुक कार्य से जा रहा हूँ। इस पर स्वामी जी कुछ नहीं बोले। मैं कन्हाई महाराज के साथ बाहर जाकर उस स्थान को देख आया। लौटकर जब मठ में आया, तो अपने एक ब्रह्म-चारी मित्र से सुना कि मेरे चले जाने के कुछ देर बाद स्वामी जी किसीसे कह रहे थे, "यह लड़का कहाँ गया है? क्या स्त्रियों को तो देखने नहीं गया?" इस बात को सुनकर मैंने कन्हाई महाराज से कहा, "भाई, मैं स्थान देख तो आया, पर समाचारपत्र लाने के लिए अब वहाँ न जा सकूँगा।"

शिष्यों के, विशेषतः नवीन ब्रह्मचारियों के चरित्र की जिससे रक्षा हो, उस विषय में स्वामी जी विशेष सावधान थे। कलकत्ते में विशेष प्रयोजन के बिना कोई साधु-ब्रह्मचारी रहे या रात बिताये—यह उन्हें बिल्कुल पसन्द न था, और विशेषतः वह स्थान, जहाँ स्त्रियों के संस्पर्श में आना होता था। इसके सैकड़ों उदाहरण देख चुका हूँ।

स्वामी जी जिस दिन मठ से रवाना होकर अल्मोड़ा जाने के लिए कलकत्ता गये, उस दिन सीढ़ी के बग़ल के बरामदे में खड़े होकर अत्यन्त आग्रह के साथ नवीन ब्रह्मचारियों को सम्बोधन करके ब्रह्मचर्य के बारे में उन्होंने जो बातें कही थीं, वे मानो अभी भी मेरे कानों में गूँज रही हैं। उन्होंने कहा—

"देखो बच्चो, ब्रह्मचर्य के बिना कुछ भी न होगा। धर्म-जीवन का लाभ करना हो, तो उसमें ब्रह्मचर्य ही एकमात्र सहायक है। तुम लोग स्त्रियों के संस्पर्श में बिल्कुल न आना। मैं तुम लोगों को स्त्रियों से घृणा करने के लिए नहीं कहता, वे तो साक्षात् भगवतीस्वरूपा हैं; किन्तु अपने को बचाने के लिए तुम लोगों को उनसे दूर रहने के लिए कहता हूँ। मैंने अपने व्याख्यानों में बहुत जगह जो कहा है कि संसार में रहकर भी धर्म होता है, सो वह पढ़कर मन में ऐसा न समझ लेना कि मेरे मत में ब्रह्मचर्य या संन्यास धर्म-जीवन के लिए अत्यावश्यक नहीं है। क्या करता, उन सब भाषणों के सुननेवाले सभी संसारी थे, सभी गृही थे—उनके सामने पूर्ण ब्रह्मचर्य की बात यदि एकदम कहने लगता, तो दूसरे दिन से कोई भी मेरा व्याख्यान सुनने न आता। ऐसे लोगों के लिए छूट-ढिलाई दिये जाने पर, वे क्रमशः पूर्ण ब्रह्मचर्य की ओर आकृष्ट होते हैं, इसीलिए मैंने उस प्रकार के भाषण दिये थे। किन्तु अपने मन की बात तुम लोगों से कहता हूँ—ब्रह्मचर्य के बिना तनिक भी धर्मलाभ न होगा। काया, मन और वाणी से तुम लोग ब्रह्मचर्य का पालन करना।"

१०

एक दिन विलायत से कोई पत्र आया। उसे पढ़कर स्वामी जी उसी प्रसंग में, धर्म-प्रचारक में कौन कौन से गुण रहने पर वह सफल हो सकेगा, यह बताने लगे। अपने शरीर के भिन्न भिन्न अवयवों की ओर लक्ष्य करके कहने लगे कि धर्म-प्रचारक का अमुक अंग खुला रहना आवश्यक है और अमुक अंग बन्द। अर्थात् उसका सिर, हृदय और मुख खुला रहना चाहिए, यानी उसे प्रबल मेधावी, सहृदय और वाग्मी होना चाहिए। और उसके अधोदेश के अंगों का कार्य बन्द होगा, अर्थात् वह पूर्ण ब्रह्मचारी होगा। एक प्रचारक को लक्ष्य करके कहने लगे,

"उसमें सभी गुण हैं, केवल एक हृदय का अभाव है—ठीक है, क्रमशः हृदय भी खुल जायगा।"

उस पत्र में यह संवाद था कि भगिनी निवेदिता (उस समय कुमारी नोवल) इंग्लैण्ड से भारत के लिए शीघ्र ही रवाना होंगी। निवेदिता की प्रशंसा करने में स्वामी जी शतमुख हो गये। कहने लगे, "इंग्लैण्ड में इस प्रकार की पवित्र-चरित महानुभाव नारियाँ बहुत कम है। मैं यदि कल मर जाऊँ, तो वह मेरे काम को चालू रखेगी।" स्वामी जी की यह भविष्यवाणी सफल हुई थी।

११

स्वामी जी के पास पत्र आया है कि वेदान्त के श्रीभाष्य के अंग्रेजी अनुवादक तथा स्वामी जी की सहायता द्वारा मद्रास से प्रकाशित होनेवाले विख्यात 'ब्रह्म-वादिन्' पत्र के प्रधान लेखक एवं मद्रास के प्रतिष्ठित अध्यापक श्रीयुत रंगाचार्य तीर्थ-भ्रमण के सिलसिले में शीघ्र ही कलकत्ता जायँगे। स्वामी जी मध्याह्न समय मुझसे बोले, "पत्र लिखने के लिए काग़ज़ और क़लम लाकर जरा लिख तो; और देख, थोड़ा पीने के लिए पानी भी लेता आ।" मैंने एक गिलास पानी लाकर स्वामी जी को दिया और डरते हुए धीरे धीरे बोला, "मेरे हाथ की लिखावट उतनी अच्छी नहीं है।" मैंने सोचा था, शायद विलायत या अमेरिका के लिए कोई पत्र लिखना होगा। स्वामी जी इस पर बोले, "कोई हरज नहीं, आ, लिख, foreign letter (विलायती पत्र) नहीं है।" तब मैं काग़ज़-क़लम लेकर पत्र लिखने के लिए बैठा। स्वामी जी अंग्रेज़ी में बोलने लगे। उन्होंने अध्यापक रंगाचार्य को एक पत्र लिखाया और एक पत्र किसी दूसरे को; किसे—यह ठीक स्मरण नहीं है। मुझे याद है—रंगाचार्य को बहुत सी दूसरी बातों में एक यह भी बात लिखायी थी: 'बंगाल में वेदान्त की वैसी चर्चा नहीं है, अतएव जब आप कलकत्ता आ रहे हैं, तो कलकत्तावासियों को ज़रा हिलाकर जायँ।' कलकत्ते में जिससे वेदान्त की चर्चा बढ़े, कलकत्तावासी जिससे थोड़ा सचेत हों, उसके लिए स्वामी जी कितने सचेष्ट थे! स्वामी जी ने अस्वस्थ होने के कारण चिकित्सकों के साग्रह अनुरोध से कलकत्ते में केवल दो व्याख्यान देकर फिर व्याख्यान देना बन्द कर दिया था; किन्तु तो भी जब कभी सुविधा पाते, कलकत्तावासियों की धर्म-भावना को जाग्रत करने की चेष्टा करते रहते थे। स्वामी जी के इस पत्र के फलस्वरूप, इसके कुछ दिन बाद कलकत्तावासियों ने स्टार रंगमंच पर उक्त पण्डित प्रवर का 'दि प्रीस्ट ऐण्ड दि प्रॉफ़ेट' (पुरोहित और ऋषि) नामक सारगर्भित व्याख्यान सुनने का सौभाग्य प्राप्त किया था।

१२

इसी समय, एक बंगाली युवक मठ में आया और उसने वहाँ साधु होकर रहने की इच्छा प्रकट की। स्वामी जी तथा वहाँ के अन्यान्य साधु उसके चरित्र से पहले ही से विशेषतया परिचित थे। उसको आश्रमवासी होने में अनुपयुक्त समझकर कोई भी उसे मठ में रखने के पक्ष में नहीं था। पर उसके पुनः पुनः प्रार्थना करने पर स्वामी जी ने उससे कहा, "मठ के साधुओं का यदि मत हो, तो तुम्हें रख सकता हूँ।" यह कहकर पुराने साधुओं को बुलाकर उन्होंने पूछा, "इसको मठ में रखने के बारे में तुम लोगों का क्या मत है?" उस पर सभी साधुओं ने उसे मठ में रखने में अनिच्छा प्रदर्शित की। अतः उस युवक को मठ में नहीं रखा गया। इसके कुछ दिनों बाद सुना कि वह व्यक्ति किसी तरह विलायत गया, और पास में पैसा-कौड़ी न रहने के कारण उसे 'वर्क-हाउस' में रहना पड़ा।

१३

एक दिन अपराह्न काल में स्वामी जी मठ के बरामदे में हम लोगों को लेकर वेदान्त पढ़ाने बैठे। सन्ध्या होने ही वाली थी। स्वामी रामकृष्णानन्द को इससे कुछ दिन पहले स्वामी जी ने प्रचार-कार्य के लिए मद्रास भेजा था। इसीलिए उस समय मठ में पूजा-आरती आदि उनके एक दूसरे गुरुभ्राता सँभालते थे। आरती आदि में जो लोग उनकी सहायता करते थे, उन्हें भी लेकर स्वामी जी वेदान्त पढ़ाने बैठे थे। उसी समय उक्त गुरुभ्राता आकर नवीन संन्यासी-ब्रह्मचारियों से कहने लगे, "चलो जी, चलो, आरती करनी होगी, चलो।" उस समय एक ओर स्वामी जी के आदेश से सभी वेदान्त पढ़ने में लगे हुए थे, और दूसरी ओर इनके आदेश से ठाकुर जी की आरती मे सहयोग देना चाहिए। अतएव नवीन साधु लोग कुछ समय असमंजस में पड़ गये। तब स्वामी जी अपने गुरुभ्राता को सम्बोधित करके उत्तेजित होकर कहने लगे, "यह जो वेदान्त पढ़ा जा रहा था, यह क्या ठाकुर की पूजा नहीं है? केवल एक चित्र के सामने जलती हुई बत्ती घुमाना और झाँझ पीटना—मालूम होता है, इसीको तुम भगवान् की आराधना समझते हो! तुम्हारी बुद्धि बड़ी ओछी है।" इस तरह कहते कहते, ज़रा और भी अधिक उत्तेजित हो इस प्रकार वेदान्त-पाठ में बाधा उपस्थित करने के कारण कुछ और भी अधिक कड़े वाक्य कहने लगे। फल यह हुआ कि वेदान्त-पाठ बन्द हो गया। कुछ देर बाद आरती भी समाप्त हो गयी। किन्तु आरती के बाद उक्त गुरुभ्राता चुपके से कहीं चले गये। तब तो स्वामी जी भी अत्यन्त व्याकुल होकर बारम्बार "वह कहाँ गया, क्या वह मेरी गाली खाकर गंगा में तो नहीं

डूब गया।" इस तरह कहने लगे और सभी लोगों को उन्हें ढूंढ़ने के लिए चारों ओर भेजा। वहुत देर वाद मठ की छत पर चिन्तित भाव से उन्हें वैठे हुए देखकर एक व्यक्ति उन्हें स्वामी जी के पास ले आये। उस समय स्वामी जी का भाव एकदम परिवर्तित हो गया। उन्होंने उनका कितना दुलार किया, और कितनी मधुर वाणी में उनसे वातें करने लगे। हम लोग स्वामी जी का गुरुभाई के प्रति अपूर्व प्रेम देखकर मुग्ध हो गये। तव हम लोगों को मालूम हुआ कि गुरुभाइयों के ऊपर स्वामी जी का अगाध विश्वास और प्रेम है। उनकी आन्तरिक चेष्टा यही रहती थी कि वे लोग अपनी निष्ठा को सुरक्षित रखकर अधिकाधिक उन्नत एवं उदार बन सकें। वाद में स्वामी जी के श्रीमुख से अनेक वार सुना है कि स्वामी जी जिनकी अधिक भर्त्सना करते थे, वे ही उनके विशेष प्रीति-पात्र थे।

१४

एक दिन वरामदे में टहलते-टहलते उन्होंने मुझसे कहा, "देख, मठ की एक डायरी रखना और प्रत्येक सप्ताह मठ की एक रिपोर्ट भेजना।" स्वामी जी के इस आदेश का मैंने, और वाद में अन्य व्यक्तियों ने भी, पालन किया था। अभी भी मठ की वह आंशिक (छोटी) डायरी मठ में सुरक्षित है। उससे अभी भी मठ के क्रम-विकास और स्वामी जी के सम्वन्ध में वहुत से तथ्य संग्रह किये जा सकते हैं।

प्रश्नोत्तर

प्रश्नोत्तर

१

(बेलूड़ मठ की डायरी से)

प्रश्न—गुरु किसे कह सकते हैं?

उत्तर—जो तुम्हारे भूत-भविष्य को बता सकें, वे ही तुम्हारे गुरु हैं।

प्रश्न—भक्ति-लाभ किस प्रकार होता है?

उत्तर—भक्ति तो तुम्हारे भीतर ही है—केवल उसके ऊपर काम-कांचन का एक आवरण सा पड़ा हुआ है। उसको हटाते ही भीतर की वह भक्ति स्वयमेव प्रकट हो जायगी।

प्रश्न—हमें आत्मनिर्भर होना चाहिए—इस कथन का सच्चा अर्थ क्या है?

उत्तर—यहाँ 'आत्म' का अर्थ है, चिरंतन नित्य आत्मा। फिर भी, इस 'अनित्य अहं' पर निर्भरता का अभ्यास भी हमें धीरे धीरे सच्चे लक्ष्य पर पहुँचा देगा; क्योंकि जीवात्मा भी तो वस्तुतः नित्यात्मा की मायिक अभिव्यक्ति ही तो है।

प्रश्न—यदि सचमुच एक ही वस्तु सत्य हो, तो फिर यह द्वैत-बोध, जो सदा-सर्वदा सबको हो रहा है, कहाँ से आया?

उत्तर—किसी विषय के प्रत्यक्ष में कभी द्वैत-बोध नहीं होता। प्रत्यक्ष के पुनः उपस्थित होने में ही द्वैत का बोध होता है। यदि विषय-प्रत्यक्ष के समय द्वैत-बोध रहता, तो ज्ञेय ज्ञाता से सम्पूर्ण स्वतन्त्र रूप में तथा ज्ञाता भी ज्ञेय से स्वतन्त्र रूप में रह सकता।

प्रश्न—चरित्र का सामंजस्यपूर्ण विकास करने का सर्वोत्तम उपाय कौन सा है?

उत्तर—जिनका चरित्र उस रूप से गठित हुआ हो, उनका संग करना ही इसका सर्वोत्कृष्ट उपाय है।

प्रश्न—वेद के विषय में हमारा दृष्टिकोण किस प्रकार का होना चाहिए?

उत्तर—वेदों के केवल उन्हीं अंशों को प्रमाण मानना चाहिए, जो युक्ति-विरोधी नहीं हैं। पुराणादि अन्यान्य शास्त्र वहीं तक ग्राह्य हैं, जहाँ तक वे वेद से अविरोधी हैं। वेद के पश्चात् इस संसार में जहाँ कहीं जो भी धर्म-भाव आविर्भूत हुआ है, उसे वेद से ही गृहीत समझना चाहिए।

प्रश्न—यह चार युगों का काल-विभाजन क्या ज्योतिषशास्त्र की गणना के अनुसार सिद्ध है अथवा केवल रूढ़िगत ही है?

उत्तर—वेदों में तो कहीं ऐसे विभाजन का उल्लेख नहीं है। यह पौराणिक युग की निराधार कल्पना मात्र है।

प्रश्न—शब्द और भाव के बीच क्या सचमुच कोई नित्य सम्बन्ध है? अथवा मात्र संयोगज और रूढ़िगत?

उत्तर—इस विषय में अनेक तर्क किये जा सकते हैं, किसी स्थिर सिद्धान्त पर पहुँचना बड़ा कठिन है। मालूम होता है कि शब्द और अर्थ के बीच नित्य सम्वन्ध है, पर पूर्णतया नही; जैसा भाषाओं की विविधता से सिद्ध होता है। हाँ, कोई सूक्ष्म सम्वन्ध हो सकता है, जिसे हम अभी नहीं पकड़ पा रहे हैं।

प्रश्न—भारत में कार्य-प्रणाली कैसी होनी चाहिए?

उत्तर—पहले तो, व्यावहारिक और शरीर से सबल होने की शिक्षा देनी चाहिए। ऐसे केवल बारह नर-केसरी संसार पर विजय प्राप्त कर सकते हैं; परन्तु लाख-लाख भेड़ों द्वारा यह नहीं होने का। और दूसरे, किसी व्यक्तिगत आदर्श के अनुकरण की शिक्षा नहीं देनी चाहिए, चाहे वह आदर्श कितना ही बड़ा क्यों न हो।

इसके पश्चात् स्वामी जी ने कुछ हिन्दू प्रतीकों की अवनति का वर्णन किया। उन्होंने ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग का भेद समझाया। वास्तव में ज्ञानमार्ग आर्यो का था, और इसलिए उसमें अधिकारी-विचार के इतने कड़े नियम थे। भक्तिमार्ग की उत्पत्ति दाक्षिणात्य से—आर्येतर जाति से हुई है, इसलिए उसमें अधिकारी-विचार नहीं है।

प्रश्न—भारत के इस पुनरुत्थान में रामकृष्ण मिशन क्या कार्य करेगा?

उत्तर—इस मठ से चरित्रवान व्यक्ति निकलकर सारे संसार को आध्यात्मिकता की बाढ़ से प्लावित कर देंगे। इसके साथ साथ दूसरे क्षेत्रों में भी पुनरुत्थान होगा। इस तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जाति का अभ्युदय होगा। शूद्र जाति का अस्तित्व समाप्त हो जायगा—वे लोग आज जो काम कर रहे हैं, वे सब यंत्रों की सहायता से किये जायँगे। भारत की वर्तमान आवश्यकता है—क्षत्रिय-शक्ति।

प्रश्न—क्या मनुष्य के उपरान्त अधोगामी पुनर्जन्म संभव है?

उत्तर—हाँ, पुनर्जन्म कर्म पर निर्भर रहता है। यदि मनुष्य पशु के समान आचरण करे, तो वह पशु-योनि में खिंच जाता है।

एक समय (सन् १८९८ ई०) में इस प्रकार के प्रश्नोत्तर-काल में स्वामी जी ने मूर्ति-पूजा की उत्पत्ति बौद्ध युग में मानी थी। उन्होंने कहा था—पहले बौद्ध चैत्य, फिर स्तूप, और तत्पश्चात् बुद्ध का मन्दिर निर्मित हुआ। उसके साथ ही हिन्दू देवताओं के मन्दिर खड़े हुए।

प्रश्न—क्या कुण्डलिनी नाम की कोई वास्तविक वस्तु इस स्थूल शरीर के भीतर है?

उत्तर—श्री रामकृष्ण देव कहते थे, 'योगी जिन्हें पद्म कहते हैं, वास्तव में वे मनुष्य के शरीर में नहीं हैं। योगाभ्यास से उनकी उत्पत्ति होती है।'

प्रश्न—क्या मूर्ति-पूजा के द्वारा मुक्ति-लाभ हो सकता है?

उत्तर—मूर्ति-पूजा से साक्षात् मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती, फिर भी वह मुक्ति-प्राप्ति में गौण कारणस्वरूप है—सहायक है। मूर्ति-पूजा की निन्दा करना उचित नहीं, क्योंकि बहुतों के लिए मूर्ति-पूजा ही अद्वैत ज्ञान की उपलब्धि के लिए मन को तैयार कर देती है—और केवल इस अद्वैत-ज्ञान की प्राप्ति से ही मनुष्य मुक्त हो सकता है।

प्रश्न—हमारे चरित्र का सर्वोच्च आदर्श क्या होना चाहिए?

उत्तर—त्याग।

प्रश्न—बौद्ध धर्म ने अपने दाय के रूप में भ्रष्टाचार कैसे छोड़ा?

उत्तर—बौद्धों ने प्रत्येक भारतवासी को भिक्षु या भिक्षुणी बनाने का प्रयत्न किया था। परन्तु सब लोग तो वैसा नहीं हो सकते। इस तरह किसी भी व्यक्ति के साधु बन जाने से भिक्षु-भिक्षुणियों में क्रमशः शिथिलता आती गयी। और भी एक कारण था—धर्म के नाम पर तिब्बत तथा अन्यान्य देशों के बर्बर आचारों का अनुकरण करना। वे इन स्थानों में धर्म-प्रचार के हेतु गये और इस प्रकार उनके भीतर उन लोगों के दूषित आचार प्रवेश कर गये। अन्त में उन्होंने भारत में इन सब आचारों को प्रचलित कर दिया।

प्रश्न—माया क्या अनादि और अनन्त है?

उत्तर—समष्टि रूप से अनादि-अनन्त अवश्य है, पर व्यष्टि रूप से सान्त है।

प्रश्न—ब्रह्म और माया का बोध युगपत् नहीं होता। अतः उनमें से किसी-की भी पारमार्थिक सत्ता एक दूसरे से अद्भुत कैसे सिद्ध की जा सकती है?

उत्तर—उसको केवल साक्षात्कार द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। जब व्यक्ति को ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है, तो उसके लिए माया की सत्ता नहीं रह जाती, जैसे रस्सी की वास्तविकता जान लेने पर सर्प का भ्रम फिर उत्पन्न नहीं होता।

प्रश्न—माया क्या है?

उत्तर—वास्तव में वस्तु केवल एक ही है—चाहे उसको चैतन्य कहो या जड़। पर उनमें से एक को दूसरे से नितांत स्वतंत्र मानना केवल कठिन ही नहीं, असम्भव है। इसीको माया या अज्ञान कहते हैं।

प्रश्न—मुक्ति क्या है?

उत्तर—मुक्ति का अर्थ है पूर्ण स्वाधीनता—शुभ और अशुभ, दोनों प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाना। लोहे की शृंखला भी शृंखला ही है, और सोने की शृंखला भी शृंखला है। श्री रामकृष्ण देव कहते थे, 'पैर में काँटा चुभने पर उसे निकालने के लिए एक दूसरे काँटे की आवश्यकता होती है। काँटा निकल जाने पर दोनों काँटे फेंक दिये जाते हैं। इसी तरह सत्प्रवृत्ति के द्वारा असत् प्रवृत्तियों का दमन करना पड़ता है, परन्तु बाद में सत्प्रवृत्तियों पर भी विजय प्राप्त करनी पड़ती है।'

प्रश्न—भगवत्कृपा बिना क्या मुक्ति-लाभ हो सकता है?

उत्तर—मुक्ति के साथ ईश्वर का कोई सम्बन्ध नहीं है। मुक्ति तो पहले से ही वर्तमान है।

प्रश्न—हमारे भीतर जिसे 'मैं' या 'अहं' कहा जाता है, वह देह आदि से उत्पन्न नहीं है, इसका क्या प्रमाण है?

उत्तर—अनात्मा की भाँति 'मैं' या 'अहं' भी देह-मन आदि से ही उत्पन्न होता है। वास्तविक 'मैं' के अस्तित्व का एकमात्र प्रमाण है साक्षात्कार।

प्रश्न—सच्चा ज्ञानी और सच्चा भक्त किसे कह सकते हैं?

उत्तर—जिसके हृदय में अथाह प्रेम है और जो सभी अवस्थाओं में अद्वैत तत्त्व का साक्षात्कार करता है, वही सच्चा ज्ञानी है। और सच्चा भक्त वह है, जो परमात्मा के साथ जीवात्मा की अभिन्न रूप से उपलब्धि कर यथार्थ ज्ञानसम्पन्न हो गया है, जो सबसे प्रेम करता है और जिसका हृदय सबके लिए रुदन करता है। ज्ञान और भक्ति में से किसी एक का पक्ष लेकर जो दूसरे की निन्दा करता है, वह न तो ज्ञानी है, न भक्त—वह तो ढोंगी और धूर्त है।

प्रश्न—ईश्वर की सेवा करने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—यदि तुम एक बार ईश्वर के अस्तित्व को मान लेते हो, तो उनकी सेवा करने के यथेष्ट कारण पाओगे। सभी शास्त्रों के मतानुसार भगवत्सेवा का अर्थ है 'स्मरण'। यदि तुम ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखते हो, तो तुम्हारे जीवन में पग पग पर उनको स्मरण करने का हेतु सामने आयेगा।

प्रश्न—क्या मायावाद अद्वैतवाद से भिन्न है?

उत्तर—नहीं, दोनों एक ही हैं। मायावाद को छोड़ अद्वैतवाद की और कोई भी व्याख्या सम्भव नहीं।

प्रश्न—ईश्वर तो अनन्त हैं, वे फिर मनुष्य रूप धारण कर इतने छोटे किस प्रकार हो सकते हैं?

उत्तर—यह सत्य है कि ईश्वर अनन्त है। परन्तु तुम लोग अनन्त का जो अर्थ सोचते हो, अनन्त का वह अर्थ नहीं है। अनन्त कहने से तुम एक विराट् जड़ सत्ता समझ बैठते हो। इसी समझ के कारण तुम भ्रम में पड़ गये हो। जब तुम यह कहते हो कि भगवान् मनुष्य रूप धारण नहीं कर सकते, तो इसका अर्थ तुम ऐसा समझते हो कि एक विराट् जड़ पदार्थ को इतना छोटा नहीं किया जा सकता। परन्तु ईश्वर इस अर्थ में अनन्त नहीं है। उसका अनन्तत्व चैतन्य का अनन्तत्व है। इसलिए मानव के आकार में अपने को अभिव्यक्त करने पर भी उनके स्वरूप को कुछ भी क्षति नहीं पहुँचती।

प्रश्न—कोई कोई कहते हैं कि पहले सिद्ध बन जाओ, फिर तुम्हें कर्म करने का ठीक ठीक अधिकार होगा; परन्तु कोई कहते हैं कि शुरू से ही कर्म करना, दूसरों की सेवा करना उचित है। इन दो विभिन्न मतों का सामंजस्य किस प्रकार हो सकता है?

उत्तर—तुम तो दो अलग अलग बातों को एक में मिलाये दे रहे हो, इसलिए भ्रम में पड़ गये हो। कर्म का अर्थ है मानव जाति की सेवा अथवा धर्म-प्रचार-कार्य। यथार्थ प्रचार-कार्य में अवश्य ही सिद्ध पुरुष के अतिरिक्त और किसीका अधिकार नहीं है, परन्तु सेवा में तो सभी का अधिकार है; इतना ही नहीं, जब तक हम दूसरों से सेवा ले रहे हैं, तब तक हम दूसरों की सेवा करने को बाध्य भी हैं।

२

(ब्रुकलिन नैतिक सभा, ब्रुकलिन, अमेरिका)

प्रश्न—आप कहते हैं कि सब कुछ मंगल के लिए ही है; परन्तु देखने में आता है कि संसार सब ओर अमंगल और दुःख-कष्ट से घिरा है। तो फिर आपके मत के साथ इस प्रत्यक्ष दीखनेवाले व्यापार का सामंजस्य किस प्रकार हो सकता है?

उत्तर—आप यदि पहले अमंगल के अस्तित्व को प्रमाणित कर सकें, तभी मैं इस प्रश्न का उत्तर दे सकूँगा। परन्तु वेदान्तिक धर्म तो अमंगल का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करता। सुख से रहित अनन्त दुःख कहीं हो, तो उसे अवश्य प्रकृत अमंगल कहा जा सकता है। पर यदि सामयिक दुःख-कष्ट हृदय की कोमलता

और महत्ता में वृद्धि कर मनुष्य को अनन्त सुख की ओर अग्रसर कर दे, तो फिर उसे अमंगल नहीं कहा जा सकता, वल्कि उसे तो परम मंगल कहा जा सकता है। जव तक हम यह अनुसन्धान नहीं कर लेते कि किसी वस्तु का अनन्त के राज्य में क्या परिणाम होता है, तव तक हम उसे बुरा नहीं कह सकते।

शैतान की उपासना हिन्दू धर्म का अंग नहीं है। मानव जाति क्रमोन्नति के मार्ग पर चल रही है, परन्तु सव लोग एक ही प्रकार की स्थिति में नहीं पहुँच सके हैं। इसीलिए पार्थिव जीवन में कोई कोई लोग अन्यान्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक महान् और पवित्र देखे जाते हैं। प्रत्येक मनुष्य के लिए उसके अपने वर्तमान उन्नति-क्षेत्र के भीतर स्वयं को उन्नत वनाने के लिए अवसर विद्यमान है। हम अपना नाश नहीं कर सकते, हम अपने भीतर की जीवनी शक्ति को नष्ट या दुर्वल नही कर सकते, परन्तु उस शक्ति को विभिन्न दिशा में परिचालित करने के लिए हम स्वतन्त्र हैं।

प्रश्न—पार्थिव जड़ वस्तु की सत्यता क्या हमारे मन की केवल कल्पना नहीं है ?

उत्तर—मेरे मत में वाह्य जगत् की अवश्य एक सत्ता है—हमारे मन के विचार के वाहर भी उसका एक अस्तित्व है। चैतन्य के क्रमविकास-रूप महान् विधान का अनुवर्ती होकर यह समग्र विश्व उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा है। चैतन्य का यह क्रमविकास जड़ के क्रमविकास से पृथक् है। जड़ का क्रमविकास चैतन्य की विकास-प्रणाली का सूचक या प्रतीकस्वरूप है, किन्तु उसके द्वारा इस प्रणाली की व्याख्या नहीं हो सकती। वर्तमान पार्थिव परिस्थिति में वद्ध रहने के कारण हम अभी तक व्यक्तित्व नहीं प्राप्त कर सके हैं। जव तक हम उस उच्चतर भूमि में नहीं पहुँच जाते, जहाँ हम अपनी अन्तरात्मा के परम लक्षणों को प्रकट करने के उपयुक्त यन्त्र वन जाते हैं, तव तक हम प्रकृत व्यक्तित्व की प्राप्ति नहीं कर सकते।

प्रश्न—ईसा मसीह के पास एक जन्मान्ध शिशु को ले जाकर उनसे पूछा गया था कि शिशु अपने किये हुए पाप के फल से अन्धा हुआ है अथवा अपने माता-पिता के पाप के फल से—इस समस्या की मीमांसा आप किस प्रकार करेंगे ?

उत्तर—इस समस्या में पाप की वात को ले आने का कोई भी प्रयोजन नहीं दीख पड़ता। तो भी मेरा दृढ़ विश्वास है कि शिशु की यह अन्धता उसके पूर्व जन्मकृत किसी कर्म का ही फल होगी। मेरे मत में, पूर्व जन्म को स्वीकार करने पर ही ऐसी समस्याओं की मीमांसा हो सकती है।

प्रश्न—मृत्यु के पश्चात् हमारी आत्मा क्या आनन्द की अवस्था को प्राप्त करती है ?

उत्तर—मृत्यु तो केवल अवस्था का परिवर्तन मात्र है। देश-काल आपके ही भीतर वर्तमान हैं, आप देश-काल के अन्तर्गत नहीं हैं। बस इतना जानने से ही यथेष्ट होगा कि हम, इहलोक में या परलोक में, अपने जीवन को जितना पवित्र और महान् बनायेंगे, उतना ही हम उन भगवान् के निकट होते जायँगे, जो सारे आध्यात्मिक सौन्दर्य और अनन्त आनन्द के केन्द्रस्वरूप हैं।

३

(ट्वेन्टिएथ सेन्चुरी क्लब, बोस्टन, अमेरिका)

प्रश्न—क्या वेदान्त का प्रभाव इसलाम धर्म पर कुछ पड़ा है?

उत्तर—वेदान्त मत की आध्यात्मिक उदारता ने इसलाम धर्म पर अपना विशेष प्रभाव डाला था। भारत का इसलाम धर्म संसार के अन्यान्य देशों के इसलाम धर्म की अपेक्षा पूर्ण रूप से भिन्न है। जब दूसरे देशों के मुसलमान यहाँ आकर भारतीय मुसलमानों को फुसलाते हैं कि तुम विधर्मियों के साथ मिल-जुलकर कैसे रहते हो, तभी अशिक्षित कट्टर मुसलमान उत्तेजित होकर दंगा-फ़साद मचाते हैं।

प्रश्न—क्या वेदान्त जाति-भेद मानता है?

उत्तर—जाति-भेद वेदान्त धर्म का विरोधी है। जाति-भेद एक सामाजिक प्रथा मात्र है और हमारे बड़े बड़े आचार्यों ने उसे तोड़ने के प्रयत्न किये हैं। बौद्ध धर्म से लेकर सभी सम्प्रदायों ने जाति-भेद के विरुद्ध प्रचार किया है, परन्तु ऐसा प्रचार जितना ही बढ़ता गया, जाति-भेद की शृंखला उतनी ही दृढ़ होती गयी। जाति-भेद की उत्पत्ति भारत की राजनीतिक संस्थाओं से हुई है। वह तो वंश-परम्परागत व्यवसायों का समवाय (trade guild) मात्र है। किसी प्रकार के उपदेश की अपेक्षा यूरोप के साथ व्यापार-वाणिज्य की प्रतियोगिता ने जाति-भेद को अधिक मात्रा में तोड़ा है।

प्रश्न—वेदों की विशेषता किस बात में है?

उत्तर—वेदों की एक विशेषता यह है कि सारे शास्त्र-ग्रन्थों में एकमात्र वेद ही बारम्बार कहते हैं कि वेदों के भी अतीत हो जाना चाहिए। वेद कहते हैं कि वे केवल बाल-बुद्धि व्यक्तियों के लिए लिखे गये हैं। इसलिए विकास कर चुकने पर वेदों के परे जाना पड़ेगा।

प्रश्न—आपके मत में प्रत्येक जीवात्मा क्या नित्य सत्य है?

उत्तर—जीवात्मा मनुष्य की वृत्तियों की समष्टिस्वरूप है, और इन वृत्तियों का प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। इसलिए यह जीवात्मा अनन्त काल के

लिए कभी सत्य नहीं हो सकती। इस मायिक जगत्-प्रपंच के भीतर ही उसकी सत्यता है। जीवात्मा तो विचार और स्मृति की समष्टि है—वह नित्य सत्य कैसे हो सकती है?

प्रश्न—भारत में बौद्ध धर्म का पतन क्यों हुआ?

उत्तर—वास्तव में भारत में बौद्ध धर्म का लोप नहीं हुआ। वह एक विराट् सामाजिक आन्दोलन मात्र था। बुद्ध के पहले, यज्ञ के नाम से तथा अन्य विभिन्न कारणों से बहुत प्राणिहिंसा होती थी और लोग बहुत मद्यपान एवं आमिष-आहार करते थे। बुद्ध के उपदेश के फल से मद्यपान और जीव-हत्या का भारत से प्रायः लोप सा हो गया है।

४

(अमेरिका के हार्डफ़ोर्ड में 'आत्मा, ईश्वर और धर्म'[1] विषय पर स्वामी जी का एक भाषण समाप्त होने पर वहाँ के श्रोताओं ने कुछ प्रश्न पूछे थे। वे प्रश्न तथा उनके उत्तर नीचे दिये गये हैं।)

दर्शकों में से एक ने कहा—अगर पुरोहित लोग नरक की ज्वाला के बारे में बातें करना छोड़ दें, तो लोगों पर से उनका प्रभाव ही उठ जाय।

उत्तर—उठ जाय, तो अच्छा ही हो। अगर आतंक से कोई किसी धर्म को मानता है, तो वस्तुतः उसका कोई भी धर्म नहीं। इससे तो मनुष्य को उसकी पाशविक प्रकृति के बजाय उसकी दैवी प्रकृति के बारे में उपदेश देना कहीं अच्छा है।

प्रश्न—जब प्रभु (ईसा) ने यह कहा कि स्वर्ग का राज्य इस संसार में नहीं है, तो इससे उनका क्या तात्पर्य था?

उत्तर—यह कि स्वर्ग का राज्य हमारे अन्दर है। यहूदी लोगों का विश्वास था कि स्वर्ग का राज्य इसी पृथ्वी पर है। पर ईसा मसीह ऐसा नहीं मानते थे।

प्रश्न—क्या आप मानते हैं कि मनुष्य का विकास पशु से हुआ है?

उत्तर—मैं मानता हूँ कि विकास के नियम के अनुसार ऊँचे स्तर के प्राणी अपेक्षाकृत निम्न स्तर से विकसित हुए हैं।

प्रश्न—क्या आप किसी ऐसे व्यक्ति को मानते हैं, जो अपने पूर्व जन्म की बातें जानता हो?

उत्तर—हाँ, कुछ ऐसे लोगों से मेरी भेंट हुई है, जो कहते हैं कि उन्हें अपने पिछले जीवन की बातें याद है। वे इतना ऊपर उठ चुके हैं कि अपने पूर्व जन्म की बातें याद कर सकते हैं।

---

१. यह भाषण 'विवेकानन्द साहित्य', द्वितीय खंड में प्रकाशित हुआ है। स०

प्रश्न—ईसा मसीह के क्रूस पर चढ़ने की बात में क्या आपको विश्वास है?

उत्तर—ईसा मसीह ईश्वर के अवतार थे। कोई उन्हें मार नहीं सकता था। देह, जिसको क्रूस पर चढ़ाया गया, एक छाया मात्र थी, एक मृगतृष्णा थी।

प्रश्न—अगर वे ऐसे छाया-शरीर का निर्माण कर सके, तो क्या यह सबसे बड़ा चमत्कारपूर्ण कार्य नहीं है?

उत्तर—चमत्कारपूर्ण कार्यों को मैं आध्यात्मिक मार्ग का सबसे बड़ा रोड़ा मानता हूँ। एक बार बुद्ध के शिष्यों ने उनसे एक ऐसे व्यक्ति की चर्चा की, जो तथाकथित चमत्कार दिखाता था—वह एक कटोरे को बिना छुए ही काफ़ी ऊँचाई पर रोके रखता था। उन लोगों ने बुद्ध को वह कटोरा दिखाया, तो उन्होंने उसे अपने पैरों से कुचल दिया और कहा—कभी तुम इन चमत्कारों पर अपनी आस्था मत आधारित करो, बल्कि शाश्वत सिद्धान्तों में सत्य की खोज करो। बुद्ध ने उन्हें सच्चे आन्तरिक प्रकाश की शिक्षा दी—वह प्रकाश, जो आत्मा की देन है और जो एकमात्र ऐसा विश्वसनीय प्रकाश है, जिसके सहारे चला जा सकता है। चमत्कार तो केवल मार्ग के रोड़े हैं। उन्हें हमें रास्ते से अलग हटा देना चाहिए।

प्रश्न—क्या आप मानते हैं कि 'शैलोपदेश' सचमुच ईसा मसीह के हैं?

उत्तर—हाँ, मैं ऐसा मानता हूँ। और इस सम्बन्ध में मैं अन्य विचारकों की तरह पुस्तकों पर ही भरोसा करता हूँ, यद्यपि मैं यह भी समझता हूँ कि पुस्तकों को प्रमाण बनाना बहुत ठोस आधार नहीं है। पर इन सारी बातों के बावजूद हम सभी 'शैलोपदेश' को निःसंकोच अपना पथप्रदर्शक मान सकते हैं। जो हमारी अन्तरात्मा को जँचे, उसे हमें स्वीकार करना है। ईसा के पाँच सौ साल पहले बुद्ध ने उपदेश दिया था और सदा उनके उपदेश आशिषों से भरे रहते थे। कभी उन्होंने अपने जीवन में अपने कार्यों अथवा अपने शब्दों से किसीकी हानि नहीं की, और न ज़रथुष्ट्र अथवा कन्फ्यूशस ने ही।

५

(निम्नलिखित प्रश्नोत्तर अमेरिका में दिये हुए विभिन्न भाषणों के अन्त में हुए थे। यहाँ से इनका संग्रह किया गया है। इनमें से यह अमेरिका के एक संवाद-पत्र से संगृहीत है।)

प्रश्न—आत्मा के आवागमन का हिन्दू सिद्धान्त क्या है?

उत्तर—वैज्ञानिकों का ऊर्जा या जड़-संरक्षण (conservation of energy or matter) का सिद्धान्त, जिस भित्ति पर प्रतिष्ठित है, आवागमन का सिद्धान्त भी उसी भित्ति पर स्थापित है। इस सिद्धान्त (conservation of energy or

matter) का प्रवर्तन सर्वप्रथम हमारे देश के एक दार्शनिक ने ही किया था। प्राचीन ऋषि 'सृष्टि' पर विश्वास नहीं करते थे। 'सृष्टि' कहने से तात्पर्य निकलता है--'कुछ नहीं' से 'कुछ' का होना, 'अभाव' से 'भाव' की उत्पत्ति। यह असम्भव है। जिस प्रकार काल का आदि नहीं है, उसी प्रकार सृष्टि का भी आदि नहीं है। ईश्वर और सृष्टि मानो दो समानान्तर रेखाओं के समान हैं—उनका न आदि है, न अन्त—वे नित्य पृथक् हैं। सृष्टि के बारे में हमारा मत यह है—'वह थी, है, और रहेगी।' पाश्चात्य देशवासियों को भारत से एक बात सीखनी है—वह है परधर्म-सहिष्णुता। कोई भी धर्म बुरा नहीं है, क्योंकि सब धर्मों का सार एक ही है।

प्रश्न—भारत की स्त्रियाँ उतनी उन्नत क्यों नहीं है?

उत्तर—विभिन्न समयों में अनेक असभ्य जातियों ने भारत पर आक्रमण किया था, प्रधानतः उसीके कारण भारतीय महिलाएँ इतनी अनुन्नत हैं। फिर, इसमें कुछ दोष तो भारतवासियों के निजी भी हैं।

किसी समय अमेरिका में स्वामी जी से कहा गया था कि हिन्दू धर्म ने कभी किसी अन्य धर्मावलम्बी को अपने धर्म में नहीं मिलाया है। इसके उत्तर में उन्होंने कहा, "जैसे पूर्व के लिए बुद्धदेव के पास एक विशेष सन्देश था, उसी प्रकार पश्चिम के लिए मेरे पास भी एक सन्देश है।"

प्रश्न—आप क्या यहाँ (अमेरिका में) हिन्दू धर्म के क्रियाकलाप, अनुष्ठान आदि को चलाना चाहते हैं?

उत्तर—मैं तो केवल दार्शनिक तत्त्वों का ही प्रचार कर रहा हूँ।

प्रश्न—क्या आपको ऐसा नहीं मालूम होता कि यदि भावी नरक का डर मनुष्य के सामने से हटा दिया जाय, तो किसी भी रूप से उसे क़ाबू में रखना असम्भव हो जायगा?

उत्तर—नहीं; बल्कि मैं तो यह समझता हूँ कि भय की अपेक्षा हृदय में प्रेम और आशा का संचार होने से वह अधिक अच्छा हो सकेगा।

६

(स्वामी जी ने २५ मार्च, सन् १८९६ ई० को संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के हॉवर्ड विश्वविद्यालय की 'ग्रेजुएट दार्शनिक सभा' में वेदान्त दर्शन के बारे में एक व्याख्यान दिया था। व्याख्यान समाप्त होने पर श्रोताओं के साथ निम्नलिखित प्रश्नोत्तर हुए।)

प्रश्न—मैं यह जानना चाहता हूँ कि भारत में दार्शनिक चिन्तन की वर्तमान अवस्था कैसी है? इन सब बातों की वहाँ आजकल कहाँ तक आलोचना होती है?

उत्तर—मैंने पहले ही कहा है कि भारत में अधिकांश लोग द्वैतवादी हैं। अद्वैतवादियों की संख्या बहुत अल्प है। उस देश में (भारत में) आलोचना का प्रधान विषय है मायावाद और जीव-तत्त्व। मैंने इस देश में आकर देखा कि यहाँ के श्रमिक संसार की वर्तमान राजनीतिक परिस्थिति से भली भाँति परिचित हैं, परन्तु जब मैंने उनसे पूछा, 'धर्म कहने से तुम क्या समझते हो, अमुक अमुक सम्प्रदाय का धर्म-मत किस प्रकार का है', तो उन्होंने कहा, 'ये सब बातें हम नहीं जानते—हम तो बस चर्च में जाते भर हैं।' परन्तु भारत में किसी किसान के पास जाकर यदि मैं पूछूँ कि तुम्हारा शासनकर्ता कौन है, तो वह उत्तर देगा, 'यह बात मैं नहीं जानता; मैं तो केवल टैक्स (कर) दे देता हूँ।' पर यदि मैं उससे धर्म के विषय में पूछूँ, तो वह तत्काल बता देगा कि वह द्वैतवादी है, और माया तथा जीव-तत्त्व के सम्बन्ध में वह अपनी धारणा को विस्तृत रूप से कहने के लिए भी तैयार हो जायगा। वे लिखना-पढ़ना नहीं जानते, परन्तु इन बातों को उन्होंने साधु-संन्यासियों से सीखा है, और इन विषयों पर विचार करना उन्हें बहुत अच्छा लगता है। दिन भर काम करने के पश्चात् पेड़ के नीचे बैठकर किसान लोग इन सब तत्त्वों पर विचार किया करते हैं।

प्रश्न—कट्टर या असल हिन्दू किसे कह सकते हैं? हिन्दू धर्म में कट्टरता (orthodoxy) का क्या अर्थ है?

उत्तर—वर्तमान काल में तो खान-पान अथवा विवाह के विषय में जातिगत विधि-निषेध का पालन करने से ही कट्टर या असल हिन्दू हो जाता है। फिर वह चाहे जिस किसी धर्म-मत में विश्वास क्यों न करे, कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। भारत में कभी भी कोई नियमित धर्मसंघ या चर्च नहीं था; इसलिए कट्टर या असल हिन्दूपन गठित तथा नियमित करने के लिए संघबद्ध रूप से कभी चेष्टा नहीं हुई। संक्षेप में हम कह सकते है कि जो वेदों में विश्वास रखते हैं, वे ही असल या कट्टर हिन्दू हैं। पर वास्तव में, देखने में यह आता है कि द्वैतवादी सम्प्रदायों में से अनेक केवल वेद-विश्वासी न होकर पुराणों में ही अधिक विश्वास रखते हैं।

प्रश्न—आपके हिन्दू दर्शन ने यूनानियों के स्टोइक दर्शन[1] पर किस प्रकार प्रभाव डाला था?

---

१. सम्भवतः ईसा से ३०८ वर्ष पूर्व ग्रीस के दार्शनिक जीनो (Zeno) ने इस दर्शन का प्रचार किया था। इनके मत से, सुख-दुःख, भला-बुरा, सब विषयों में समभावसम्पन्न रहना और अविचलित रहकर सबको सहना ही मनुष्य जीवन का परम पुरुषार्थ है। सं०

उत्तर—बहुत सम्भव है कि उसने सिकन्दरिया निवासियों द्वारा उस पर कुछ प्रभाव डाला था। ऐसा सन्देह किया जाता है कि पाइथागोरस के उपदेशों में सांख्य दर्शन का प्रभाव विद्यमान है। जो हो, हमारी यह धारणा है कि सांख्य दर्शन ही वेदों में निहित दार्शनिक तत्त्वों का युक्ति-विचार द्वारा समन्वय करने का सबसे प्रथम प्रयत्न है। हम वेदों तक में कपिल के नाम का उल्लेख पाते हैं—**ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे।**[1]

—'जिन्होंने उन कपिल ऋषि को पहले प्रसव किया था।'

प्रश्न—पाश्चात्य विज्ञान के साथ इस मत का विरोध कहाँ पर है?

उत्तर—विरोध कुछ भी नहीं है। बल्कि हमारे इस मत के साथ पाश्चात्य विज्ञान का सादृश्य ही है। हमारा परिणामवाद तथा आकाश और प्राण तत्त्व ठीक आपके आधुनिक दर्शनों के सिद्धान्त के समान है। आपका परिणामवाद या क्रमविकास हमारे योग और सांख्य दर्शन में पाया जाता है। दृष्टान्तस्वरूप देखिए—पतंजलि ने बतलाया है कि प्रकृति के आपूरण के द्वारा एक जाति अन्य जाति में परिणत होती है—**जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्।** केवल इसकी व्याख्या के विषय में पतंजलि के साथ पाश्चात्य विज्ञान का मतभेद है। पतंजलि की परिणाम की व्याख्या आध्यात्मिक है। वे कहते हैं—जब एक किसान अपने खेत में पानी देने के लिए पास के ही जलाशय से पानी लेना चाहता है, तो वह बस पानी को रोक रखनेवाले द्वार को खोल भर देता है—**निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्।** उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य पहले से ही अनन्त है, केवल इन सब विभिन्न अवस्था-चक्ररूपी द्वारों या प्रतिबन्धों ने उसे बद्ध कर रखा है। इन प्रतिबन्धों को हटाने मात्र से ही उसकी वह अनन्त शक्ति बड़े वेग के साथ अभिव्यक्त होने लगती है। तिर्यक् योनि में मनुष्यत्व गूढ़ भाव से निहित है; अनुकूल परिस्थिति उपस्थित होने पर वह तत्क्षण ही मानव रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। उसी प्रकार उपयुक्त सुयोग तथा अवसर उपस्थित होने पर मनुष्य के भीतर जो ईश्वरत्व विद्यमान है; वह अपने को अभिव्यक्त कर देता है। इसलिए आधुनिक नूतन मतवादवालों के साथ विवाद करने को विशेष कुछ नहीं है। उदाहरणार्थ, विषय-प्रत्यक्ष के सिद्धान्त के सम्बन्ध में सांख्य मत के साथ आधुनिक शरीर विज्ञान (Physiology) का बहुत ही थोड़ा मतभेद है।

प्रश्न—परन्तु आप लोगों की पद्धति भिन्न है।

---

१. **श्वेताश्वतरोपनिषद् ॥५।२॥**

उत्तर—हाँ, हमारे मतानुसार मन की समस्त शक्तियों को एकमुखी करना ही ज्ञान-लाभ का एकमात्र उपाय है। वहिर्विज्ञान में वाह्य विषयों पर मन को एकाग्र करना होता है और अन्तर्विज्ञान में मन की गति को आत्माभिमुखी करना पड़ता है। मन की इस एकाग्रता को ही हम योग कहते हैं।

प्रश्न—एकाग्रता की दशा में क्या इन सब तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान आप ही आप प्रकट होता है?

उत्तर—योगी कहते हैं कि इस एकाग्रता शक्ति का फल अत्यन्त महान् है। उनका कहना है कि मन की एकाग्रता के वल से संसार के सारे सत्य—वाह्य और अन्तर दोनों जगत् के सत्य—करामलकवत् प्रत्यक्ष हो जाते हैं।

प्रश्न—अद्वैतवादी सृष्टि-तत्त्व के विषय में क्या कहते हैं?

उत्तर—अद्वैतवादी कहते हैं कि यह सारा सृष्टि-तत्त्व तथा इस संसार में जो कुछ भी है, सब माया के, इस आपातप्रतीयमान प्रपंच के अन्तर्गत है। वास्तव में इस सबका कोई अस्तित्व नहीं है। परन्तु जब तक हम वद्ध हैं, तब तक हमें यह दृश्य जगत् देखना पड़ेगा। इस दृश्य जगत् में घटनाएँ कुछ निर्दिष्ट क्रम के अनुसार घटती रहती हैं। परन्तु उसके परे न कोई नियम है, न क्रम। वहाँ सम्पूर्ण मुक्ति —सम्पूर्ण स्वाधीनता है।

प्रश्न—अद्वैतवाद क्या द्वैतवाद का विरोधी है?

उत्तर—उपनिषद् प्रणालीवद्ध रूप से लिखित न होने के कारण जब कभी दार्शनिकों ने किसी प्रणालीवद्ध दर्शनशास्त्र की रचना करनी चाही, तब उन्होंने इन उपनिषदों में से अपने अभिप्राय के अनुकूल प्रामाणिक वाक्यों को चुन लिया है। इसी कारण सभी दर्शनकारों ने उपनिषदों को प्रमाण रूप से ग्रहण किया है,—अन्यथा उनके दर्शन को किसी प्रकार का आधार ही नहीं रह जाता। तो भी हम देखते हैं कि उपनिषदों में सब प्रकार की विभिन्न चिन्तन-प्रणालियाँ विद्यमान हैं। हमारा यह सिद्धान्त है कि अद्वैतवाद द्वैतवाद का विरोधी नहीं है। हम तो कहते हैं कि चरम ज्ञान में पहुँचने के लिए जो तीन सोपान हैं, उनमें से द्वैतवाद एक है। धर्म में सर्वदा तीन सोपान देखने में आते हैं। प्रथम—द्वैतवाद। उसके वाद मनुष्य अपेक्षाकृत उच्चतर अवस्था में उपस्थित होता है—वह है विशिष्टाद्वैतवाद। और अन्त में उसे यह अनुभव होता है कि वह समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड के साथ अभिन्न है। यही चरम दशा अद्वैतवाद है। इसलिए इन तीनों में परस्पर विरोध नहीं है, वल्कि वे आपस में एक दूसरे के सहायक या पूरक हैं।

प्रश्न—माया या अज्ञान के अस्तित्व का क्या कारण है?

उत्तर—कार्य-कारण संघात की सीमा के बाहर 'क्यों' का प्रश्न नहीं पूछा जा सकता। माया-राज्य के भीतर ही 'क्यों' का प्रश्न पूछा जा सकता है। हम कहते हैं कि यदि न्यायशास्त्र के अनुसार यह प्रश्न पूछ सका जाय, तभी हम उसका उत्तर देंगे। उसके पहले उसका उत्तर देने का हमें अधिकार नहीं है।

प्रश्न—सगुण ईश्वर क्या माया के अन्तर्गत है ?

उत्तर—हाँ; पर यह सगुण ईश्वर मायारूपी आवरण के भीतर से परि-दृश्यमान उस निर्गुण ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। माया या प्रकृति के अधीन होने पर वही निर्गुण ब्रह्म जीवात्मा कहलाता है, और मायाधीश या प्रकृति के नियन्ता के रूप में वही ईश्वर या सगुण ब्रह्म कहलाता है। यदि कोई व्यक्ति सूर्य को देखने के लिए यहाँ से ऊपर की ओर यात्रा करे, तो जब तक वह असल सूर्य के निकट नहीं पहुँचता, तब तक वह सूर्य को क्रमशः अधिकाधिक बड़ा ही देखता जायगा। वह जितना ही आगे बढ़ेगा, उसे ऐसा मालूम होगा कि वह भिन्न भिन्न सूर्यों को देख रहा है, परन्तु वास्तव में वह उसी एक सूर्य को देख रहा है, इसमें सन्देह नही। इसी प्रकार, हम जो कुछ देख रहे हैं, सभी उसी निर्गुण ब्रह्मसत्ता के विभिन्न रूप मात्र है, इसलिए उस दृष्टि से ये सब सत्य हैं। इनमें से कोई भी मिथ्या नहीं है, परन्तु यह कहा जा सकता है कि ये निम्नतर सोपान मात्र हैं।

प्रश्न—उस पूर्ण निरपेक्ष सत्ता को जानने की विशेष प्रणाली कौन सी है ?

उत्तर—हमारे मत में दो प्रणालियाँ हैं। उनमें से एक तो अस्तिभावद्योतक या प्रवृत्ति मार्ग है और दूसरी नास्तिभावद्योतक या निवृत्ति मार्ग है। प्रथमोक्त मार्ग से सारा विश्व चलता है—इसी पथ से हम प्रेम के द्वारा उस पूर्ण वस्तु को प्राप्त करने की चेष्टा कर रहे हैं। यदि प्रेम की परिधि अनन्त गुनी बढ़ा दी जाय, तो हम उसी विश्व-प्रेम में पहुँच जायँगे। दूसरे पथ में 'नेति', 'नेति' अर्थात् 'यह नहीं', 'यह नहीं' इस प्रकार की साधना करनी पड़ती है। इस साधना में चित्त की जो कोई तरंग मन को बहिर्मुखी बनाने की चेष्टा करती है, उसका निवारण करना पड़ता है। अन्त में मन ही मानो मर जाता है, तब सत्य स्वयं प्रकाशित हो जाता है। हम इसीको समाधि या ज्ञानातीत अवस्था या पूर्ण ज्ञानावस्था कहते हैं।

प्रश्न—तब तो यह विषयी (ज्ञाता या द्रष्टा) को विषय (ज्ञेय या दृश्य) में डुबा देने की अवस्था हुई ?

उत्तर—विषयी को विषय में नहीं, वरन् विषय को विषयी में डुबा देने की। वास्तव में यह जगत् विलीन हो जाता है, केवल 'मैं' रह जाता है—एकमात्र 'मैं' ही वर्तमान रहता है।

प्रश्न—हमारे कुछ जर्मन दार्शनिकों का मत है कि भारतीय भक्तिवाद सम्भवतः पाश्चात्य प्रभाव का ही फल है।

उत्तर—इस विषय में मैं उनसे सहमत नहीं हूँ। इस प्रकार का अनुमान एक क्षण के लिए भी नहीं टिक सकता। भारतीय भक्ति पाश्चात्य देशों की भक्ति के समान नहीं है। भक्ति के सम्बन्ध में हमारी मुख्य धारणा यह है कि उसमें भय का भाव बिल्कुल ही नहीं रहता—रहता है केवल भगवान् के प्रति प्रेम। दूसरी बात यह है कि ऐसा अनुमान बिल्कुल अनावश्यक है। भक्ति की बातें हमारी प्राचीनतम उपनिषदों तक में विद्यमान हैं और ये उपनिषद् ईसाइयों की बाइबिल से बहुत प्राचीन हैं। संहिता में भी भक्ति का बीज देखने में आता है। फिर 'भक्ति' शब्द भी कोई पाश्चात्य शब्द नहीं है। वेद-मन्त्र में 'श्रद्धा' शब्द का जो उल्लेख है, उसीसे क्रमशः भक्तिवाद का उद्भव हुआ था।

प्रश्न—ईसाई धर्म के सम्बन्ध में भारतवासियों की क्या धारणा है?

उत्तर—बड़ी अच्छी धारणा है। वेदान्त सभी को ग्रहण करता है। दूसरे देशों की तुलना में भारत में हमारी धर्म-शिक्षा का एक विशेषत्व है। मान लीजिए, मेरे एक लड़का है। मैं उसे किसी धर्ममत की शिक्षा नहीं दूँगा, मैं उसे प्राणायाम सिखाऊँगा, मन को एकाग्र करना सिखाऊँगा और थोड़ी-बहुत सामान्य प्रार्थना की शिक्षा दूंगा; परन्तु वैसी प्रार्थना नहीं, जैसी आप समझते हैं, वरन् इस प्रकार की कुछ प्रार्थना—'जिन्होंने इस विश्व-ब्रह्माण्ड की सृष्टि की है, मैं उनका ध्यान करता हूँ—वे मेरे मन को ज्ञानालोक से आलोकित करें।'[1] इस प्रकार उसकी धर्म-शिक्षा चलती रहेगी। इसके बाद वह विभिन्न मतावलम्बी दार्शनिकों एवं आचार्यों के मत सुनता रहेगा। उनमें से जिनका मत वह अपने लिए सबसे अधिक उपयुक्त समझेगा, उन्हींको वह गुरु रूप से ग्रहण करेगा और वह स्वयं उनका शिष्य बन जायगा। वह उनसे प्रार्थना करेगा, 'आप जिस दर्शन का प्रचार कर रहे हैं, वही सर्वोत्कृष्ट है; अतएव आप कृपा करके मुझे उसकी शिक्षा दीजिए।'

हमारी मूल बात यह है कि आपका मत मेरे लिए तथा मेरा मत आपके लिए उपयोगी नहीं हो सकता। प्रत्येक का साधन-पथ भिन्न भिन्न होता है। यह भी हो सकता है कि मेरी लड़की का साधन-मार्ग एक प्रकार का हो, मेरे लड़के का दूसरे प्रकार का, और मेरा इन दोनों से बिल्कुल भिन्न प्रकार का। अतः प्रत्येक व्यक्ति का इष्ट या निर्वाचित पथ भिन्न भिन्न हो सकता है,—और सब लोग अपने अपने साधन-मार्ग की बातें गुप्त रखते हैं। अपने साधन-पथ के विषय में केवल

१. ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

मैं जानता हूँ और मेरे गुरु—किसी तीसरे व्यक्ति को यह नहीं बताया जाता; क्योंकि हम दूसरों से वृथा विवाद करना नहीं चाहते। फिर, इसे दूसरों के पास प्रकट करने से उनका कोई लाभ नहीं होता; क्योंकि प्रत्येक को ही अपना अपना मार्ग चुन लेना पड़ता है। इसीलिए सर्वसाधारण को केवल सर्वसाधारणोपयोगी दर्शन और साधना-प्रणाली का ही उपदेश दिया जा सकता है। एक दृष्टान्त लीजिए—अवश्य उसे सुनकर आप हँसेंगे। मान लीजिए, एक पैर पर खड़े रहने से शायद मेरी उन्नति में कुछ सहायता होती हो; परन्तु इसी कारण यदि मैं सभी को एक पैर पर खड़े होने का उपदेश देने लगूँ, तो क्या यह हँसी की बात न होगी? हो सकता है कि मैं द्वैतवादी होऊँ और मेरी स्त्री अद्वैतवादी। मेरा कोई लड़का, इच्छा करे तो ईसा, बुद्ध या मुहम्मद का उपासक बन सकता है, वे उसके इष्ट है। हाँ, यह अवश्य है कि उसे अपने जातिगत सामाजिक नियमों का पालन करना पड़ेगा।

प्रश्न—क्या सब हिन्दुओं का जाति-विभाग में विश्वास है?

उत्तर—उन्हें बाध्य होकर जातिगत नियम मानने पड़ते हैं। उनका भले ही उनमें विश्वास न हो, पर तो भी वे सामाजिक नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकते।

प्रश्न—इस प्राणायाम और एकाग्रता का अभ्यास क्या सब लोग करते हैं?

उत्तर—हाँ; पर कोई कोई लोग बहुत थोड़ा करते हैं—धर्मशास्त्र के आदेश का उल्लंघन न करने के लिए जितना करना पड़ता है, बस उतना ही करते हैं। भारत के मन्दिर यहाँ के गिरजाघरों के समान नहीं हैं। चाहे तो कल ही सारे मन्दिर ग़ायब हो जायँ, तो भी लोगों को उनका अभाव महसूस नहीं होगा। स्वर्ग की इच्छा से, पुत्र की इच्छा से, अथवा इसी प्रकार की और किसी कामना से लोग मन्दिर बनवाते हैं। हो सकता है, किसीने एक बड़े भारी मन्दिर की प्रतिष्ठा कर उसमें पूजा के लिए दो-चार पुरोहितों को भी नियुक्त कर दिया; पर मुझे वहाँ जाने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि मेरा जो कुछ पूजा-पाठ है, वह मेरे घर में ही होता है। प्रत्येक घर में एक अलग कमरा होता है, जिसे 'ठाकुर-घर' या 'पूजा-गृह' कहते हैं। दीक्षा-ग्रहण के बाद प्रत्येक बालक या बालिका का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह पहले स्नान करे, फिर पूजा, सन्ध्या, वन्दनादि। उसकी इस पूजा या उपासना का अर्थ है—प्राणायाम, ध्यान तथा किसी मन्त्र विशेष का जप। और एक बात की ओर विशेष ध्यान देना पड़ता है; वह है—साधना के समय शरीर को हमेशा सीधा रखना। हमारा विश्वास है कि मन के बल से शरीर को स्वस्थ और सबल रखा जा सकता है। एक व्यक्ति इस प्रकार पूजा

आदि करके चला जाता है, फिर दूसरा आकर वहाँ बैठकर अपना पूजा-पाठ आदि करने लगता है। सभी निस्तब्ध भाव से अपनी अपनी पूजा करके चले जाते हैं। कभी कभी एक ही कमरे में तीन-चार व्यक्ति बैठकर उपासना करते हैं, परन्तु उनमें से हर एक की उपासना-प्रणाली भिन्न भिन्न हो सकती है। इस प्रकार की पूजा प्रतिदिन कम से कम दो बार करनी पड़ती है।

प्रश्न—आपने जिस अद्वैत-अवस्था के बारे में कहा है, वह क्या केवल एक आदर्श है, अथवा उसे लोग प्राप्त भी करते हैं?

उत्तर—हम कहते हैं कि वह यथार्थ है—हम कहते हैं कि वह अवस्था उपलब्ध होती है। यदि वह केवल थोथी बात हो, तब तो उसका कुछ भी मूल्य नहीं। उस तत्त्व की उपलब्धि करने के लिए वेदों में तीन उपाय बतलाये गये हैं—श्रवण, मनन और निदिध्यासन। इस आत्म-तत्त्व के विषय में पहले श्रवण करना होगा। श्रवण करने के बाद इस विषय पर विचार करना होगा—आँखें मूँदकर विश्वास न कर, अच्छी तरह विचार करके समझ-बूझकर उस पर विश्वास करना होगा। इस प्रकार अपने सत्यस्वरूप पर विचार करके उसके निरन्तर ध्यान में नियुक्त होना होगा, तब उसका साक्षात्कार होगा। यह प्रत्यक्षानुभूति ही यथार्थ धर्म है। केवल किसी मतवाद को स्वीकार कर लेना धर्म का अंग नहीं है। हम तो कहते हैं कि यह समाधि या ज्ञानातीत अवस्था ही धर्म है।

प्रश्न—यदि आप कभी इस समाधि अवस्था को प्राप्त कर लें, तो क्या आप उसका वर्णन भी कर सकेंगे?

उत्तर—नहीं; परन्तु समाधि अवस्था या पूर्ण ज्ञान की अवस्था प्राप्त हुई है या नहीं, इस बात को हम जीवन के ऊपर उसके फलाफल को देखकर जान सकते हैं। एक मूर्ख व्यक्ति जब सोकर उठता है, तो वह पहले जैसा मूर्ख था, अब भी वैसा ही मूर्ख रहता है; शायद पहले से और भी खराब हो सकता है। परन्तु जब कोई व्यक्ति समाधि में स्थित होता है, तो वहाँ से व्युत्थान के बाद वह एक तत्त्वज्ञ, साधु, महापुरुष हो जाता है। इसीसे स्पष्ट है कि ये दोनों अवस्थाएँ कितनी भिन्न भिन्न है।

प्रश्न—मैं प्राध्यापक—के प्रश्न का सूत्र पकड़ते हुए यह पूछना चाहता हूँ कि क्या आप ऐसे लोगों के विषय में जानते हैं, जिन्होंने आत्म-सम्मोहन विद्या (self-hypnotism) का कुछ अध्ययन किया है? अवश्य ही प्राचीन भारत में इस विद्या की बहुत चर्चा होती थी—पर अब उतनी दिखायी नहीं देती। मैं जानना चाहता हूँ कि जो लोग आजकल उसकी चर्चा और साधना करते हैं, उनका इस विद्या के विषय में क्या कहना है, और वे इसका अभ्यास या साधना किस तरह करते हैं।

उत्तर—आप पाश्चात्य देश में जिसे सम्मोहन-विद्या कहते हैं, वह तो असली व्यापार का एक सामान्य अंग मात्र है। हिन्दू लोग उसे 'आत्मापसम्मोहन' (self-de-hypnotisation) कहते हैं। वे कहते है, आप तो पहले से ही सम्मोहित (hypnotised) हैं—इस सम्मोहित-भाव को दूर करना होगा, अपसम्मोहित (de-hypnotised) होना होगा—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

—'वहाँ सूर्य प्रकाशित नहीं होता, चन्द्र, तारक, विद्युत् भी नहीं—तो फिर इस सामान्य अग्नि की बात ही क्या! उन्हींके प्रकाश से समस्त प्रकाशित हो रहा है।'[1]

यह तो सम्मोहन (hypnotism) नहीं है—यह तो अपसम्मोहन (de-hypnotisation) है। हम कहते हैं कि वह प्रत्येक धर्म, जो इस प्रपंच की सत्यता की शिक्षा देता है, एक प्रकार से सम्मोहन का प्रयोग कर रहा है। केवल अद्वैतवादी ही ऐसे है, जो सम्मोहित होना नहीं चाहते। एकमात्र अद्वैतवादी ही समझते हैं कि सभी प्रकार के द्वैतवाद से सम्मोहन या मोह उत्पन्न होता है। इसीलिए अद्वैतवादी कहते हैं, 'वेदों को भी अपरा विद्या समझकर उनके अतीत हो जाओ, सगुण ईश्वर के भी परे चले जाओ, सारे विश्वब्रह्माण्ड को भी दूर फेंक दो, इतना ही नहीं, अपने शरीर-मन आदि को भी पार कर जाओ—कुछ भी शेष न रहने पाये, तभी तुम सम्पूर्ण रूप से मोह से मुक्त होओगे।'

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन॥

—'मन के सहित वाणी जिसे न पाकर जहाँ से लौट आती है, उस ब्रह्म के आनन्द को जानने पर फिर किसी प्रकार का भय नहीं रह जाता।'[2] यही अपसम्मोहन है।

---

१. कठोपनिषद् ॥२।२।१५॥
२. तैत्तिरीयोपनिषद् ॥२।४।१॥

न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखम्
न मन्त्रो न तीर्थं न वेदा न यज्ञाः।
अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥

—'मेरे न कोई पुण्य है, न पाप; न सुख है, न दुःख; मेरे लिए मन्त्र, तीर्थ वेद या यज्ञ कुछ भी नहीं है। मैं भोजन, भोज्य या भोक्ता कुछ भी नही हूँ—मैं तो चिदानन्दरूप शिव हूँ, मैं ही शिव (मंगलस्वरूप) हूँ।'[१]

हम लोग सम्मोहन-विद्या के सारे तत्त्व जानते हैं। हमारी जो मनस्तत्त्व-विद्या है, उसके विषय में पाश्चात्य देशवालों ने हाल ही में थोड़ा थोड़ा जानना प्रारम्भ किया है; परन्तु दुःख की बात है कि अभी तक वे उसे पूर्ण रूप से नहीं जान सके हैं।

प्रश्न—आप लोग 'ऍस्ट्रल बॉडी' (astral body) किसे कहते हैं?

उत्तर—हम उसे लिंग-शरीर कहते हैं। जब इस देह का नाश होता है, तब दूसरे शरीर का ग्रहण किस प्रकार होता है? जड़-भूत को छोड़कर शक्ति नहीं रह सकती। इसलिए सिद्धान्त यह है कि देहत्याग होने के पश्चात् भी सूक्ष्म-भूत का कुछ अंश हमारे साथ रह जाता है। भीतर की इन्द्रियाँ इस सूक्ष्म-भूत की सहायता से और एक नूतन देह तैयार कर लेती हैं; क्योंकि प्रत्येक ही अपनी अपनी देह बना रहा है—मन ही शरीर को तैयार करता है। यदि मैं साधु बनूँ, तो मेरा मस्तिष्क साधु के मस्तिष्क में परिणत हो जायगा। योगी कहते हैं कि वे इसी जीवन में अपने शरीर को देव-शरीर में परिणत कर सकते हैं।

योगी अनेक चमत्कार दिखाते हैं। कोरे मतवादों की राशि की अपेक्षा अल्प अभ्यास का मूल्य अधिक है। अतएव मुझे यह कहने का अधिकार नहीं है कि अमुक अमुक बातें घटती मैंने नहीं देखीं, इसलिए वे मिथ्या हैं। योगियों के ग्रन्थों में लिखा है कि अभ्यास के द्वारा सब प्रकार के अति अद्भुत फलों की प्राप्ति हो सकती है। नियमित रूप से अभ्यास करने पर अल्प काल में ही थोड़े-बहुत फल की प्राप्ति हो जाती है, जिससे यह जाना जा सकता है कि इसमें कुछ कपट या धोखेबाजी नहीं है। और इन सब शास्त्रों में जिन अलौकिक बातों का उल्लेख है, योगी वैज्ञानिक रीति से उनकी व्याख्या करते हैं। अब प्रश्न यह है कि संसार की सभी जातियों में इस प्रकार के अलौकिक कार्यों का विवरण कैसे लिपिबद्ध किया गया? जो व्यक्ति कहता है कि ये सब मिथ्या हैं, अतः इनकी व्याख्या करने

---

१. निर्वाणषट्कम् ॥४॥

की कोई आवश्यकता नहीं, उसे युक्तिवादी विचारक नही कहा जा सकता। जब तक आप उन बातों को भ्रमात्मक प्रमाणित नही कर सकते, तब तक उन्हें अस्वीकार करने का अधिकार आपको नहीं है। आपको यह प्रमाणित करना होगा कि इन सबका कोई आधार नहीं है, तभी उनको अस्वीकार करने का अधिकार आपको होगा। परन्तु आप लोगों ने तो ऐसा किया नहीं। दूसरी ओर, योगी कहते हैं कि ये सब व्यापार वास्तव में अद्‌भुत नहीं हैं और वे इस बात का दावा करते हैं कि ऐसी क्रियाएँ वे अभी भी कर सकते हैं। भारत में आज भी अनेक अद्‌भुत घटनाएँ होती रहती हैं, परन्तु उनमें से कोई भी किसी चमत्कार द्वारा नहीं घटती। इस विषय पर अनेक ग्रन्थ विद्यमान हैं। जो हो, यदि वैज्ञानिक रूप से मनस्तत्त्व की आलोचना करने के प्रयत्न को छोड़कर इस दिशा में अधिक और कुछ न हुआ हो, तो भी इसका सारा श्रेय योगियों को ही देना चाहिए।"

प्रश्न—योगी क्या क्या चमत्कार दिखा सकते हैं, इसके उदाहरण क्या आप दे सकते हैं?

उत्तर—योगियों का कथन है कि अन्य किसी विज्ञान की चर्चा करने के लिए जितने विश्वास की आवश्यकता होती है, योग विद्या के निमित्त उससे अधिक विश्वास की ज़रूरत नहीं। किसी विषय को स्वीकार करने के बाद एक भद्र व्यक्ति उसकी सत्यता की परीक्षा के लिए जितना विश्वास करता है, उससे अधिक विश्वास करने को योगी लोग नहीं कहते। योगी का आदर्श अतिशय उच्च है। मन की शक्ति से जो सब कार्य हो सकते हैं, उनमें से निम्नतर कुछ कार्यों को मैंने प्रत्यक्ष देखा है; अतः मैं इस पर अविश्वास नहीं कर सकता कि उच्चतर कार्य भी मन की शक्ति द्वारा हो सकते हैं। योगी का आदर्श है—सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता की प्राप्ति कर उनकी सहायता से शाश्वत शान्ति और प्रेम का अधिकारी हो जाना। मैं एक योगी को जानता हूँ, जिन्हें एक बड़े विषैले सर्प ने काट लिया था। सर्पदंश होते ही वे बेहोश हो ज़मीन पर गिर पड़े। सन्ध्या के समय वे होश में आये। उनसे जब पूछा गया कि क्या हुआ था, तो वे बोले, 'मेरे प्रियतम के पास से एक दूत आया था।' इन महात्मा की सारी घृणा, क्रोध और हिंसा का भाव पूर्ण रूप से दग्ध हो चुका है। कोई भी चीज़ उन्हें बदला लेने के लिए प्रवृत्त नहीं कर सकती। वे सर्वदा अनन्त प्रेमस्वरूप है और प्रेम की शक्ति से सर्वशक्तिमान हो गये हैं। बस, ऐसा व्यक्ति ही यथार्थ योगी है, और यह सब शक्तियों का विकास—अनेक प्रकार के चमत्कार दिखलाना—गौण मात्र है। यह सब प्राप्त कर लेना योगी का लक्ष्य नहीं है। योगी कहते है कि योगी के अतिरिक्त अन्य सब मानो ग़ुलाम है—खाने-पीने के ग़ुलाम, अपनी स्त्री के ग़ुलाम, अपने लड़के-बच्चों के ग़ुलाम, रुपये-पैसे के

ग़ुलाम, स्वदेशवासियों के ग़ुलाम, नाम-यश के ग़ुलाम, जलवायु के ग़ुलाम, इस संसार के हज़ारों विषयों के ग़ुलाम ! जो मनुष्य इन बन्धनों में से किसीमें भी नहीं फँसे, वे ही यथार्थ मनुष्य हैं—यथार्थ योगी हैं।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥[1]

—'जिनका मन साम्यभाव में अवस्थित है, उन्होंने यहीं संसार पर जय प्राप्त कर ली है। ब्रह्म निर्दोष और समभावापन्न है, इसलिए वे ब्रह्म में अवस्थित हैं।'

प्रश्न—क्या योगी जाति-भेद को विशेष आवश्यक समझते है ?

उत्तर—नहीं, जाति-विभाग तो उन लोगों को, जिनका मन अभी अपरिपक्व है, शिक्षा प्रदान करने का एक विद्यालय मात्र है।

प्रश्न—इस समाधि-तत्त्व के साथ भारत की गर्म जलवायु का तो कुछ सम्बन्ध नहीं है ?

उत्तर—मैं तो ऐसा नहीं समझता। कारण, समुद्र-धरातल से पन्द्रह हजार फ़ीट की ऊँचाई पर, सुमेरु के समान जलवायुवाले हिमालय में ही तो योगविद्या का उद्भव हुआ था।

प्रश्न—ठण्डी जलवायु में क्या योग में सिद्धि प्राप्त हो सकती है ?

उत्तर—हाँ, अवश्य हो सकती है। और संसार में इसकी प्राप्ति जितनी सम्भव है, उतनी सम्भव और कुछ भी नही है। हम कहते हैं, आप लोग—आपमें से प्रत्येक, जन्म से ही वेदान्ती है। आप अपने जीवन के प्रत्येक मुहूर्त में संसार की प्रत्येक वस्तु के साथ अपने एकत्व की घोषणा कर रहे हैं। जब कभी आपका हृदय संसार के कल्याण के लिए उन्मुख होता है, तभी आप अनजान में सच्चे वेदान्तवादी हो जाते हैं। आप नीतिपरायण हैं, पर यह नहीं जानते कि आप क्यों नीतिपरायण हो रहे हैं। एकमात्र वेदान्त दर्शन ही नीति-तत्त्व का विश्लेषण कर मनुष्य को ज्ञानपूर्वक नीतिपरायण होने की शिक्षा देता है। वह सब धर्मों का सारस्वरूप है।

प्रश्न—आपके मत में क्या हम पाश्चात्यों में ऐसा कुछ असामाजिक भाव है, जिसके कारण हम इस तरह बहुवादी और भेदपरायण बन रहे हैं, और जिसके अभाव के कारण प्राच्य देश के लोग हमसे अधिक सहानुभूतिसम्पन्न हैं ?

---

१. गीता ॥५।१९॥

उत्तर—मेरे मत में, पाश्चात्य जाति अधिक निर्दय स्वभाव की है, और प्राच्य देश के लोग सब भूतों के प्रति अधिक दयासम्पन्न हैं। परन्तु इसका कारण यही है कि आपकी सभ्यता बहुत ही आधुनिक है। किसीके स्वभाव को दयालु बनाने के लिए समय की आवश्यकता होती है। आपमें शक्ति काफ़ी है, परन्तु जिस मात्रा में शक्ति का संचय हो रहा है, उस मात्रा में हृदय का विकास नहीं हो पा रहा है। विशेषकर मनःसंयम का अभ्यास बहुत ही अल्प परिमाण में हुआ है। आपको साधु और शान्त प्रकृति बनने में बहुत समय लगेगा। पर भारत-वासियों के प्रत्येक रक्त-बिन्दु में यह भाव प्रवाहित हो रहा है। यदि मैं भारत के किसी गाँव में जाकर वहाँ के लोगों को राजनीति की शिक्षा देनी चाहूँ, तो वे उसे नहीं समझेंगे। परन्तु यदि मैं उन्हें वेदान्त का उपदेश दूँ, तो वे कहेंगे, 'हाँ, स्वामी जी, अब हम आपकी बात समझ रहे हैं—आप ठीक ही कह रहे हैं।' आज भी भारत में सर्वत्र यह वैराग्य या अनासक्ति का भाव देखने में आता है। आज हमारा बहुत पतन हो गया है, परन्तु अभी भी वैराग्य का प्रभाव इतना अधिक है कि राजा भी अपने राज्य को त्यागकर, साथ में कुछ भी न लेता हुआ देश में सर्वत्र पर्यटन करेगा।

कहीं कहीं पर गाँव की एक साधारण लड़की भी अपने चरखे से सूत कातते समय कहती है—मुझे द्वैतवाद का उपदेश मत सुनाओ, मेरा चरखा तक 'सोऽहं' 'सोऽहं' कह रहा है। इन लोगों के पास जाकर उनसे वार्तालाप कीजिए और उनसे पूछिए कि जब तुम इस प्रकार 'सोऽहं' कहते हो, तो फिर उस पत्थर को प्रणाम क्यों करते हो? इसके उत्तर में वे कहेंगे, 'आपकी दृष्टि में तो धर्म एक मतवाद मात्र है, पर हम तो धर्म का अर्थ प्रत्यक्षानुभूति ही समझते हैं।' उनमें से कोई शायद कहेगा, 'मैं तो तभी यथार्थ वेदान्तवादी होऊँगा, जब सारा संसार मेरे सामने से अन्तर्हित हो जायगा, जब मैं सत्य के दर्शन कर लूँगा। जब तक मैं उस स्थिति में नहीं पहुँचता, तब तक मुझमें और एक साधारण अज्ञ व्यक्ति में कोई अन्तर नहीं है। यही कारण है कि मैं प्रस्तर-मूर्ति की उपासना कर रहा हूँ, मन्दिर में जाता हूँ, जिससे मुझे प्रत्यक्षानुभूति हो जाय। मैंने वेदान्त का श्रवण किया तो है, पर मैं अब उस वेदान्त प्रतिपाद्य आत्म-तत्त्व को देखना चाहता हूँ—उसका प्रत्यक्ष अनुभव कर लेना चाहता हूँ।'

> वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।
> वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये॥[1]

---

१. विवेकचूड़ामणि ॥५८॥

—'धाराप्रवाह रूप से मनोरम सद्वाक्यों की योजना, शास्त्रों की व्याख्या करने के नाना प्रकार के कौशल—ये केवल पण्डितों के आमोद के लिए ही हैं, इनके द्वारा मुक्ति-लाभ की कोई सम्भावना नहीं है।' ब्रह्म के साक्षात्कार से ही हमें उस मुक्ति की प्राप्ति होती है।

प्रश्न—आध्यात्मिक विषय में जब सर्वसाधारण के लिए इस प्रकार की स्वाधीनता है, तो क्या इस स्वाधीनता के साथ जाति-भेद का मानना मेल खाता है?

उत्तर—कदापि नहीं। लोग कहते हैं कि जाति-भेद नहीं रहना चाहिए; इतना ही नहीं, बल्कि जो लोग भिन्न भिन्न जातियों के अन्तर्गत हैं, वे भी कहते हैं कि जाति-विभाग कोई बहुत उच्च स्तर की चीज़ नहीं है। पर साथ ही वे यह भी कहते हैं कि यदि तुम इससे अच्छी कोई अन्य वस्तु हमें दो, तो हम इसे छोड़ देंगे। वे पूछते हैं कि तुम इसके बदले हमें क्या दोगे? जाति-भेद कहाँ नहीं है, बोलो? आप भी तो अपने देश में इसी प्रकार के एक जाति-विभाग की सृष्टि करने का प्रयत्न सर्वदा कर रहे हैं। जब कोई व्यक्ति कुछ अर्थ संग्रह कर लेता है, तो वह कहने लगता है कि 'मैं भी तुम्हारे चार सौ धनिकों में से एक हूँ।' केवल हमीं लोग एक स्थायी जाति-विभाग का निर्माण करने में सफल हुए हैं। अन्य देशवाले इस प्रकार के स्थायी जाति-विभाग की स्थापना के लिए प्रयत्न कर रहे हैं, किन्तु वे सफल नहीं हो पा रहे हैं। यह सच है कि हमारे समाज में काफ़ी कुसंस्कार और बुरी बातें हैं; पर क्या आपके देश के कुसंस्कारों तथा बुरी बातों को हमारे देश में प्रचलित कर देने से ही सब ठीक हो जायगा? जाति-भेद के कारण ही तो आज भी हमारे देश के तीस करोड़ लोगों को खाने के लिए रोटी का एक टुकड़ा मिल रहा है। हाँ, यह सच है कि रीति-नीति की दृष्टि से इसमें अपूर्णता है। पर यदि यह जाति-विभाग न होता, तो आज आपको एक भी संस्कृत ग्रन्थ पढ़ने के लिए न मिलता। इसी जाति-विभाग के द्वारा ऐसी मजबूत दीवालों की सृष्टि हुई थी, जो शत शत बाहरी चढ़ाइयों के बावजूद भी नहीं गिरीं। आज भी वह प्रयोजन मिटा नहीं है, इसीलिए अभी तक जाति-विभाग बना हुआ है। सात सौ वर्ष पहले जाति-विभाग जैसा था, आज वह वैसा नहीं है। उस पर जितने ही आघात होते गये, वह उतना ही दृढ़ होता गया। क्या आप यह नहीं जानते कि केवल भारत ही एक ऐसा राष्ट्र है, जो दूसरे राष्ट्रों पर विजय प्राप्त करने अपनी सीमा से बाहर कभी नहीं गया? महान् सम्राट् अशोक यह विशेष रूप से कह गये थे कि उनके कोई भी उत्तराधिकारी परराष्ट्र विजय के लिए प्रयत्न न करें। यदि कोई अन्य जाति हमारे यहाँ प्रचारक भेजना चाहती है, तो भेजे; पर वह हमारी वास्तविक सहायता ही करे, जातीय सम्पत्ति-

स्वरूप हमारा जो धर्म-भाव है, उसे क्षति न पहुँचावे। ये सब विभिन्न जातियाँ हिन्दू जाति पर विजय प्राप्त करने के लिए क्यों आयीं? क्या हिन्दुओं ने अन्य जातियों का कुछ अनिष्ट किया था? बल्कि जहाँ तक सम्भव था, उन्होंने संसार का उपकार ही किया था। उन्होंने संसार को विज्ञान, दर्शन और धर्म की शिक्षा दी, तथा संसार की अनेक असभ्य जातियों को सभ्य बनाया। परन्तु उसके बदले में उनको क्या मिला?—रक्तपात! अत्याचार!! और दुष्ट 'काफ़िर' यह शुभ नाम!!! वर्तमान काल में भी, पाश्चात्य व्यक्तियों द्वारा लिखित भारत सम्बन्धी ग्रन्थों को पढ़कर देखिए तथा वहाँ (भारत में) भ्रमण करने के लिए जो लोग गये थे, उनके द्वारा लिखित आख्यायिकाओं को पढ़िए। आप देखेंगे, उन्होंने भी हिन्दुओं को 'हिदन' कहकर गालियाँ दी हैं। मैं पूछता हूँ, भारतवासियों ने ऐसा कौन सा अनिष्ट किया है, जिसके प्रतिशोध में उनके प्रति इस प्रकार की लांछनपूर्ण बातें कही जाती हैं?

प्रश्न—सभ्यता के विषय में वेदान्त की क्या धारणा है?

उत्तर—आप दार्शनिक लोग हैं—आप यह नहीं मानते कि रुपये की थैली पास रहने से ही मनुष्य मनुष्य में कुछ भेद उत्पन्न हो जाता है। इन सब कल-कारखानों और जड़-विज्ञानों का मूल्य क्या है? उनका तो बस एक ही फल देखने में आता है—वे सर्वत्र ज्ञान का विस्तार करते हैं। आप अभाव अथवा दारिद्र्य की समस्या को हल नहीं कर सके, बल्कि आपने तो अभाव की मात्रा और भी बढ़ा दी है। यन्त्रों की सहायता से 'दारिद्र्य-समस्या' का कभी समाधान नहीं हो सकता। उनके द्वारा जीवन-संग्राम और भी तीव्र हो जाता है, प्रतियोगिता और भी बढ़ जाती है। जड़-प्रकृति का क्या कोई स्वतन्त्र मूल्य है? कोई व्यक्ति यदि तार के माध्यम से बिजली का प्रवाह भेज सकता है, तो आप उसी समय उसका स्मारक बनाने के लिए उद्यत हो जाते हैं। क्यों! क्या प्रकृति स्वयं यह कार्य लाखों बार नित्य नहीं करती? प्रकृति में सब कुछ क्या पहले से ही विद्यमान नहीं है? आपको उसकी प्राप्ति हुई भी, तो उससे क्या लाभ? वह तो पहले से ही वहाँ वर्तमान है। उसका एकमात्र मूल्य यही है कि वह हमें भीतर से उन्नत बनाता है। यह जगत् मानो एक व्यायामशाला के सदृश है—इसमें जीवात्माएँ अपने अपने कर्म के द्वारा अपनी अपनी उन्नति कर रही हैं और इसी उन्नति के फलस्वरूप हम देवस्वरूप या ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं। अतः, किस विषय में ईश्वर की कितनी अभिव्यक्ति है, यह जानकर ही उस विषय का मूल्य या सार निर्धारित करना चाहिए। सभ्यता का अर्थ है, मनुष्य में इसी ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति।

प्रश्न—क्या बौद्धों में भी किसी प्रकार का जाति-विभाग है?

उत्तर—बौद्धों में कभी कोई विशेष जाति-विभाग नहीं था, और भारत में बौद्धों की संख्या भी बहुत थोड़ी है। बुद्ध एक समाज-सुधारक थे। फिर भी मैंने बौद्ध देशों में देखा है, वहाँ जाति-विभाग की सृष्टि करने के बहुत प्रयत्न होते रहे हैं, पर उसमें सफलता नहीं मिली। बौद्धों का जाति-विभाग वास्तव में नहीं जैसा ही है, परन्तु मन ही मन वे स्वयं को उच्च जाति मानकर गर्व करते हैं।

बुद्ध एक वेदान्तवादी संन्यासी थे। उन्होने एक नये सम्प्रदाय की स्थापना की थी, जैसे कि आजकल नये नये सम्प्रदाय स्थापित होते है। जो सब भाव आजकल बौद्ध धर्म के नाम से प्रचलित हैं, वे वास्तव में बुद्ध के अपने नही थे। वे तो उनसे भी बहुत प्राचीन थे। बुद्ध एक महापुरुष थे—उन्होंने इन भावों में शक्ति का संचार कर दिया था। बौद्ध धर्म का सामाजिक भाव ही उसकी नवीनता है। ब्राह्मण और क्षत्रिय ही सदा से हमारे आचार्य रहे हैं। उपनिषदों में से अधिकांश तो क्षत्रियों द्वारा रचे गये हैं, और वेदों का कर्मकाण्ड भाग ब्राह्मणों द्वारा। समग्र भारत में हमारे जो बड़े बड़े आचार्य हो गये हैं, उनमें से अधिकांश क्षत्रिय थे, और उनके उपदेश भी बड़े उदार और सार्वजनीन हैं; परन्तु केवल दो ब्राह्मण आचार्यों को छोड़कर शेष सब ब्राह्मण आचार्य अनुदार भावसम्पन्न थे। भगवान् के अवतार के रूप में पूजे जानेवाले राम, कृष्ण, बुद्ध—ये सभी क्षत्रिय थे।

प्रश्न—सम्प्रदाय, अनुष्ठान, शास्त्र—ये सब क्या तत्त्व की उपलब्धि में सहायक हैं?

उत्तर—तत्त्व-साक्षात्कार हो जाने पर मनुष्य सब कुछ छोड़ देता है। विभिन्न सम्प्रदाय, अनुष्ठान, शास्त्र आदि की वहीं तक उपयोगिता है, जहाँ तक वे उस पूर्णत्व की अवस्था में पहुँचने के लिए सहायक हैं। परन्तु जब उनसे कोई सहायता नहीं मिल पाती, तब अवश्य उनमें परिवर्तन करना चाहिए।

> सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
> कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥
> न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
> जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥[1]

—अर्थात् 'ज्ञानी व्यक्ति को कभी भी अज्ञानी की अवस्था के प्रति घृणा प्रदर्शित नहीं करनी चाहिए और न उनकी अपनी अपनी साधन-प्रणाली में उनके विश्वास

---

१. गीता ॥३।२५-६॥

को नष्ट ही करना चाहिए; बल्कि ज्ञानी व्यक्ति को चाहिए कि वह उनको ठीक ठीक मार्ग प्रदर्शित करे, जिससे वे उस अवस्था में पहुँच जायँ, जहाँ वह स्वयं पहुँचा हुआ है।'

प्रश्न—वेदान्त व्यक्तित्व[1] (individuality) और नीतिशास्त्र की व्याख्या किस प्रकार करता है?

उत्तर—वह पूर्ण ब्रह्म यथार्थ अविभाज्य व्यक्तित्व ही है—माया द्वारा उसने पृथक् पृथक् व्यक्ति के आकार धारण किये हैं। केवल ऊपर से ही इस प्रकार का बोध हो रहा है, पर वास्तव में वह सदैव वही पूर्ण ब्रह्मस्वरूप है। वास्तव में सत्ता एक है, पर माया के कारण वह विभिन्न रूपों में प्रतीत हो रही है। यह समस्त भेद-बोध माया में है। पर इस माया के भीतर भी सर्वदा उसी एक की ओर लौट जाने की प्रवृत्ति चली हुई है। प्रत्येक राष्ट्र के समस्त नीतिशास्त्र और समस्त आचरणशास्त्र में यही प्रवृत्ति अभिव्यक्त हुई है, क्योंकि यह तो जीवात्मा का स्वभावगत प्रयोजन है। यह उसी एकत्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर रही है—और एकत्व लाभ के इस संघर्ष को हम नीतिशास्त्र और आचरण-शास्त्र कहते हैं। इसीलिए हमें सर्वदा उन्हें अभ्यास करना चाहिए।

प्रश्न—नीतिशास्त्र का अधिकांश भाग क्या विभिन्न व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध को ही लेकर नहीं है?

उत्तर—नीतिशास्त्र एकदम यही है। पूर्ण ब्रह्म कभी माया की सीमा के भीतर नहीं आ सकता।

प्रश्न—आपने कहा कि 'मैं' ही वह पूर्ण ब्रह्म है—मैं आपसे पूछनेवाला था कि इस 'मैं' या 'अहं' का कोई ज्ञान रहता है या नहीं?

उत्तर—यह 'अहं' या 'मैं' उसी पूर्ण ब्रह्म की अभिव्यक्ति है, और इस अभिव्यक्त दशा में उसमें जो प्रकाश-शक्ति कार्य कर रही है, उसीको हम 'ज्ञान' कहते हैं। इसलिए उस पूर्ण ब्रह्म के ज्ञानस्वरूप में 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग ठीक नहीं है, क्योंकि वह पूर्णावस्था तो इस सापेक्ष ज्ञान के परे है।

प्रश्न—यह सापेक्ष ज्ञान क्या पूर्ण ज्ञान के अन्तर्गत है?

---

१. अंग्रेजी के individual शब्द में 'अ-विभाज्य' और 'व्यष्टि' दोनों भाव निहित हैं। स्वामी जी जब उत्तर में कहते हैं कि 'ब्रह्म ही यथार्थ individual है', तब प्रथमोक्त भाव को अर्थात् उपचय-अपचय-हीन अविभाज्यता को वे लक्ष्य करते हैं। फिर वे कहते हैं कि उस सत्ता ने माया के कारण पृथक् पृथक् व्यक्ति के आकार धारण किये हैं। स०

उत्तर—हाँ, एक दृष्टि से सापेक्ष ज्ञान को पूर्ण ज्ञान के अन्तर्गत कहा जा सकता है। जिस प्रकार सोने की मुहर, भुनाने पर, रुपये, आने, पैसे में बदल ली जा सकती है, उसी प्रकार इस पूर्ण अवस्था से सब प्रकार के ज्ञान की उत्पत्ति की जा सकती है। इस अतिचेतन अवस्था को ज्ञानातीत या पूर्ण ज्ञान की अवस्था कहते हैं—चेतन और अचेतन दोनों उसके अन्तर्गत हैं। जो व्यक्ति इस पूर्ण ज्ञानावस्था को प्राप्त कर लेता है, उसमें यह सापेक्ष साधारण ज्ञान भी पूर्ण रूप से विद्यमान रहता है। जब वह ज्ञान की इस दूसरी अवस्था अर्थात् हमारी परिचित सापेक्ष ज्ञानावस्था का अनुभव करना चाहता है, तो उसे एक सीढ़ी नीचे उतर आना पड़ता है। यह सापेक्ष ज्ञान एक निम्नतर अवस्था है—केवल माया के भीतर ही इस प्रकार का ज्ञान हो सकता है।

७

(योग, वैराग्य, तपस्या, प्रेम)

प्रश्न—क्या योग शरीर को पूर्ण स्वास्थ्य और जीवनी शक्ति प्रदान करने में सहायक होता है?

उत्तर—हाँ, सहायक है, यह रोगों को दूर रखता है। स्वयं अपने शरीर को मन से बहिर्वस्तु समझना कठिन है, अतः दूसरों के सम्बन्ध में यह बड़ा कारगर है। फल और दूध योगियों के लिए सर्वोत्तम आहार है।

प्रश्न—क्या वैराग्य के साथ ही आनन्द-लाभ होता है?

उत्तर—वैराग्य का प्रथम सोपान बड़ा कष्टदायक होता है। जब वह पक्का हो जाता है, तब निरतिशय आनन्द-लाभ होता है।

प्रश्न—तपस्या क्या है?

उत्तर—तपस्या त्रिविध है—शरीर की, वाणी की और मन की। प्रथम है लोकसेवा, द्वितीय है सत्य बोलना और तृतीय है मन को जीतना और उसकी एकाग्रता।

प्रश्न—हमें यह क्यों नहीं सुझायी पड़ता कि एक ही चेतना चींटी और मुनि दोनों में है।

उत्तर—इस व्यक्त सृष्टि के एकत्व का ज्ञान होने में केवल समय की बात रहती है।

प्रश्न—सम्यक् ज्ञान के पूर्व क्या उपदेश देना सम्भव है?

उत्तर—नहीं। प्रभु से मेरी प्रार्थना है कि मेरे गुरुदेव के सभी संन्यासी शिष्यों को सम्यक् ज्ञान हो जाय, जिससे वे धर्म-प्रचार के योग्य बन सकें!

प्रश्न—क्या गीता में श्री कृष्ण के विश्व रूप में जिस दिव्य ऐश्वर्य का दर्शन कराया गया है, वह श्री कृष्ण के रूप में निहित अन्य सगुण उपाधियों के बिना गोपियों से उनके सम्बन्ध में व्यक्त प्रेम भाव के प्रकाश से श्रेष्ठतर है?

उत्तर—दिव्य ऐश्वर्य के प्रकाश की अपेक्षा निश्चय ही वह प्रेम हीनतर है, जो प्रिय के प्रति भगवद्भावना से रहित हो। यदि ऐसा न होता, तो हाड़-मांस के शरीर से प्रेम करनेवाले सभी लोग मोक्ष प्राप्त कर लेते।

८

(गुरु, अवतार, योग, जप, सेवा)

प्रश्न—वेदान्त के लक्ष्य तक कैसे पहुँचा जा सकता है?

उत्तर—श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा। किसी सद्गुरु से ही श्रवण करना चाहिए। चाहे कोई नियमित रूप से शिष्य न हुआ हो, पर अगर जिज्ञासु सुपात्र है और वह सद्गुरु के शब्दों का श्रवण करता है, तो उसकी मुक्ति हो जाती है।

प्रश्न—सद्गुरु कौन है?

उत्तर—सद्गुरु वह है, जिसे गुरु-परम्परा से आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त हुई है। अध्यात्म गुरु का कार्य बड़ा कठिन है। दूसरों के पापों को स्वयं अपने ऊपर लेना पड़ता है। कम समुन्नत व्यक्तियों के पतन की पूरी आशंका रहती है। यदि शारीरिक पीड़ा मात्र हो, तो उसे अपने को भाग्यवान समझना चाहिए।

प्रश्न—क्या अध्यात्म गुरु जिज्ञासु को सुपात्र नहीं बना सकता?

उत्तर—कोई अवतार बना सकता है। साधारण गुरु नहीं।

प्रश्न—क्या मोक्ष का कोई सरल मार्ग नहीं है?

उत्तर—'प्रेम को पंथ कृपाण की धारा'—केवल उन लोगों के लिए आसान है, जिन्हें किसी अवतार के सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो। परमहंस देव कहा करते थे, "जिसका यह आखिरी जन्म है, वह किसी न किसी प्रकार से मेरा दर्शन कर लेगा।"

प्रश्न—क्या उसके लिए योग सुगम मार्ग नहीं है?

उत्तर—(मज़ाक़ में) आपने खूब कहा, समझा!—योग सुगम मार्ग! यदि आपका मन निर्मल न होगा और आप योगमार्ग पर आरूढ़ होंगे, तो आपको कुछ अलौकिक सिद्धियाँ मिल जायँगी, परन्तु वे रुकावटें होंगी। इसलिए मन की निर्मलता प्रथम आवश्यकता है।

प्रश्न—इसका उपाय क्या है?

उत्तर—सुकृत द्वारा। सुकृत दो प्रकार के है: सकारात्मक और नकारात्मक। 'चोरी मत करो'—यह नकारात्मक निर्देश है, 'परोपकार करो'—यह सकारात्मक है।

प्रश्न—परोपकार उच्च अवस्था में क्यों न किया जाय, क्योंकि निम्न अवस्था में वैसा करने से साधक भववन्धन में पड़ सकता है?

उत्तर—प्रथम अवस्था में ही इसे करना चाहिए। आरम्भ में जिसे कोई कामना रहती है, वह भ्रान्त होता है और वन्धन में पड़ता है, अन्य लोग नहीं। धीरे धीरे यह बिल्कुल स्वाभाविक वन जायगा।

प्रश्न—स्वामी जी! कल रात आपने कहा था, 'तुममें सव कुछ है।' तव यदि मैं विष्णु जैसा वनना चाहूँ, तो क्या मुझे केवल इस मनोरथ का ही चिन्तन करना चाहिए अथवा विष्णु रूप का ध्यान करना चाहिए?

उत्तर—सामर्थ्य के अनुसार इनमें से किसी मार्ग का अनुसरण किया जा सकता है।

प्रश्न—आत्मानुभूति का साधन क्या है?

उत्तर—गुरु ही आत्मानुभूति का साधन है। 'गुरु विनु होइ कि ज्ञान।'

प्रश्न—कुछ लोगों का कहना है कि ध्यान लगाने के लिए किसी पूजा-गृह में बैठने की आवश्यकता नहीं है। यह कहाँ तक ठीक है?

उत्तर—जिन्होंने प्रभु की विद्यमानता का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उनके लिए इसकी आवश्यकता नहीं है, लेकिन औरों के लिए है। किन्तु साधक को सगुण ब्रह्म की उपासना से ऊपर उठकर निर्गुण ब्रह्म की उपासना की ओर अग्रसर होना चाहिए, क्योंकि सगुण या साकार उपासना से मोक्ष नहीं मिल सकता। साकार के दर्शन से आपको सांसारिक समृद्धि प्राप्त हो सकती है। जो माता की भक्ति करता है, वह इस दुनिया में सफल होता है; जो पिता की पूजा करता है, वह स्वर्ग जाता है; किन्तु जो साधु की पूजा करता है, वह ज्ञान तथा भक्ति लाभ करता है।

प्रश्न—इसका क्या अर्थ है **क्षणमिह सज्जन संगतिरेका** आदि—'सत्संग का एक क्षण भी मनुष्य को इस भवलोक के परे ले जाता है'?

उत्तर—सच्चे साधु के सम्पर्क में आने पर सत्पात्र मुक्तावस्था प्राप्त कर लेता है। सच्चे साधु विरले होते हैं, किन्तु उनका प्रभाव इतना होता है कि एक महान् लेखक ने लिखा है, 'पाखंड वह कर है, जो दुष्टता सज्जनता को देती है।' दुष्ट जन सज्जन होने का ढोंग करते हैं। किन्तु अवतार कपाल-मोचन होते हैं, अर्थात् वे लोगों का दुर्भाग्य पलट सकते हैं। वे सारे विश्व को हिला सकते

हैं। सबसे कम खतरनाक और पूजा का सर्वोत्तम तरीक़ा किसी मनुष्य की पूजा करना है, जिसने मानव में ब्रह्म के होने का विचार प्रतिष्ठित कर लिया, उसने विश्व-व्यापी ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया। विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार संन्यस्त जीवन तथा गृहस्थ जीवन दोनों ही श्रेयस्कर हैं। केवल ज्ञान आवश्यक वस्तु है।

प्रश्न—ध्यान कहाँ लगाना चाहिए—शरीर के भीतर या बाहर? मन को भीतर समेटना चाहिए अथवा बाह्य प्रदेश में स्थापित करना चाहिए?

उत्तर—हमें भीतर ध्यान लगाने का यत्न करना चाहिए। जहाँ तक मन के इधर-उधर भागने का सवाल है, मनोमय कोष में पहुँचने में लम्बा समय लगेगा। अभी तो हमारा संघर्ष शरीर से है। जब आसन सिद्ध हो जाता है, तभी मन से संघर्ष आरम्भ होता है। आसन सिद्ध हो जाने पर अंग-प्रत्यंग निश्चल हो जाता है—और साधक चाहे जितने समय तक बैठा रह सकता है।

प्रश्न—कभी कभी जप से थकान मालूम होने लगती है। तब क्या उसकी जगह स्वाध्याय करना चाहिए, या उसी पर आरूढ़ रहना चाहिए?

उत्तर—दो कारणों से जप में थकान मालूम होती है। कभी कभी मस्तिष्क थक जाता है और कभी कभी आलस्य के परिणामस्वरूप ऐसा होता है। यदि प्रथम कारण है, तो उस समय कुछ क्षण तक जप छोड़ देना चाहिए, क्योंकि हठपूर्वक जप में लगे रहने से विभ्रम या विक्षिप्तावस्था आदि आ जाती हैं। परन्तु यदि द्वितीय कारण है, तो मन को बलात् जप में लगाना चाहिए।

प्रश्न—कभी कभी जप करते समय पहले आनन्द की अनुभूति होती है, लेकिन तब आनन्द के कारण जप में मन नहीं लगता। ऐसी स्थिति में क्या जप जारी रखना चाहिए?

उत्तर—हाँ, वह आनन्द आध्यात्मिक साधना में बाधक है। उसे रसास्वादन कहते हैं। उससे ऊपर उठना चाहिए।

प्रश्न—यदि मन इधर-उधर भागता रहे, तब भी क्या देर तक जप करते रहना ठीक है?

उत्तर—हाँ, उसी प्रकार जैसे अगर किसी बदमाश घोड़े की पीठ पर कोई अपना आसन जमाये रखे, तो वह उसे वश में कर लेता है।

प्रश्न—आपने अपने 'भक्तियोग' में लिखा है कि यदि कोई कमज़ोर आदमी योगाभ्यास का यत्न करता है, तो घोर प्रतिक्रिया होती है। तब क्या किया जाय?

उत्तर—यदि आत्मज्ञान के प्रयास में मर जाना पड़े, तो भय किस बात का! ज्ञानार्जन तथा अन्य बहुत सी वस्तुओं के लिए मरने में मनुष्य को भय नहीं होता और धर्म के लिए मरने में आप भयभीत क्यों हों?

प्रश्न—क्या जीव-सेवा मात्र से मुक्ति मिल सकती है?

उत्तर—जीव-सेवा प्रत्यक्ष रूप से तो नहीं, परोक्ष रूप से आत्मशुद्धि द्वारा मुक्ति प्रदान कर सकती है। किन्तु यदि आप समुचित रूप से किसी कार्य को करने की इच्छा रखते हैं, तो सम्प्रति उसे ही पूर्ण पर्याप्त समझिए। किसी भी पथ में खतरा है मुमुक्षा के अभाव का। निष्ठा का होना आवश्यक है, अन्यथा विकास न होगा। इस समय कर्म पर जोर देना आवश्यक हो गया है।

प्रश्न—कर्म में हमारी भावना क्या होनी चाहिए—परोपकारमूलक करुणा या अन्य कोई भावना?

उत्तर—करुणाजन्य परोपकार उत्तम है, परन्तु शिव ज्ञान से सर्व जीव की सेवा उससे श्रेष्ठ है।

प्रश्न—प्रार्थना की उपादेयता क्या है?

उत्तर—सोयी हुई शक्ति प्रार्थना से आसानी से जाग उठती है और यदि सच्चे दिल से की जाय, तो सभी इच्छाएँ पूरी हो सकती हैं; किन्तु अगर सच्चे दिल से न की जाय, तो दस में से एक की पूर्ति होती है। परन्तु इस तरह की प्रार्थना स्वार्थपूर्ण होती है, अतः वह त्याज्य है।

प्रश्न—नर-रूपधारी अवतार की पहचान क्या है?

उत्तर—जो मनुष्यों के विनाश के दुर्भाग्य को बदल सके, वह भगवान् है। कोई भी साधु, चाहे वह कितना भी पहुँचा हुआ क्यों न हो, इस अनुपम पद के लिए दावा नहीं कर सकता। मुझे कोई ऐसा व्यक्ति नहीं दिखायी पड़ता, जो रामकृष्ण को भगवान् समझता हो। हमें कभी कभी उनकी ऐसी प्रतीति मात्र हो जाती है, बस। उन्हें भगवान् के रूप में जान लेने और साथ ही संसार से आसक्ति रखने में संगति नहीं है।

९

(भगिनी निवेदिता के कुछ प्रश्नों के उत्तर[1])

प्रश्न—पृथ्वीराज एवं चंद जिस समय कन्नौज में स्वयंवर के लिए जाने को प्रस्तुत हुए, उस समय उन्होंने किसका छद्मवेश धारण किया था—मुझे याद नहीं आ रहा है?

उत्तर—दोनों ही भाट का वेश धारण कर गये थे।

---

१. ये उत्तर स्वामी जी ने सैन फ्रांसिस्को से मई २४, १९०० ई० को एक पत्र में लिखे थे। स०

हैं। सबसे कम खतरनाक और पूजा का सर्वोत्तम तरीक़ा किसी मनुष्य की पूजा करना है, जिसने मानव में ब्रह्म के होने का विचार प्रतिष्ठित कर लिया, उसने विश्वव्यापी ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया। विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार संन्यस्त जीवन तथा गृहस्थ जीवन दोनों ही श्रेयस्कर हैं। केवल ज्ञान आवश्यक वस्तु है।

प्रश्न—ध्यान कहाँ लगाना चाहिए—शरीर के भीतर या बाहर? मन को भीतर समेटना चाहिए अथवा बाह्य प्रदेश में स्थापित करना चाहिए?

उत्तर—हमें भीतर ध्यान लगाने का यत्न करना चाहिए। जहाँ तक मन के इधर-उधर भागने का सवाल है, मनोमय कोष में पहुँचने में लम्बा समय लगेगा। अभी तो हमारा संघर्ष शरीर से है। जब आसन सिद्ध हो जाता है, तभी मन से संघर्ष आरम्भ होता है। आसन सिद्ध हो जाने पर अंग-प्रत्यंग निश्चल हो जाता है—और साधक चाहे जितने समय तक बैठा रह सकता है।

प्रश्न—कभी कभी जप से थकान मालूम होने लगती है। तब क्या उसकी जगह स्वाध्याय करना चाहिए, या उसी पर आरूढ़ रहना चाहिए?

उत्तर—दो कारणों से जप में थकान मालूम होती है। कभी कभी मस्तिष्क थक जाता है और कभी कभी आलस्य के परिणामस्वरूप ऐसा होता है। यदि प्रथम कारण है, तो उस समय कुछ क्षण तक जप छोड़ देना चाहिए, क्योंकि हठपूर्वक जप में लगे रहने से विभ्रम या विक्षिप्तावस्था आदि आ जाती हैं। परन्तु यदि द्वितीय कारण है, तो मन को बलात् जप में लगाना चाहिए।

प्रश्न—कभी कभी जप करते समय पहले आनन्द की अनुभूति होती है, लेकिन तब आनन्द के कारण जप में मन नहीं लगता। ऐसी स्थिति में क्या जप जारी रखना चाहिए?

उत्तर—हाँ, वह आनन्द आध्यात्मिक साधना में बाधक है। उसे रसास्वादन कहते हैं। उससे ऊपर उठना चाहिए।

प्रश्न—यदि मन इधर-उधर भागता रहे, तब भी क्या देर तक जप करते रहना ठीक है?

उत्तर—हाँ, उसी प्रकार जैसे अगर किसी बदमाश घोड़े की पीठ पर कोई अपना आसन जमाये रखे, तो वह उसे वश में कर लेता है।

प्रश्न—आपने अपने 'भक्तियोग' में लिखा है कि यदि कोई कमज़ोर आदमी योगाभ्यास का यत्न करता है, तो घोर प्रतिक्रिया होती है। तब क्या किया जाय?

उत्तर—यदि आत्मज्ञान के प्रयास में मर जाना पड़े, तो भय किस बात का! ज्ञानार्जन तथा अन्य बहुत सी वस्तुओं के लिए मरने में मनुष्य को भय नहीं होता और धर्म के लिए मरने में आप भयभीत क्यों हों?

प्रश्न—क्या जीव-सेवा मात्र से मुक्ति मिल सकती है?

उत्तर—जीव-सेवा प्रत्यक्ष रूप से तो नहीं, परोक्ष रूप से आत्मशुद्धि द्वारा मुक्ति प्रदान कर सकती है। किन्तु यदि आप समुचित रूप से किसी कार्य के करने की इच्छा रखते हैं, तो सम्प्रति उसे ही पूर्ण पर्याप्त समझिए। किसी भी पंथ में खतरा है मुमुक्षा के अभाव का। निष्ठा का होना आवश्यक है, अन्यथा विकास न होगा। इस समय कर्म पर ज़ोर देना आवश्यक हो गया है।

प्रश्न—कर्म में हमारी भावना क्या होनी चाहिए—परोपकारमूलक करुणा या अन्य कोई भावना?

उत्तर—करुणाजन्य परोपकार उत्तम है, परन्तु शिव ज्ञान से सर्व जीव की सेवा उससे श्रेष्ठ है।

प्रश्न—प्रार्थना की उपादेयता क्या है?

उत्तर—सोयी हुई शक्ति प्रार्थना से आसानी से जाग उठती है और यदि सच्चे दिल से की जाय, तो सभी इच्छाएँ पूरी हो सकती हैं; किन्तु अगर सच्चे दिल से न की जाय, तो दस में से एक की पूर्ति होती है। परन्तु इस तरह की प्रार्थना स्वार्थपूर्ण होती है, अतः वह त्याज्य है।

प्रश्न—नर-रूपधारी अवतार की पहचान क्या है?

उत्तर—जो मनुष्यों के विनाश के दुर्भाग्य को बदल सके, वह भगवान् है। कोई भी साधु, चाहे वह कितना भी पहुँचा हुआ क्यों न हो, इस अनुपम पद के लिए दावा नहीं कर सकता। मुझे कोई ऐसा व्यक्ति नहीं दिखायी पड़ता, जो रामकृष्ण को भगवान् समझता हो। हमें कभी कभी इसकी धुँधली प्रतीति मात्र हो जाती है, बस। उन्हें भगवान् के रूप में जान लेने और साथ ही संसार से आसक्ति रखने में संगति नहीं है।

९

(भगिनी निवेदिता के कुछ प्रश्नों के उत्तर[1])

प्रश्न—पृथ्वीराज एवं चंद जिस समय कन्नौज में स्वयंवर के लिए जाने को प्रस्तुत हुए, उस समय उन्होंने किनका छद्मवेश धारण किया था—मुझे याद नहीं आ रहा है?

उत्तर—दोनों ही भाट का वेष धारण कर गये थे।

---

१. ये उत्तर स्वामी जी ने सैन फ्रांसिस्को से मई २४, १९०० ई० को एक पत्र में लिखे थे। स०

प्रश्न—क्या पृथ्वीराज ने संयुक्ता के साथ इसलिए विवाह करना चाहा था कि वह अलौकिक रूपवती थी तथा उसके प्रतिद्वन्द्वी की पुत्री थी? संयुक्ता की परिचारिका होने के लिए क्या उन्होंने अपनी एक दासी को सिखा-पढ़ाकर वहाँ भेजा था? और क्या इसी वृद्धा धात्री ने राजकुमारी के हृदय में पृथ्वीराज के प्रति प्रेम का बीज अंकुरित किया था?

उत्तर—दोनों ही परस्पर के रूप-गुणों का वर्णन सुनकर तथा चित्र अवलोकन कर एक दूसरे के प्रति आकृष्ट हुए थे। चित्र-दर्शन के द्वारा नायक-नायिका के हृदय में प्रेम का संचार भारत की एक प्राचीन रीति है।

प्रश्न—गोप बालकों के बीच में कृष्ण का प्रतिपालन कैसे हुआ?

उत्तर—ऐसी भविष्यवाणी हुई थी कि कृष्ण कंस को सिंहासन से विच्युत करेंगे। इस भय से कि जन्म लेने के बाद कृष्ण कहीं गुप्त रूप से प्रतिपालित हों, दुराचारी कंस ने कृष्ण के माता-पिता को (यद्यपि वे कंस की बहन और बहनोई थे) क़ैद में डाल रखा था तथा इस प्रकार का आदेश दिया कि उस वर्ष से राज्य में जितने बालक पैदा होंगे, उन सबकी हत्या की जायगी। अत्याचारी कंस के हाथ से रक्षा करने के लिए ही कृष्ण के पिता ने उन्हें गुप्त रूप से यमुना पार पहुँचाया था।

प्रश्न—उनके जीवन के इस अध्याय की परिसमाप्ति किस प्रकार हुई थी?

उत्तर—अत्याचारी कंस के द्वारा आमन्त्रित होकर वे अपने भाई बलदेव तथा अपने पालक पिता नन्द के साथ राजसभा में पधारे। (अत्याचारी ने उनकी हत्या करने का षड़यन्त्र रचा था।) उन्होंने अत्याचारी का वध किया। किन्तु स्वयं राजा न बनकर कंस के निकटतम उत्तराधिकारी को उन्होंने राजसिंहासन पर बैठाया। उन्होंने कभी कर्म के फल को स्वयं नहीं भोगा!

प्रश्न—इस समय की किसी नाटकीय घटना का उल्लेख क्या आप कर सकते हैं?

उत्तर—इस समय का जीवन अलौकिक घटनाओं से परिपूर्ण था। बाल्यावस्था में वे अत्यन्त ही चंचल थे। चंचलता के कारण उनकी गोपिका माता ने एक दिन उन्हें दधिमन्थन की रस्सी से बाँधना चाहा था। किन्तु अनेक रस्सियों को जोड़कर भी वे उन्हें बाँधने में समर्थ न हुई। तब उनकी दृष्टि खुली और उन्होंने देखा कि जिनको वे बाँधने जा रही हैं, उनके शरीर में समग्र ब्रह्माण्ड अधिष्ठित है। डरकर काँपती हुई वे उनकी स्तुति करने लगीं। तब भगवान् ने उन्हें पुनः माया से आवृत किया और एकमात्र वही बालक उन्हें दृष्टिगोचर हुआ।

देवश्रेष्ठ ब्रह्मा को यह विश्वास न हुआ कि परब्रह्म ने ही गोप वालक का रूप धारण किया है। इसलिए परीक्षा के निमित्त एक दिन उन्होंने समस्त गायों को तथा गोप वालकों को चुराकर एक गुफा में निद्रित कर रखा। किन्तु वहाँ से लौटकर उन्होंने देखा कि वे ही गायें तथा गोप वालक कृष्ण के चारों ओर विद्यमान हैं। वे फिर उनको भी चुरा कर ले गये एवं उन्हें भी छिपाकर रखा। किन्तु लौटने पर फिर उन्हें वे ही ज्यों के त्यों दिखायी देने लगे। तव उनके ज्ञान-नेत्र खुले, उन्होंने देखा कि अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड तथा सहस्र सहस्र ब्रह्मा कृष्ण की देह में विराजमान हैं।

कालिय नाग ने यमुना के जल को विषाक्त कर डाला था, इसलिए उन्होंने उसके फन पर नृत्य किया था। उनके रा इन्द्र की पूजा वन्द किये जाने के फलस्वरूप कुपित होकर इन्द्र ने जव इस प्रकार प्रवल वेग से जल वरसाना प्रारम्भ किया कि समस्त व्रजवासी मानो उसमें डूबकर मर जायँगे, तव कृष्ण ने गोवर्धन-धारण किया। कृष्ण ने एक अंगुली से छत्र की तरह गोवर्धन पर्वत को ऊपर उठाकर धारण किया, और उसके नीचे सभी ने आश्रय लिया।

वाल्यकाल से ही वे नाग-पूजा तथा इन्द्र-पूजा के विरोधी थे। इन्द्र-पूजा एक वैदिक अनुष्ठान है। गीता में सर्वत्र यह स्पष्ट है कि वे वैदिक अनुष्ठानों के पक्षपाती नहीं थे।

अपने जीवन में इसी समय उन्होंने गोपियों के साथ लीला की थी! उस समय उनकी आयु ग्यारह वर्ष की थी।

अनुक्रमणिका

स्वामी जी के कथन का सम्पूर्ण मर्म न समझ सकने के कारण वे जब विश्राम-घर में प्रवेश कर रहे थे, तब आगे बढ़कर उनके पास आकर चंडी बाब बोले, "सुन्दर लड़कों की आप क्या बात कर रहे थे?"

स्वामी जी ने कहा, "जिनकी मुखाकृति सुन्दर हो, ऐसे लड़के मैं नहीं चाहता— मैं तो चाहता हूँ, खूब स्वस्थ शरीर, कर्मठ एवं सत्प्रकृतियुक्त कुछ लड़के। उन्हें train करना (शिक्षा देना) चाहता हूँ, जिससे वे अपनी मुक्ति के लिए और जगत् के कल्याण के लिए प्रस्तुत हो सकें।"

और एक दिन जाकर देखा, स्वामी जी टहल रहे हैं, श्रीयुत शरच्चन्द्र चक्रवर्ती ('स्वामी-शिष्य-संवाद' नामक पुस्तक के रचयिता) स्वामी जी के साथ खूब घनिष्ठ भाव से बातें कर रहे हैं। स्वामी जी से एक प्रश्न पूछने की हमें अत्यधिक उत्कण्ठा हुई। प्रश्न यह था——अवतार और मुक्त या सिद्ध पुरुष में क्या अन्तर है? हमने शरत् बाबू से स्वामी जी के सम्मुख इस प्रश्न को उठाने के लिए विशेष अनुरोध किया। अतः उन्होंने स्वामी जी से यह प्रश्न पूछा। हम लोग शरत् बाबू के पीछे पीछे यह सुनने के लिए गये कि देखें, स्वामी जी इस प्रश्न का क्या उत्तर देते हैं। स्वामी जी उस प्रश्न के सम्बन्ध में बिना कोई प्रकट उत्तर दिये कहने लगे, "विदेह-मुक्त ही सर्वोच्च अवस्था है—यही मेरा सिद्धान्त है। जब मैं साधनावस्था में भारत के अनेक स्थानों में भ्रमण कर रहा था, उस समय कितनी निर्जन गुफाओं में अकेले बैठकर कितना समय बिताया है, मुक्ति प्राप्त नही हुई, यह सोचकर कितनी बार प्रायोपवेशन द्वारा देह त्याग देने का भी संकल्प किया है, कितना ध्यान, कितना साधन-भजन किया है! किन्तु अब मुक्ति-लाभ के लिए वह 'विजातीय' आग्रह नही रहा। इस समय तो मन में केवल यही होता है कि जब तक पृथ्वी पर एक भी मनुष्य अमुक्त है, तब तक मुझे अपनी मुक्ति की कोई आवश्यकता नही!"

मैं तो स्वामी जी की उक्त वाणी सुनकर उनके हृदय की अपार करुणा की बात सोचकर विस्मित हो गया और सोचने लगा, इन्होंने क्या अपना दृष्टान्त देकर अवतार पुरुषों का लक्षण समझाया है? क्या ये भी एक अवतार हैं? सोचा, स्वामी जी अब मुक्त हो गये हैं, इसीलिए मालूम होता है, उन्हें अपनी मुक्ति के लिए अब आग्रह नहीं है।

और एक दिन सन्ध्या के बाद मैं और खगेन (स्वामी विमलानन्द) स्वामी जी के पास गये। हरमोहन बाबू (श्री रामकृष्ण देव के भक्त) हम लोगों को स्वामी जी के साथ विशेष रूप से परिचित कराने के लिए बोले, "स्वामी जी, ये दोनों आपके खूब admirers (प्रशंसक) हैं, और वेदान्त का अध्ययन भी

खूब करते हैं।" हरमोहन वावू के वाक्य का प्रथम अंश सम्पूर्ण सत्य होने पर भी, द्वितीयांश कुछ अतिरंजित था, क्योंकि हम लोगों ने उस समय केवल गीता का ही अध्ययन किया था। हम लोगों ने वेदान्त के छोटे छोटे कुछ ग्रन्थ और दो-एक उपनिषदों का अनुवाद एकाध वार देखा था, परन्तु इन सव शास्त्रों की हम लोगों ने विद्यार्थी के समान उत्तम रूप से आलोचना नहीं की थी और न मूल संस्कृत ग्रन्थों को भाष्य आदि की सहायता से पढ़ा था। जो हो, स्वामी जी वेदान्त की वात सुनकर वोल उठे, "उपनिषद् कुछ पढ़ा है?"

मैंने कहा, "जी हाँ, थोड़ा-वहुत देखा है।"

स्वामी जी ने पूछा, "कौन सा उपनिषद् पढ़ा है?"

मैंने मन के भीतर टटोलकर और कुछ न पाकर कह डाला, "कठोपनिषद् पढ़ा है।"

स्वामी जी ने कहा, "अच्छा, कठ ही सुनाओ; कठोपनिषद् खूव grand (सुन्दर) है—कवित्व से भरा है।"

क्या मुसीवत! स्वामी जी ने शायद समझा कि मुझे कठोपनिषद् कण्ठस्थ है, इसीलिए मुझसे सुनाने के लिए कहा। मैंने उसके संस्कृत मंत्रों को यद्यपि एकाध वार देखा था, किन्तु कभी भी अर्थानुसन्धानपूर्वक पढ़ने और मुखाग्र करने की चेष्टा नहीं की थी। सो वड़ी मुश्किल में पड़ गया। क्या करूँ? इसी समय एक वात स्मरण आयी। इसके कुछ वर्ष पहले से ही प्रत्यह नियमपूर्वक थोड़ा थोड़ा गीता का पाठ किया करता था। इस कारण गीता के अधिकांश श्लोक मुझे कण्ठस्थ थे। सोचा, जैसे भी हो, कुछ शास्त्रीय श्लोकों की आवृत्ति यदि न करूँ, तो फिर स्वामी जी को मुँह दिखाते न वनेगा। अतएव वोल उठा, "कठ तो कण्ठस्थ नहीं है—गीता से कुछ सुनाता हूँ।"

स्वामी जी वोले, "अच्छा, वही सही।"

तव गीता के ग्यारहवें अध्याय के अन्तिम भाग से **स्थाने हृषीकेश! तव प्रकीर्त्या** से आरम्भ करके अर्जुनकृत संपूर्ण स्तव स्वामी जी को सुना दिया। स्वामी जी उत्साह देते हुए "वहुत अच्छा, वहुत अच्छा" कहने लगे।

इसके दूसरे दिन मैं अपने मित्र राजेन्द्र घोष के पास गया। उससे मैंने कहा, "भाई, कल उपनिषद् के कारण स्वामी जी के सम्मुख वड़ा लज्जित हुआ। तुम्हारे पास यदि कोई उपनिषद् हो, तो जेव में लेते चलो। यदि कल की तरह उपनिषद् की वात निकालेंगे, तो पढ़ने से ही हो जायगा।" राजेन्द्र के पास प्रसन्नकुमार शास्त्रीकृत ईश-केन-कठ आदि उपनिषद् और उनके वंगानुवाद का एक गुटका संस्करण था। उसे जेव में रखकर हम लोग स्वामी जी के दर्शनार्थ चले। आज

अपराह्न में स्वामी जी का कमरा लोगों से भरा हुआ था। जो सोचा था, वही हुआ। आज भी, यह तो ठीक स्मरण नहीं कि कैसे, पर कठोपनिषद् का ही प्रसंग उठा। मैंने झट जेव से उपनिषद् निकाला और उसे शुरू से पढ़ना आरम्भ किया। पाठ के वीच में स्वामी जी नचिकेता की श्रद्धा की कथा—जिस श्रद्धा के वल से वे निर्भीक चित्त से यम-सदन जाने के लिए भी साहसी हुए थे—कहने लगे। जव नचिकेता के द्वितीय वर स्वर्ग-प्राप्ति की कथा का पाठ प्रारम्भ हुआ, तब स्वामी जी ने उस स्थल को अधिक न पढ़कर कुछ कुछ छोड़कर तृतीय वर का प्रसंग पढ़ने के लिए कहा।

नचिकेता के प्रश्न—मृत्यु के बाद लोगों का सन्देह—शरीर छूट जाने पर कुछ रहता है या नहीं;—उसके बाद यम का नचिकेता को प्रलोभन दिखाना और नचिकेता का दृढ़ भाव से उन सभी का प्रत्याख्यान,—इन सब स्थलों का पाठ हो जाने के बाद स्वामी जी ने अपनी स्वभाव-सुलभ ओजस्विनी भाषा में क्या क्या कहा—क्षीण स्मृति सोलह वर्षों में उसका कुछ भी चिह्न न रख सकी।

किन्तु इन दो दिनों के उपनिषद्-प्रसंग में स्वामी जी की उपनिषद् के प्रति श्रद्धा और अनुराग का कुछ अंश मेरे अन्तःकरण में भी संचरित हो गया, क्योंकि उसके दूसरे ही दिन से जब कभी सुयोग पाता, परम श्रद्धा के साथ उपनिषद् पढ़ने की चेष्टा करता था। और यह कार्य आज भी कर रहा हूँ। विभिन्न समय में उनके श्रीमुख से उच्चरित, अपूर्व स्वर, लय और तेजस्विता के साथ पठित उपनिषद् के एक एक मन्त्र मानो आज भी मेरे कानों में गूँज रहे हैं। जब परचर्चा में मग्न हो आत्म-चर्चा भूल जाता हूँ, तो सुन पाता हूँ—उनके उस सुपरिचित किन्नरकण्ठ से उच्चरित उपनिषद्-वाणी की दिव्य गंभीर घोषणा—

तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः[1]—'एकमात्र उस आत्मा को ही पहचानो, अन्य सब बातें छोड़ दो—वही अमृत का सेतु है।'

जब आकाश में घोर घटाएँ छा जाती हैं और दामिनी दमकने लगती है, उस समय मानो सुन पाता हूँ—स्वामी जी उस आकाशस्थ सौदामिनी की ओर इंगित करते हुए कह रहे हैं—

> न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्।
> नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
> तमेव भान्तमनुभाति सर्वं।
> तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥[2]

---

१. मुण्डकोपनिषद् ॥२।२।५॥ २. कठोपनिषद् ॥२।२।१५॥

—'वहाँ सूर्य भी प्रकाशित नहीं होता—चन्द्रमा और तारे भी नहीं, ये सब विद्युत् भी वहाँ प्रकाशित नहीं होतीं—फिर इस सामान्य अग्नि की भला बात ही क्या? उनके प्रकाशित होने से फिर सभी प्रकाशित होते हैं, उनका प्रकाश इन सबको प्रकाशित करता है।'

पुनः, जब तत्त्वज्ञान को असाध्य जान हृदय हताश हो जाता है, तब जैसे सुन पाता हूँ—स्वामी जी आनन्दोत्फुल्ल हो उपनिषद् की आश्वासन देनेवाली इस वाणी की आवृत्ति कर रहे है—

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥[1]

—'हे अमृत के पुत्रो, हे दिव्यधामनिवासियो, तुम लोग सुनो। मैंने उस महान् पुरुष को जान लिया है, जो आदित्य के समान ज्योतिर्मय और अज्ञानान्धकार से अतीत है। उसको जानने से ही लोग मृत्यु का अतिक्रमण करते हैं—मुक्ति का और दूसरा कोई मार्ग नहीं।'

अस्तु, और एक दिन की घटना का विषय यहाँ पर संक्षेप में कहूँगा। इस दिन की घटना का शरत् बाबू ने 'विवेकानन्द जी के संग में' नामक अपने ग्रन्थ में विस्तृत रूप से वर्णन किया है।

मैं उस दिन दोपहर में ही जा उपस्थित हुआ था। देखा, कमरे में बहुत से गुजराती पण्डित बैठे हैं, स्वामी जी उनके पास बैठकर धाराप्रवाह रूप से संस्कृत भाषा में धर्मविषयक विचार कर रहे है। भक्ति-ज्ञान आदि अनेक विषयों की चर्चा हो रही थी। इसी बीच हल्ला हो उठा। ध्यान देने पर समझा कि स्वामी जी संस्कृत भाषा में बोलते बोलते कोई एक व्याकरण की भूल कर गये। इस पर पण्डित-गण ज्ञान-भक्ति-विवेक-वैराग्य आदि विषय की चर्चा छोड़कर इस व्याकरण की त्रुटि को लेकर, 'हमने स्वामी जी को हरा दिया' यह कहते हुए खूब शोर-गुल मचा रहे हैं और प्रसन्न हो रहे हैं। उस समय श्री रामकृष्ण देव की वह बात याद आ गयी—'गिद्ध उड़ता तो खूब ऊपर है, किन्तु उसकी दृष्टि रहती है मरे पशुओं पर!'

---

१ श्वेताश्वतरोपनिषद् ॥२।५; ३।८॥

जो हो, स्वामी जी किंचित् भी विचलित नहीं हुए और कहा, **पण्डितानां दासोऽहं क्षन्तव्यमेतत्स्खलनम्।** थोड़ी देर के बाद स्वामी जी उठ गये और पण्डितगण गंगा जी में हाथ-मुँह धोने के लिए गये। मैं भी बगीचे में घूमते घूमते गंगा जी के तट पर गया। वहाँ पण्डितगण स्वामी जी के सम्बन्ध में आलोचना कर रहे थे। सुना, वे कह रहे थे—"स्वामी जी उस प्रकार के पण्डित नहीं हैं, परन्तु उनकी आँखों में एक मोहिनी शक्ति है। उसी शक्ति के बल से उन्होंने अनेक स्थानों में दिग्विजय की है।"

सोचा, पण्डितों ने तो ठीक ही समझा है। आँखों में यदि मोहिनी शक्ति न होती, तो क्या यों ही इतने विद्वान्, धनी-मानी, प्राच्य-पाश्चात्य देश के विभिन्न प्रकृति के स्त्री-पुरुष इनके पीछे पीछे दास के समान दौड़ते! यह तो विद्या के कारण नहीं, रूप के कारण नहीं, ऐश्वर्य के भी कारण नहीं—यह सब उनकी आँखों की उस मोहिनी शक्ति के ही कारण है।

पाठकगण! आँखों में यह मोहिनी शक्ति स्वामी जी को कहाँ से मिली, इसे जानने का यदि कौतूहल हो, तो अपने श्री गुरु के साथ उनके दिव्य सम्बन्ध एवं उनके अपूर्व साधन-वृत्तान्त पर श्रद्धा के साथ एक बार मनन करो—इसका रहस्य ज्ञात हो जायगा।

सन् १८९७, अप्रैल मास का अन्तिम भाग। आलमबाजार मठ। अभी चार-पाँच दिन ही हुए हैं, घर छोड़कर मठ में रह रहा हूँ। पुराने संन्यासियों में केवल स्वामी प्रेमानन्द, स्वामी निर्मलानन्द और स्वामी सुबोधानन्द हैं। स्वामी जी दार्जिलिंग से आये—साथ में स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी योगानन्द, स्वामी जी के मद्रासी शिष्य आलासिंगा पेरुमल, किडी और जी० जी० आदि हैं।

स्वामी नित्यानन्द, कुछ दिन हुए, स्वामी जी द्वारा संन्यासव्रत में दीक्षित हुए हैं। इन्होंने स्वामी जी से कहा, "इस समय बहुत से नये नये लड़के संसार छोड़कर मठवासी हुए हैं, उनके लिए एक निर्दिष्ट नियम से शिक्षा-दान की व्यवस्था करना अत्युत्तम होगा।"

स्वामी जी उनके अभिप्राय का अनुमोदन करते हुए बोले, "हाँ, हाँ, नियम बनाना तो अच्छा ही है। बुलाओ सभी को।" सब आकर बड़े कमरे में जमा हुए। तब स्वामी जी ने कहा, "कोई एक व्यक्ति लिखना शुरू करो, मैं बोलता जाता हूँ।" उस समय सब एक दूसरे को ठेलकर आगे करने लगे—कोई अग्रसर नहीं होना चाहता था, अन्त में मुझे ढकेलकर आगे कर दिया। उस समय मठ में लिखाई-पढ़ाई के प्रति साधारणतया एक प्रकार की उपेक्षा थी। यही धारणा प्रबल थी कि साधन-भजन करके भगवान् का साक्षात्कार करना ही एकमात्र सार है; लिखने-पढ़ने से तो मान और यश की इच्छा होती है। जो भगवान् के द्वारा

आदिष्ट होकर प्रचार-कार्य आदि करेंगे, उनके लिए भले वह आवश्यक हो, पर साधकों के लिए तो उसका कोई प्रयोजन नहीं है, उलटे वह हानिकारक ही है। जो हो, मैं पहले ही कह चुका हूँ कि स्वभाव से मैं जरा forward (अग्रिम) और लापरवाह हूँ—मैं अग्रसर हो गया। स्वामी जी ने एक बार आकाश की ओर देखकर पूछा, "यह क्या रहेगा?" (अर्थात् क्या मैं ब्रह्मचारी होकर वहाँ रहूँगा, अथवा दो-एक दिन मठ में घूमने के लिए ही आया हूँ और बाद में चला जाऊँगा।) संन्यासियों में से एक ने कहा, "हाँ।" तब मैंने काग़ज़-क़लम आदि ठीक से लेकर गणेश का आसन ग्रहण किया। नियम लिखाने से पहले स्वामी जी कहने लगे, "देखो, हम ये सब नियम बना तो रहे है, किन्तु पहले हमें समझ लेना होगा कि इन नियमों के पालन का मूल लक्ष्य क्या है। हम लोगों का मूल उद्देश्य है—सभी नियमों से परे होना। तो भी, नियम बनाने का अर्थ यही है कि हममें स्वभावतः बहुत से कुनियम हैं—सुनियमों के द्वारा उन कुनियमों को दूर कर देने के बाद हमें सभी नियमों से परे जाने की चेष्टा करनी होगी। जैसे काँटे से काँटा निकालकर अन्त में दोनों ही काँटों को फेंक दिया जाता है।"

उसके बाद स्वामी जी ने नियम लिखाने प्रारम्भ किये। प्रातःकाल और सायंकाल जप-ध्यान, मध्याह्न विश्राम के बाद स्वस्थ होकर शास्त्र-ग्रन्थों का अध्ययन और अपराह्न सबको मिलकर एक अध्यापक के निकट किसी निर्दिष्ट शास्त्र-ग्रन्थ का श्रवण करना होगा—यह व्यवस्था हुई। प्रत्येक दिन प्रातः और सायं थोड़ा थोड़ा 'डेल्सर्ट' व्यायाम करना होगा, यह भी निश्चित हुआ। अन्त में लिखाना समाप्त कर स्वामी जी ने कहा, "देख, इन नियमों को जरा देख-भालकर अच्छी तरह प्रतिलिपि करके रख ले—देखना, यदि कोई नियम negative (निषेध-वाचक) भाव से लिखा गया हो, तो उसे positive (विधिवाचक) कर देना।"

इस अन्तिम आदेश का पालन करते समय हमें ज़रा कठिनाई मालूम हुई। स्वामी जी का उपदेश था कि किसीको खराब कहना, उसके विरुद्ध आलोचना करना, उसके दोष दिखाना, उससे 'तुम ऐसा मत करो, वैसा मत करो' कहकर negative (निषेधात्मक) उपदेश देना—इस सबसे उसकी उन्नति में विशेष सहायता नहीं होती, किन्तु उसको यदि एक आदर्श दिखा दिया जाय, तो फिर उसकी उन्नति सरलता से हो सकती है, उसके दोष अपने आप चले जाते हैं। यही स्वामी जी का अभिप्राय था।

४

आज अपराह्न में बड़ा कमरा लोगों से भरा हुआ है। स्वामी जी उनके बीच

अपूर्व शोभा धारण कर बैठे हुए हैं। अनेक प्रसंग चल रहे हैं। वहाँ हम लोगों के मित्र विजयकृष्ण वसु (आजकल अलीपुर अदालत के विख्यात वकील) महाशय भी उपस्थित हैं। उस समय विजय बाबू समय समय पर अनेक सभाओं में और कभी कभी कांग्रेस में खड़े होकर अंग्रेज़ी में व्याख्यान दिया करते थे। उनकी इस व्याख्यान-शक्ति का उल्लेख किसीने स्वामी जी के समक्ष किया। इस पर स्वामी जी ने कहा, "सो वहुत अच्छा है। अच्छा, यहाँ पर वहुत से लोग एकत्र हैं—ज़रा खड़े होकर एक व्याख्यान तो दो, soul (आत्मा) के सम्बन्ध में तुम्हारी जो idea (धारणा) है, उसी पर कुछ कहो।" विजय बाबू अनेक प्रकार के वहाने बनाने लगे। स्वामी जी एवं और भी वहुत से लोग उनसे खूब आग्रह करने लगे। १५ मिनट तक अनुरोध करने पर भी जब कोई उनके संकोच को दूर करने में सफल नहीं हुआ, तब अन्ततोगत्वा हार मानकर उन लोगों की दृष्टि विजय बाबू से हटकर मेरे ऊपर पड़ी। मैं मठ में सहयोग देने से पूर्व कभी कभी धर्म के सम्बन्ध में बंगला भाषा में व्याख्यान देता था, और हम लोगों का एक 'डिवेटिंग क्लब' (वाद-विवाद समिति) भी था—उसमें अंग्रेज़ी बोलने का अभ्यास करता था। मेरे सम्बन्ध में इन सब बातों का किसीने उल्लेख किया ही था कि बस, मेरे ऊपर बाज़ी पलटी। पहले ही कह चुका हूँ, मैं वहुत कुछ लापरवाह सा था। Fools rush in where angels fear to tread. (जहाँ देवता भी जाने में भयभीत होते हैं, वहाँ मूर्ख घुस पड़ते हैं।) मुझसे उन्हें अधिक कहना नहीं पड़ा। मैं एकदम खड़ा हो गया और बृहदारण्यक उपनिषद् के याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद के अन्तर्गत आत्म-तत्त्व को लेकर आत्मा के सम्बन्ध में लगभग आध घंटे तक जो मुँह में आया, बोलता गया। भाषा या व्याकरण की भूल हो रही है अथवा भाव का असामंजस्य हो रहा है, इस सबका मैंने विचार ही नहीं किया। दया के सागर स्वामी जी मेरी इस चपलता पर थोड़ा भी विरक्त न हो मुझे उत्साहित करने लगे। मेरे बाद स्वामी जी द्वारा अभी अभी संन्यासाश्रम में दीक्षित स्वामी प्रकाशानन्द[1] लगभग दस मिनट तक आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में बोले। वे स्वामी जी की व्याख्यान-शैली का अनुकरण कर बड़े गम्भीर स्वर में अपना वक्तव्य देने लगे। उनके व्याख्यान की भी स्वामी जी ने खूब प्रशंसा की।

---

१. ये सैन फ़्रांसिस्को (यू० एस० ए०) की वेदान्त-समिति के अध्यक्ष थे। अमेरिका में इनका कार्य-काल १९०६ ई० से १९२७ ई० तक था। ८ जुलाई, सन् १८७४ को कलकत्ते में इनका जन्म हुआ था एवं १३ फ़रवरी, १९२७ ई० को सैन फ़्रांसिस्को की वेदान्त-समिति में इनका देहान्त हुआ। स०

अहा! स्वामी जी सचमुच ही किसीका दोष नहीं देखते थे। वे, जिसमें जो भी कुछ गुण या शक्ति देखते, उसीके अनुसार उसे उत्साह देकर, जिससे उसके भीतर की अव्यक्त शक्तियाँ प्रकाशित हो जायँ, इसीकी चेष्टा करते थे। किन्तु, पाठक, आप लोग इससे ऐसा न समझ बैठें कि वे सबको सभी कार्यों में प्रश्रय देते थे। क्योंकि अनेक बार देख चुका हूँ, लोगों के, विशेषतः अपने अनुगामी गुरु-भ्राता और शिष्यों के, दोष दिखलाने में समय समय पर वे कठोर रूप भी धारण करते थे। किन्तु वह हम लोगों के दोषों को हटाने के लिए—हम लोगों को सावधान करने के लिए ही होता था, हमें निरुत्साह करने या हम लोगों के समान केवल परछिद्रान्वेषण वृत्ति को सार्थक करने के लिए नहीं। ऐसा उत्साह और भरोसा देनेवाला हम अब और कहाँ पायेंगे? कहाँ पायेंगे ऐसा व्यक्ति, जो शिष्यवर्ग को लिख सके, "I want each one of my children to be a hundred times greater than I could ever be. Everyone of you must be a giant—*must*, that is my word."—'मैं चाहता हूँ कि तुम लोगों में से प्रत्येक, मैं जितना हो सकूँ, तदपेक्षा सौगुना बड़ा होवे। तुम लोगों में से प्रत्येक को आध्यात्मिक दिग्गज होना पड़ेगा—होना ही होगा, न होने से नहीं बनेगा।'

५

इसी समय स्वामी जी द्वारा इंग्लैण्ड में दिये गये ज्ञानयोग सम्बन्धी व्याख्यानों को लन्दन से ई० टी० स्टर्डी साहब छोटी छोटी पुस्तिकाओं के आकार में प्रकाशित करने लगे। मठ में भी उनकी एक एक दो दो प्रतियाँ आने लगीं। स्वामी जी उस समय दार्जिलिंग से नहीं लौटे थे। हम लोग विशेष आग्रह के साथ अद्वैत तत्त्व के अपूर्व व्याख्यारूप, उद्दीपना से भरे उन व्याख्यानों को पढ़ने लगे। वृद्ध स्वामी अद्वैतानन्द अंग्रेज़ी अच्छी तरह नहीं जानते थे, किन्तु उनकी यह विशेष इच्छा थी कि नरेन्द्र ने वेदान्त के सम्बन्ध में विलायत में क्या कहकर लोगों को मुग्ध किया है, यह सुनें। अतः उनके अनुरोध से हम लोग उन्हें उन पुस्तिकाओं को पढ़कर, उनका अनुवाद करके सुनाने लगे। एक दिन स्वामी प्रेमानन्द नये संन्यासियों और ब्रह्मचारियों से बोले, "तुम लोग स्वामी जी के इन व्याख्यानों का बंगला अनुवाद करो न।" तब हममें से कई लोगों ने अपनी अपनी इच्छानुसार उन पुस्तिकाओं में से एक एक को चुन लिया और उनका अनुवाद करना आरम्भ कर दिया। इसी बीच स्वामी जी लौट आये। एक दिन स्वामी प्रेमानन्द जी स्वामी जी से बोले, "इन लड़कों ने आपके व्याख्यानों का अनुवाद करना प्रारम्भ कर दिया है।" बाद में हम लोगों को लक्ष्य करके कहा, "तुम लोगों में से कौन क्या अनुवाद कर रहा है, यह स्वामी जी